तत्त्वभावना

(बृहत सामायिक पाठ)

अन्वयार्थ, विस्तृत टीका व छन्द सहित

टीकाकार

श्री ब्र० शीतल प्रसाद जी

सम्पादन :

महावीर प्रसाद जैन सर्राफ १३२५ चांदनीचौक, दिल्ली

प्रकाशक :

बिशम्बर दास महावीर प्रसाद जैन सर्राफ

१३२५, चांदनी चौक, दिल्ली-६

तृतीय वृत्ति २४-२-१९९२ फागुन बदी ७ वि. सं. २०४८

प्रस्तावना

सम्प्रत्यस्ति न केवली किल कलौ त्रैलोक्य चूड़ामणि-
स्तद्वाचः परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्योतिका।
सद्रत्नत्रयधारिणो यति वरास्तेषां समालम्बनं,
तत्पूजा जिनवाचिपूजनं मतः साक्षाज्जिनः पूजितः॥

॥ पद्मनन्दी पं० ॥

वर्तमान कलिकाल में तीन लोक के पूज्य केवली भगवान जो राग-द्वेष से रहित ध्यान में लीन, समस्त पदार्थों के ज्ञाता और कर्ममल रहित है, जीवों को संसार पार उतारनेमें निमित्त हैं इस भरतक्षेत्र में साक्षात् नहीं हैं तथापि समस्त भरतक्षेत्र में जगत्प्रकाशिनी केवली भगवान् की वाणी मौजूद है तथा उस वाणी के आधार स्तम्भ श्रेष्ठ रत्नत्रधारी मुनि भी हैं जो समस्त विषयों, आशाओं और आरम्भ से रहित होते हैं, सदैव ध्यान अध्ययन में रहते हैं, जिन भगवान् की आज्ञा में चलने वाले हैं सच्चे गुरु हैं इसीलिए उन मुनियों की पूजन तो सरस्वती का पूजन है तथा सरस्वती का पूजन साक्षात् केवली भगवान् का पूजन है।

तीर्थंकर देव द्वारा प्रत्यक्ष देखी गई, दिव्यध्वनि में प्रस्फुटित तथा गणधर द्वारा गुन्थित वह महान् आचार्यों द्वारा प्रसारित जिनवाणी की रक्षा हो इसी उद्देश्य से—

बिशम्बर दास महावीर प्रसाद जैन सर्राफ १३२५, चाँदनी चौक, देहली-६ ने स्व० पूज्य ला० बिशम्बर दास जी जैन, श्रीमती केसर देवी जैन, श्रीमती सुन्दरी देवी जैन, श्रीमती जैनो देवी जैन एवं श्रीमती बिमला देवी जैन की पुण्य स्मृति में फरवरी १९९२ में श्री अमितगति आचार्यकृत तत्त्वभावना ग्रन्थ प्रकाशित कराया।

अब फरवरी १९९२ में श्री अमितगति आचार्य विरचित 'तत्त्वभावा' बृहद् सामायिक पाठ प्रकाशित करा रहे हैं ताकि स्वाध्याय प्रेमी बन्धु आत्म कल्याण कर सकें।

मालवा प्रान्त के राजा मुंज के गुरु आचार्य माधव सेन के शिष्य आ० नेमी सेन के परम शिष्य श्री १०८ आचार्य अमित-गति ने 'तत्त्वभावना' अर्थात् बृहद् सामायिक पाठ १२० श्लोकों में रचा और छोटा सामायिक पाठ अर्थात् भावना द्विंत्रिंशिका ३२ श्लोकों में रची। आप ११वीं शताब्दी के महान् विद्वान् कवि एवं वीतरागी संत थे। आपके रचे हुए ७ ग्रंथ प्राप्त हैं। १. सुभाषित रत्नसंदोह वि. सं. १०५०; २. धर्म परीक्षा वि. सं. १०७०; ३. पंचसंग्रह वि. सं. १०७३ में रचे थे; ४. उपा-सकाचार, ५. आराधना, ६. सामाजिक पथ, ७. भावना द्वि-त्रिंशिका एवं तत्त्वभावना।

प्रस्तुत ग्रंथ 'तत्त्वभावना' वैराग्य और आत्मज्ञान का भंडार है। इसका हिन्दी पद्यानुवाद एवं टीका ब्र० शीतलप्रसाद जी ने ४-१०-१९२८ असौज बदी ५ गुरुवार वीर सं. २४५४ वि. सं. १९८५ में रोहतक चातुर्मास में की थी। आपके लिखे एवं अनु-वाद किये लगभग १०० ग्रंथ हैं। सभी सारभूत एवं आध्यात्मिक हैं। ब्र० जी का जन्म वि. सं. १९४५ में हुआ था। आप ३२ वर्ष की आयु में गृह त्याग कर जिनवाणी का प्रचार-प्रसार अन्तिम समय तक करते रहे।

प्रथम बार यह ग्रंथ श्री मूलचंद किशनचंद कापड़िया ने सूरत से प्रकाशित कराया था। द्वितीय वृत्ति आचार्य देशभूषण जी ने जनवरी १९७३ में दिल्ली से प्रकाशित कराई। ग्रंथराज अप्राप्य होने की वजह से तृतीय वृत्ति प्रकाशित की जा रही है।

जो अगणित संसार के दुःखों से छुटाकर अनन्त सुख स्वरूप

मोक्ष में ले जाकर रखे, परमानन्दमय सुख का रसास्वादन करावे वो ही वास्तविक धर्म है। अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त जैन संस्कृति की मूल आत्मा है। यही जिनवाणी का सार भी है। भगवान् जिनेन्द्र देव ने सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का मूल कारण सम्यग्दर्शन को ही कहा है वो ही मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी है धर्म का बीज है। पांचों इन्द्रियों का दमन सिवाय सम्यग्ज्ञान के दूसरे से नहीं हो सकता है। प्राय: आज के आध्यात्मिक वक्ता, एकान्तवादी एवं निश्चयाभासी ये भूल जाते हैं कि सम्यक्चारित्र के बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान मोक्ष प्राप्त कराने में असमर्थ हैं। "जायन शुद्धोपयोग पावत नाहीं मनोग, तावत ही करन योग कही पुण्य करनी।" धूप से छाँव में बैठना सुखद है। व्रत, उपवास, व्यवहार, चारित्र पालन कर नरक निगोद से बचना श्रेष्ठ है। मुझे तत्वज्ञान है समस्त इन क्रियाओं को छोड़कर मात्र अध्यात्म का ऊपर से गुणगान करेगा तो इधर का रहेगा ना उधर का और अनन्तों सागर दुःख उठाना पड़ेगा। समस्त शुभ क्रियाएं तो छोड़ने योग्य हैं ही नहीं किन्तु उन्हें धर्म मानना गलत है। शुद्धोपयोग की अवस्था में स्वतः छूट जाती हैं छोड़ना नहीं पड़ता है।

सम्यग्दर्शन रूपी हार को अपने हृदय में धारण करके, ज्ञानरूपी कुण्डलों को अपने दोनों कानों में पहनकर और चारित्ररूपी मुकुट को अपने मस्तक पर धारण करना चाहिए। ये तीनों रत्न ही मोक्षरूपी लक्ष्मी को वश करने में कारण है। व्यवहार रत्नत्रय भी निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति में मुख्य निमित्त है परन्तु जब तक चित्त में बाह्य क्रियाओं की चिन्ता का समावेश रहेगा तब तक कभी भी रत्नत्रय का पालन नहीं हो सकता। यह विषयकषाय रागादि भावों से रहित है, मोक्ष प्रदान करने वाला है। ये ध्यान के द्वारा जाना है वीतरागी मुनियों के ही होता है

रागियों के नहीं। अपनी निजी आत्मा ही तीन लोक का नाथ है अनन्त अविनाशी गुणों का समुद्र है। ध्यान मार्ग से उसका स्वरूप जाना जाता है एवं जिस प्रकार समस्त कर्मों से रहित सिद्धों का स्वरूप शुद्ध है उसी प्रकार हमारी आत्मा भी द्रव्य-दृष्टि से शुद्ध है इस प्रकार अपने अन्तरंग परमात्मामें जो श्रद्धान होना है वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। उत्कृष्ट आत्मा ही ज्ञान है, जो स्वसंवेदन स्वरूप आत्मा का ज्ञान करना है वही निश्चय सम्यग्ज्ञान है। यह निजात्मा सम्यक्चारित्र स्वरूप है। अन्तरंग में ध्यान के द्वारा जो स्वयं अपना आचरण करना है वही निश्चय चारित्र है। " पर द्रव्यन तैं भिन्न आप में रुचि सम्यक्त भला है, आप रूप को जानपनो सो सम्यक्ज्ञान कला है। आप रूप में लीन रहे थिर सम्यक्चारित्र सोई।" ऐसा ध्यान वीतरागी मुनियों के ही मुख्य रूप से सम्भव है। मात्र आत्मा आत्मा कह-कर परिग्रह के संचय में लिप्त रहने वालों के नहीं। जो ज्ञानी चैतन्य स्वरूप उत्कृष्ट आत्मा-परमात्मा का ध्यान करते हैं उनके ध्यानरूपी अग्नि से अनन्ते कर्म पिंड देखते-२ भस्म हो जाते हैं।

अनादि काल से यह जीव चार गतियों और चौरासी लाख योनियों में जन्म मरण के दुःखों को उठा रहा है लेकिन इसके दुःखों का अन्त नहीं आया। सभी जीव सुख चाहते हैं लेकिन सुख का उपाय कोई नहीं करना चाहता। अनन्तों सागर निगोद में रहकर मात्र दो हजार सागर कुछ अधिक के लिए त्रस पर्याय प्राप्त होती है जिसमें १६ भव पुरुष, १६ भव स्त्री एवं १६ भव नपुंसक पर्याय के प्राप्त होते हैं यदि इसमें अष्ट कर्मों का विनाश करके मोक्ष की प्राप्ति नहीं की तो फिर अनन्तों सागर तक निगोद में जाना पड़ता है।

"यह मानुष पर्याय सुकुल सुनिवो जिनवाणी" ऐसा सब कुछ प्राप्त करके भी भविष्यत के अनन्तों भवों का नाश इस पर्याय

में करने का भाव लेकर कब मैं निर्ग्रंथ मुनि बनूं समाधि मरण करूँ, ऐसा भाव न आया तो जन्म निरर्थक होगा।

श्रावकों के अष्ट मूल धारण करके, देव दर्शन, श्री जी का प्रक्षाल, पूजा पाठ, जाप, स्वाध्याय, सामायिक, व्रत, उपवास, तीर्थयात्रा, दान, मुनि समागम, प्राणीमात्र पर करुणा का भाव ऐसा करते हुवे निम्न कार्यों का त्याग करना चाहिए। सप्त व्यसन—मद्य, मांस, मधु, अण्डा, जिमीकन्द, रात्रि भोजन, २२ अभक्ष्य, चाँदी व सोने का वर्क, होटल में जाना वहां जाकर खाना, रात्रि की शादी में जाना, रात्रि को शादी करना-कराना, अनछना पानी पीना, पाँच पाप इत्यादि। निरन्तर महाव्रती बनने की भावना रक्खे और अन्त में समता भावपूर्वक समाधि-मरण करूँ ऐसी भावना हमेशा भावे।

मैं किसी का भला बुरा कर सकता हूँ या कोई मेरा कर देगा ऐसा कर्तृत्व भाव न लावे। कोई देवता मेरा भला बुरा कर सकता है, मैं कुटुम्ब का पालन करता हूँ, चेतन स्त्री, पुत्र कुटुम्बी अचेतन धन, मकान, परिग्रह से राग द्वेष मोह घटावे, मिथ्यात्व का सर्वथा त्याग करे—त्रिकाली ध्रुव अजर अमर आत्मा एकाकी है अपनी है बाकी समस्त पदार्थ, मेरा शरीर भी पर है ऐसा दृढ़ विश्वास लाकर अहंकार ममकार का त्याग करे। "जीव जुदा पुद्गल जुदा, याही तत्व को सार। सब ग्रन्थों में पढ़ लीजिए, है याही को विस्तार।" "लाख करोड़ ग्रन्थन को सार, भेद ज्ञान और दया विचार।" जब शरीर भी मुझसे भिन्न है तो फिर बाकी सभी पदार्थ तो साक्षात् भिन्न दिख ही रहे हैं।

इस जगत का बनाने वाला, पालन हारा, विनाश करने वाला कोई ईश्वर नहीं है। जगत अनादि निधन है। अपने स्वयं के किये कर्मों के अनुसार जीवों को सुख-दुःख भोगना पड़ता है। इन सभी बातों का वर्णन अमितगति आचार्य ने बहुत ही सुन्दर

रूप में किया है। मोक्ष प्राप्ति का सरल उपाय ध्यान का विशेष वर्णन इसमें लिखा है। "निज को निज में जान, पर को पर में मान। तेरा आतम है परमातम, और सभी पर मान।"

कर्मों की निर्जरा का एक मात्र उपाय समाधि, एकाकीपन, निसंगता, आत्मा के सन्मुख होना, आत्मा में रमणता या ब्रह्मचर्य, स्व में रमण या स्वाध्याय, साम्यभाव, सिद्धि, स्वात्मोपलब्धि, आत्मलीनता, चित्त की स्थिरता, सामायिक, ध्यान इत्यादि सभी पर्यायवाची शब्द हैं। महाव्रती के लिए तो इनकी विशेष प्रमुखता है ही किंतु श्रावकों का भी २ या ३ बार अवश्य करने को कहा है ताकि आगे जाकर सरलता से आत्म कल्याण कर सकें। कर्मों की निर्जरा होकर मोक्ष प्राप्ति का ये ही उपाय है। सामायिक में प्राणी मात्र से दोषों की क्षमा माँगकर, क्षमा करके, अचल आसन, समय की पाबन्दी, राग द्वेष मोह का त्याग करके संकल्प-विकल्प को छोड़कर शरीर को पड़ोसी समझ कर अन्दर जो चैतन्य स्वरूप ज्ञाता दृष्टा परमात्मा विराजमान है अर्थात् शरीररूपी देवालय में जो मेरा आत्मा भगवान स्वरूप है उसको सबसे एकाकी अनुभव करना है वो देखने दिखाने की चीज नहीं, अतीन्द्रिय है, सिर्फ अनुभवगम्य है और अनुभव भी पर से विरक्त हुवे बिना नहीं होगा। कुछ भी काम करते हुए, प्रत्येक क्रिया को हमारी कोई अन्दर अनुभव कर रहा है वो ही मेरा परमातम-स्वरूप आत्मा है। सेठ के यहाँ लाखों करोड़ों का व्यापार करता हुआ मुनीम उस धन की लाभ-हानि से विरक्त है। लड़की की सगाई पक्की होने पर लड़की भी माँ-बाप के घर को पर मानने लगती है। इसी प्रकार ज्ञानीजन शरीर से भी विरक्त रहते हैं।

कहते हैं संसार में शरण नहीं। वो पर्याय की अपेक्षा है। यदि पंचपरमेष्ठी की शरण लेकर अपनी आत्मा का शरण लिया

जावे तो अनादि का जन्म मरण का रोग मिट जावे। "शुद्धात्म और पंचगुरु जग में शरणा दो।" जितने भी सिद्ध हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे, इसी उपाय से हुए हैं।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति चारों गतियों में हो सकती है किंतु संयम धारण मात्र मनुष्य पर्याय में ही हो सकता है अतः संयम मुख्य है। सर्वार्थ सिद्धि के देव भी जो निरन्तर ३३ सागर तक उत्कृष्ट धार्मिक चर्चा में ही लगे रहते हैं संयम धारण नहीं करने के कारण मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाते सोचते हैं कब मनुष्य पर्याय पावें, मुनिव्रत धारण करके तप द्वारा ध्यानाग्नि में कर्मों को विनष्ट करके मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति करें।

पद्मनंद मुनि ने परमार्थविंशति में आत्मध्यान व आत्मतत्व में एकाग्र होने की भावना बताई है—

देव तत्प्रतिमा गुरु मुनि जनं शास्त्रादि मन्य महे।
सर्वं भक्तिपरा वयं व्यवहृतो मार्गं स्थिता निश्चयात्॥
अस्माकं पुनरेकताश्रयणतो व्यक्तीभवच्चिद् गुण-
स्फारी भूतमति प्रबंध महसामात्मैव तत्वं परम्॥१३॥

जब हम व्यवहार मार्ग में चलते हैं तब हम श्री जिनेन्द्र देव उनकी प्रतिमा, जिनगुरु व साधुजन तथा शास्त्रादि सबकी भक्ति करते हैं परन्तु हम जब निश्चयमार्ग में जाते हैं तब प्रगट चैतन्य गुण से झलकती हुई भेदविज्ञान की ज्योति जल जाती है उस समय हम एक भाव में लय हो जाते हैं तब हमको उत्कृष्ट तत्व एक आत्मा ही अनुभव में आता है अर्थात् जहाँ शुद्ध आत्मा के सिवाय अन्य कुछ अनुभव में न आवे वही निर्मल आत्मध्यान है।

जिनके भीतर ज्ञान अग्नि बढ़ती सम्यक्त की पवन से।
ईंधन कर्म जलाय, दोष मल सब कर दूर निज रमण से॥६५

सम्यक्त्व ज्ञानवृत्तत्रय ममधर्मूते ज्ञान मार्गेण मूढा।
लंघित्वा जन्मदुर्गं निरुपमितं सुखा ये यियासंति सिद्धि।

ते शिश्रोषन्ति नूनं निजपुरमुदधिं बाहुयुग्मेन तीर्त्वा।
कल्पांतोद्भूतवातक्षुभितजलचरासारकीर्णान्तरालम् ॥६१॥

मोक्ष का उपाय रत्नत्रय की एकता है। मार्ग को जान लेने मात्र से ही कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। जो ऐसा मानते हैं कि हमने आत्मा को पहचान लिया है अब हमें कुछ भी चारित्र पालने की आवश्यकता नहीं हम चाहे पाप करें या पुण्य करें हमें बन्ध नहीं होगा वे ऐसे मूढ़ ही हैं जैसे वे लोग मूर्ख हैं जो अपनी भुजा से समुद्र पार कर-कर, चले जायेंगे जो कल्पकाल की घोर पवन से डांवाडोल है जिसमें अनेक मगरमच्छ भयानक जंतु हैं।

सम्यग्दर्शन सम्यक्ज्ञान सम्यक्चारित्र तीनों की एकता की जरूरत है। जैसे व्यापार करना है तो पहले रीतियों को समझते हैं, विश्वास लाते हैं फिर जब उस विश्वास सहित ज्ञान के अनुसार उद्योग करता है तभी व्यापार व पैसे का फल पा सकता है।

अमितगति महाराज ने सुभाषित रत्नसंदोह में कहा है—

सद्दर्शनज्ञान तपोदमाढ्यश्चारित्र भाजः सफलाः समस्ताः।
व्यर्थाश्चरित्रेण बिना भवन्ति ज्ञात्वेह सन्तश्चरिते यतन्ते ॥२४२

सम्यक्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा तप व इन्द्रिय दमन सहित जो जीव चारित्र को पालन करने वाले हैं वे सर्व ही सफलता को पा लेते हैं क्योंकि चारित्र के बिना उन सबका होना व्यर्थ है। तीनों की एकता से जो भाव पैदा होता है उसे स्वानुभव कहते हैं।

जहां श्रद्धान ज्ञान सहित आत्मस्वरूप में रमणता होती है वहीं स्वानुभव या आत्मध्यान पैदा होता है। यही ध्यान मोक्ष का मार्ग है, कर्मों की निर्जरा करके आत्मा को शुद्ध करता है। इसलिए मात्र जानने से ही कार्य बनेगा इस बुद्धि को दूर कर श्रद्धान व ज्ञान सहित चारित्र को पालना चाहिए। मन को

निराकुल करने के लिए श्रावक या मुनि का चारित्र पालन करना ही चाहिए—

१	२	३
सम्यक्‌दर्शनरूपी नौका/	सम्यग्ज्ञानरूपी जल/	सम्यक्‌चारित्र रूपी— खिवैया तभी भवसागर से तिरोगे।
विश्वास	रीति समझना	व्यापार करना
मन	वचन	काय

मौत के मुंह में हूँ और मेरी उम्र क्षण भर भी नहीं है ऐसा सोचकर मनुष्य को यथा सम्भव जप, तप, संयम, स्वाध्याय, पूजा, दानादि का आचरण करते रहना चाहिए।

सारांश में ध्यान ही मुक्ति का कारण है!

जो शरीर इन्द्रिय मन और वचन में आत्मबुद्धि/ममकार व अहंकार बुद्धि रखता है वह बहिरात्मा आत्मविमुख ध्यान करने में असमर्थ है।

जो शरीर व आत्मा में भेद करता हुआ सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र से युक्त होकर प्रमाण, नय और निक्षेप के आश्रय से जीवादि नौ पदार्थों, सात तत्त्वों, छह द्रव्यों और पांच अस्तिकायों के साथ शरीर व आत्मा के भेद को जानता है अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह रहित ऐसा अन्तरात्मा ही परमात्मा के ध्यान में समर्थ होता है।

सम्यग्ज्ञानी जीव के मोह क्षोभ से रहित बाह्य और अभ्यन्तर क्रियाओं का निरोध ही साम्यभाव/सम्यक्‌चारित्र है जो मुक्ति का साक्षात् मार्ग है।

ध्यान के चार प्रकार में—१. आर्तध्यान, २. रौद्रध्यान

दोनों चार-चार प्रकार के हैं संसार के कारण हैं, त्याज्य हैं, क्रमशः तिर्यंच गति नरक गति को ले जाने वाले हैं। ३. धर्म-ध्यान स्वर्ग का कारण है परम्परा से मोक्ष का, पंचम काल में हो सकता है। ये आज्ञा विचय, विपाक विचय, अपाय विचय, संस्थान विचय ४ प्रकार का है—१. पिण्डस्थ, २. पदस्थ, ३. रूपस्थ, ४. रूपातीत के भेद से भी चार प्रकार का है।

पिण्डस्थ की पृथ्वी अग्नि जल आदि ५ धारणाओं एवं ध्यान का समस्त विषय सचित्र पेज ३१२ से आचार्य श्री ने बहुत ही अच्छा वर्णन किया है। चित्रों को देखकर अभ्यास करने से सरलता से ध्यान मार्ग में प्रवृत हो सकते हैं। ४. शुक्लध्यान इस पंचम काल में नहीं होता है साक्षात् मुक्ति का कारण है।

सभी साधर्मी जन इस ग्रन्थराज का स्वाध्याय कर आत्म-कल्याण करें इसी शुभ भावना के साथ।

२४-२-१९९२ सोमवार
फागुन बदी ७ सं० २०४८
श्री चन्दा प्रभु जी ज्ञानकल्याणक
एवं
श्री सुपार्श्वनाथ जी निर्वाण कल्याणक

विनीत :
जिन चरण सेवक
महावीर प्रसाद जैन सर्राफ
१३२५, चाँदनी चौक
देहली

श्री अमितगति आचार्यकृत-

तत्वभावना

या

बड़ा सामायिक पाठ।

मङ्गलाचरण-दोहा।

अर्हत्सिद्धाचार्यको, वंदि साधु गुणदाय।
निजवाणी वृष चैत्यजिन, मंदिर नमूं सुध्याय ॥१॥
परमातम सम आपको, ध्याय सुगुण उर लाय।
समताभाव प्रकाशके, आतम सुख झलकाय ॥२॥
सामायिकके भावको, कर प्रकाश निज ज्ञान।
भव्यजीव भी रस पियें, यह उपकार पिछान ॥३॥
अमितिगती आचार्यकृत, तत्त्वभावना सार।
बालबोध भाषा करूं, भवदधि तारणहार ॥४॥
सन्मति वीर सुवीरको, वर्द्धमान महावीर।
गौतम गुरु कुन्दादिको, सुमरौं लिय धरि धीर ॥५॥

उत्थानिका—पहले ही चलने में जो हिंसा हुई उसका पश्चात्ताप करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित छन्द

एकद्वित्रिहृषीकवत्प्रभृतयो ये पंचधावस्थिताः ।
जीवाः संचरता मया दशदिशश्चित्तप्रमादात्मना ॥
ते ध्वस्ता यदि लोढिता विघटिताः संघट्टिता मोटिताः ।
मार्गालोचनमोचिना जिन ! तदा मिथ्यास्तु मे दुष्कृतम् ॥१॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (चित्तप्रमादात्मना) प्रमाद या आलस्य या असावधानता या कषाय सहित चित्तको करके (मार्गालोचनमोचिना) मार्ग या पथको देखना छोड़कर (दशदिशःसंचरता) पूर्वादि दश दिशाओं में चलते हुए (मया) मेरे से (एक द्वित्रिहृषीकवत्प्रभृतयः) एकेन्द्रिय, द्वेन्द्रिय, तेन्द्रिय, आदिक अर्थात् चौन्द्रिय व पंचेन्द्रिय (ये) जो (पंचधा) पांच प्रकार से (जीवाः) संसारी जीव (अवस्थिताः) शास्त्रमें स्थापित किये गए हैं (ते) वे जीव (यदि) यदि (ध्वस्ताः) नाश किये गए हों (लोढिताः) उलट पुलट किये गए हों (विघटिताः) अलग अलग कर दिये गए हों (संघटिताः) मिला दिये गए हों (मोटिताः) पैरों से रौंदे गए हों (तदा) तो (मे) मेरा (दुष्कृतम्) यह पाप (मिथ्या) नाश (अस्तु) हो ।

भावार्थ—सामायिक करते समय पिछले किये गए पापों को याद करके प्रतिक्रमण या पश्चात्ताप इसीलिए किया जाता है कि जिसमें आगेके लिए उस पाप से बचा जावे । अहिंसाव्रत की रक्षाके लिए यह आवश्यक है कि चार हाथ जमीन आगे देखकर चला जावे । मुनिगण महाव्रती होते हैं वे दिनके प्रकाशमें प्रासुक रौंदी हुई जमीन पर ही चलते हैं और बड़ी भारी सावधानी रखते हैं कि मेरे द्वारा कोई छोटा-बड़ा वृक्षभी रौंदा न जावे, कोई छोटा

कीड़ा भी पैरोंके नीचे न आजावे। फिर भी साधन अवस्था में किसी समय सावधानी न रहने से कोई जंतु कदाचित् पैरके नीचे दबकर मर जाय, या उलट पलट हो जावे, अथवा शरीर, जमीन, कमंडल आदिको मुलायम पींछीसे पोंछते हुए कोई जंतु जो मिले थे अलग-२ कर दिये जावें, व कई जो अलग थे वे मिला दिये जावें इत्यादि कारणोंसे प्रमाद हेतु होनेसे हिंसा सम्बन्धी पापका बंध संभव है। उस पापके बंधको छुड़ानेके लिए मुनिगण इस तरह विचारकर भावना भाते हैं। इस भावना से, पाप कर्म जो बंधचुका है उसकी स्थितिमें व उसके अनुभागमें कमी हो जाती है। श्रावकोंमें आरंभ त्यागी आठवीं प्रतिमासे उद्दिष्ट त्यागी ग्यारवीं श्रेणी तकके श्रावक हिंसासे बचनेमें बहुत ही सावधान होते हैं। वे स्वयं हिंसाकारक आरम्भ नहीं करते हैं, न कराते हैं। इसलिए ये श्रावक भी मुनि के समान किसी सवारी पर नहीं चढ़ते हैं—मार्गको देखकर चलते हैं। ग्यारहवीं प्रतिमा वाले ऐलक मुनि समान व्यवहार करते हैं; इसलिए रात्रि को न चलते हैं न बोलते हैं। उससे पहलेके श्रावक अति आवश्यकता हो तो धर्मकार्यवश प्रकाशमें मार्गको देखते हुए चलते हैं। आठवींसे नीचेके श्रावक आरम्भ त्यागी नहीं होते हैं। उनसे हिंसा अधिक हो जाती है। वे आरम्भी हिंसा से बच नहीं सकते तथापि यथासम्भव आरम्भ व्यर्थ व अनावश्यक नहीं करते। आवश्यक आरम्भ करते हुए भी जीवदया भावों में रखते हैं। यथासम्भव जीवघात बचाते हैं। युद्धमें सामना करने वालेको ही प्रहार करते हैं। भागते हुएको, शरणमें आए हुएको, घायलको, स्त्रीको, बालकको नहीं सताते हैं। खेलोंमें भी जान बूझकर किसीको नहीं मारते हैं। व्यापारमें भी पशुओं पर अधिक भार लादकर कष्ट नहीं देते हैं। सवारी पर चलते हुए अधिकतर रौंदे हुए

मार्ग पर सवारीको ले जाते हैं। पैदल चलते हुए अपनी आंखोंसे देखकर चलते हैं। तौभी आरंभी श्रावकसे बुहारी देते हुए, घरके काम करते हुए, माल उठाते धरते हुए, मकानादि बनवाते हुए बहुत अधिक जीवहिंसा हो जाती है। यहां इस श्लोकमें मार्ग चलते समय जो हिंसा होती है उसीकी मुख्यता है। हिंसासे लगे हुए पाप-रसको घटानेका विचार ऐसे श्रावकभी करते हैं जिससे आगेके लिए उनके व्यवहारमें अधिक सावधानी हो जावे। जो मानव किसी कर्मको छोड़ नहीं सकता है परंतु निरंतर विचारता है कि यह कर्म छोड़ देने योग्य है वह कभी न कभी छोड़भी देगा व उसे कम करता जायगा, इसलिए हिंसा त्यागकी भावना हरएक मुनि व श्रावकको करना उचित है। यह पाठ सर्व ही प्रकारके धर्मात्मा मुनि, आर्यिका, श्रावक व श्राविका द्वारा मनन करने योग्य है। हिंसा हुई हो तो उसका पश्चात्ताप अहिंसा पालनमें सावधान करने वाला होता है।

मूल श्लोकानुसार छन्द गीता

हे श्री जिनेन्द्र! प्रमाद चित्त हो मार्ग को देखे बिना।
दश दिश भ्रमण करते विराधे पंच विध जंतू घना।
जो एक द्वय त्रय आदि इन्द्रिय दलमले छिनभिन किये।
उलटे तथा पलटे मिलाए, पाप मिथ्या होंय ये ॥१॥

उत्थानिका—हमारा समय शुभ कार्योंमें बीते ऐसी भावना करते हैं—

अर्हद्भक्तिपरायणस्य विशदं जैनं वचोऽभ्यस्यतो ।
निर्जिह्वस्य परापवादवदने शक्तस्य सत्कीर्तने ।
चारित्रोद्यतचेतसः क्षपयतः कोपादिविद्वेषिणः ।
देवाऽध्यात्मसमाहितस्य सकलाः सायँतु मे वासराः ॥२॥

अन्वयार्थ (देव) हे जिनेन्द्रदेव (मे) मेरे (सकलाः) सर्व (वासराः) दिवस (अर्हद्भक्तिपरायणस्य) अर्हन्तकी भक्ति की लीनतामें (विशदं) निर्मल (जैनं वचो) जिनवाणीके (अभ्यस्यतः) अभ्यास करने में, (परापवादवचने) दूसरों की निन्दा कहने में (निर्जिह्वस्य) जिह्वा रहित रहने में अर्थात् दूसरों की निन्दा न करने में (सत्कीर्तने) संत पुरुषों के गुणों के वर्णन में (शक्तस्य) अपनी शक्ति लगाने में (चारित्रोद्यतचेतसः) चारित्र के लिए उद्यमी चित्त रखने में (कोपादिविद्वेषिणः) क्रोध आदि शत्रुओं को (क्षपयतः) क्षय करनेमें तथा (अध्यात्मसमाहितस्य) आत्मा के भीतर भले प्रकार लीन होने में (सर्यंतु) बीतें।

भावार्थ—यहां मोक्षार्थी सुख शांतिको चाहता हुआ व स्वाधीनता के मनोहर वन में रमने की उत्कंठा करता हुआ, सुख शांति व स्वाधीनता के निमित्त कार्यों में नित्य लगे रहने की भावना करता है। साधक शिष्य का प्रयोजन अपने भावों में से क्रोधादि कषायों के मैल को कम करके शांति, क्षमा, वैराग्य, आत्ममनन, आत्मानुभव आदि शुभ तथा शुद्ध भावों को प्राप्त करना है। इस मतलब को ध्यानमें लेकर जिनको संगति करने से व जिस क्रिया के करने से वह मतलब सिद्ध हो उसमें अपने मन को जोड़ता है। और जिनकी संगति से व जिस क्रिया में क्रोधादि कषाय बढ़ें व संसार से मोह अधिक हो जावे उनसे

बचता है। जैनधर्म के सेवन का यही प्रयोजन है। यह धर्म सुख-शांतिमय है तथा सुखशांति को देने वाला है। इस धर्म में वही देव पूजने योग्य है जो सर्वज्ञ, वीतराग व आनन्दमयी है। वही शास्त्र मानने योग्य है जिसमें सुखशांति पाने का उपाय यथार्थ बताया हो। वही गुरु वन्दने योग्य है जो आत्मज्ञानी, वैरागी व सुखशांति का भोगने वाला है। वही मनन व ध्यान कार्यकारी है जो सुख व शांति प्रदान करे। इसलिए साधक ने नीचे लिखे कार्यों में लगे रहने की भावना की है। (१) श्री अर्हत की भक्ति व पूजा व गुणों का स्मरण; क्योंकि यह भक्ति अवश्य परिणामों को शांत कर देती है। (२) जिनवाणी का पढ़ना; क्योंकि इससे अज्ञान और अशांति मिटती है। (३) दूसरों की निन्दा न करना; क्योंकि जिसकी आदत परनिन्दा की पड़ जाती है वह दूसरों के अवगुणों को ढूंढा करता है। उसका उपयोग अपनी उन्नति में दृढ़ नहीं होता है व वह स्वयं औगुण वाला हो जाता है। (४) धर्मात्माओं के गुणों का वर्णन; क्योंकि ऐसे गुणों के कथन से मन उन गुणों के लाभ में उत्साही हो जाता है। (५) चारित्र के लिए उत्साही होना व उद्यम करना; क्योंकि राग-द्वेष के हटाने का उपाय मुनि व श्रावक का चारित्र पालना है। भीतरी चारित्र आत्मस्वरूप में लीनता है, उसका निमित्त साधक व्यवहार में महाव्रत व अणुव्रत का पालन है। (६) क्रोधादि शत्रुओं को नाश करना। वास्तव में जितना इनका अभाव होगा उतना अपना आत्मा का स्वभाव प्रकाशमान होगा। (७) आत्म स्वरूप में लीनता या अनुभव; क्योंकि यही स्वात्मानुभव वास्तव में सुखशांति को साक्षात् देनेवाला है। जो मानव सच्चे दिल से इन सातों बातों को चाहता है, इनके साधनके लिए उपाय किया

करता है वही सुखशांति को पाता हुआ मोक्षमार्ग पर चलने वाला है। जैन मंदिरों में जो नित्य पूजा के पीछे शांतिपाठ पढ़ा जाता है उसमें भी इसी तरह की भावना बताई है। जैसे—

शास्त्राभ्यासो जिनपदनुतिः संगतिः सर्वदार्यैः।
सद्वृत्तानां गुणगणकथा दोषवादे च मौनम्॥
सर्वस्यापि प्रियहितवचो भावना चात्मतत्त्वे।
सम्पद्यन्तां मम भव भवे यावदेतेऽपवर्गः॥

भावार्थ—जब तक मोक्ष न हो तब तक भव में इतनी बातें प्राप्त हों (१) शास्त्र पठन (२) जिन भक्ति (३) सत् पुरुषों की संगति (४) सुचारित्र वालोंके गुणों की कथा (५) परनिंदा न करना (६) सबसे प्यारे मीठे वचन बोलना (७) आत्मतत्त्व में विचार रहना।

जहाँ तक आत्मतत्त्व भले प्रकार न जाग्रत हो वहाँ तक व्यवहार धर्म में देवशास्त्र गुरुका आराधन करते ही रहना चाहिए। श्रीपद्मनंदि मुनि परमार्थविंशति में इस तरह कहते हैं—

देवं तत्प्रतिमां गुरुं मुनिजनं शास्त्रादि मन्यामहे।
सर्वं भक्तिपरा वयं व्यवहृतौ मार्गे स्थिता निश्चयात्॥
अस्माकं पुनरेकताश्रयणतो व्यक्तीभवच्चिद्गुणाः।
स्फारीभूतमतिप्रबंधमहतामात्मैव तत्त्वं परम्॥

भावार्थ—हम व्यवहार धर्म में चलते हुए अत्यन्त भक्तिवंत हों जिनेन्द्रदेव को, उनकी मूर्ति को, मुनीश्वरको व शास्त्र आदि सर्वको मानते हैं अर्थात् इन सबकी सेवा किया करते हैं। परन्तु जब हमें रत्नत्रय की एकता अर्थात् समताभाव का आश्रय करेंगे और हमारे भीतर चैतन्य तत्त्व प्रकट होकर बुद्धि विशाल हो

जायगी तब हमारे लिए निश्चय से एक आत्मतत्त्व ही देव, गुरु या शास्त्र हो जाएगा। इस प्रकार साधक को व्यवहार धर्म की भावना निश्चयधर्म के लाभ के लिए करते रहना चाहिए।

मूल श्लोकानुसार गीता छन्द

हे देव ! श्री जिन भक्ति करते जैन वच अभ्यासते।
निन्दा न करते अन्यजन की साधु गुण सुप्रकाशते॥
चारित्र चितमें चाहते क्रोधादि शत्रु निवारते।
बीतें दिवस मेरे सभी अध्यात्म अनुभव धारते॥२॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मेरे चरित्र में जो दोष लगे हों वे व्यर्थ होवें—

आलस्याकुलितेन मूढमनसा सन्मार्गनिर्णाशिना।
लोभक्रोधमदप्रमादमदनद्वेषादिदिग्धात्मना॥
यद्देवाचरितं विरुद्धमधिया चारित्रशुद्धेर्मया।
मिथ्या दुष्कृतमस्तु भो जिनपते ! त्वत्प्रसादेन मे॥३॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन् (आलस्याकुलितेन) आलस्यसे भरकर व (मूढमनसा) मन में विवेक को छोड़कर मूर्खता धार के (सन्मार्गनिर्णाशिना) मोक्षमार्ग की विराधना करते हुए (लोभक्रोधमदप्रमादमदनद्वेषादिदिग्धात्मना) व अपने आत्माको क्रोध, लोभ, मान, असावधानी, कामभाव, द्वेष आदि से लिप्त करके (मया) मुझ (अधिया) निर्बुद्धि के द्वारा (यत्) जो कुछ (चारित्रशुद्धेः) चारित्रकी शुद्धतासे (विरुद्धम्) विपरीत (आचरितं) आचरण किया गया हो (भो जिनपते !) हे जिनेन्द्र भगवान ! (त्वत्प्रसादेन) आपके प्रसाद से (तत्) वह (मे) मेरा (दुष्कृतम्) दुष्कृत या पाप या दोष (मिथ्या) नाश (अस्तु) हो।

भावार्थ—यहां पर भी प्रतिक्रमण का भाव झलकाया गया है। जहाँ तक कषायों का अभाव न हो अर्थात् वीतरागी न हो जावे वहां तक कषायों का जोर कभी कम व कभी अधिक होता रहता है। जिस समय परिणाम में कषाय मंद होती है तब ही भावों में शांति, विवेक, बुद्धिमानी झलकती है। तब वह मानव मुनि हो या श्रावक अपने धारण किये हुए चारित्र के नियमों में बहुत बड़ा सावधान रहता है और मन, वचन, कायसे कोई दोष नहीं लगने देता है। परन्तु जिस समय किसी निमित्तवश परिणाम में लोभ का कुछ जोर हो जावे या क्रोध का वेग उठ आवे या मानभाव मे अन्धेरा हो जावे या आलस्य हो जावे या द्वेष-बुद्धि पैदा हो जावे या कामभाव से बावला हो जावे उस समय मन में अशांति, अज्ञान और मूढ़ता कम व अधिक घर कर लेती है। तब उसी मुनि व श्रावक से चारित्र के पालन मे बहुत से दोष लग जाते हैं। कदाचित् काय व वचन सम्बंधी न हों व बहुत ही अल्प हों परन्तु मानसिक दोष तो हो ही जाते हैं। इसीलिए प्रतिक्रमण किया जाता है। जिसमें यह भावना भाई जाती है कि वे दोष दूर हों व उनसे लगा हुआ पाप क्षय हो जावे या कम हो जावे। श्री जिनेन्द्र भगवान के गुण परम पवित्र हैं। इसलिए उनके निर्मल गुणों के स्मरण से परिणाम निर्मल हो जाते हैं और पवित्र भावों में यह शक्ति है कि पापों का नाश कर डालें। जैसे स्थूल शरीर में बहुत सावधानी से हवा, पानी व भोजन लेते हुए व समय में भोजनपान, नीहार, विहार व निद्रा लेते हुए कभी भी किसी न किसी बात में भूल हो जाती है। अनिष्ट भोजन जबान के स्वादवश खा लिया जाता, रात्रिको देर तक जागकर निद्रा कम ली जाती, व काम-काज में उलझ जानेसे बेसमय भोजन किया जाता, व अधिक स्त्री-प्रसंग किया जाता इत्यादि अपनी

ही भूलोंसे छोटे या बड़े रोग पैदा हो जाते हैं। तब गृहस्थ लोग उनके दूर करने के लिए औषधियाँ काम में लेते हैं कि वह रोग शीघ्र मिट जावे, अधिक न बढ़े जिससे कि शरीर बेकाम हो जावे। इसी तरह मुनि व श्रावक बड़ी सावधानी से अपना आचरण पालते हैं तथापि कभी-कभी किन्हीं बाहरी कारणों के वश होकर चलनेमें देखनेका प्रमाद हो जावे, बोलनेमें कठोर व कषाय युक्त वचन निकल जावे, भोजन में स्वादिष्ट पदार्थ की लालसा हो जावे, किसी स्त्रीको देखकर मनमें विकार हो जावे, असुहावनी कृति को देखकर मनमें अरतिभाव आजावे, सामायिक करते हुए धर्मध्यान न होकर किसी कारण से आर्तध्यान हो जावे इत्यादि दोष हो जाना संभव है। तब वह मुनि या श्रावक प्रतिक्रमण करके तथा परमात्मा के पवित्र गुणोंका स्मरण करके अपने भावोंको निर्मल करता है, मानों दोषोंके रोगोंको हटाने के लिए औषधि पीता है। ऐसा करने से दोषरूपी रोग मिटते रहते हैं, बढ़ने नहीं पाते। और वह आगामीके लिए सावधान रहता है। वास्तव में यह प्रतिक्रमण एक तरह का स्नान है जो मन के मैल को व आत्मा के पापों को धो देता है।

श्री पद्मनंदि मुनिने आलोचना पाठ में ऐसा ही कहा है—

पापं कारितवान्यदत्रकृतवानन्यैः कृतं साध्विति।
भ्रांत्याऽहं प्रतिपन्नवांश्च मनसा वाचा च कायेन च॥
काले संप्रति यच्च भाविनि नवस्थानोद्गतं यत्पुनः।
तन्मिथ्याखिलमस्तु मे जिनपते! स्वं निन्दतस्ते पुरः॥७॥

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! जो मैंने अपने मन वचन कायके द्वारा इस समय तक पाप किया हो, कराया हो व दूसरों से किये जाने पर उसे भ्रमबुद्धि में पड़कर भला माना हो ऐसे नव तरहके दोष जो पहले लगे हों व अब लगते हों व आगे लगेंगे उन सब दोषों का नाश हो। मैं आपके सामने अपनी निन्दा कर रहा हूं।

मूल श्लोकानुसार छन्द गीता

हे देव ! आलस ठान हो अविवेक वृषपथ नासिया।
कर क्रोध लोभ प्रमाद मान कु काम द्वेष प्रकाशिया॥
चारित्र शुद्ध विरुद्ध जो कुछ भी रहित मैंने किया।
जिनराज ! तव परसाद से हो नाश मैं अघ बांधिया॥३॥

उत्थानिका—आगे भावना करते हैं कि मेरा समय धर्मध्यान व रत्नत्रय की एकता में बीते—

जीवाजीवपदार्थतत्त्वविदुषो बंधास्रवौ रुंधतः।
शश्वत्संवरनिर्जरे विदधतो मुक्तिश्रियं कांक्षतः॥
देहादेः परमात्मतत्त्वममलं मे पश्यतस्तत्त्वतो।
धर्मध्यानसमाधिशुद्धमनसः कालः प्रयातु प्रभो॥४॥

अन्वयार्थ—(प्रभो) हे प्रभु ! (जीवाजीवपदार्थतत्त्वविदुषः) जीव और अजीव पदार्थों को जानते हुए (बंधास्रवौ रुंधतः) आस्रव और बंधको रोकते हुए (शश्वत्) निरंतर (संवरनिर्जरे विदधतः) संवर और निर्जराको करते हुए (मुक्तिश्रियं कांक्षतः) मोक्षरूपी प्रियाकी चाह रखते हुए (देहादेः) शरीर आदि पर पदार्थोंसे भिन्न (अमलं) निर्मल (परमात्मतत्त्वं) परमात्माके स्वरूपको (तत्वतः) यथार्थ रूपसे (पश्यतः) अनुभव करते हुए और

धर्मध्यानसमाधिशुद्धमनसः) धर्मध्यान और समाभाव में शुद्ध मनको लगाते हुए (मे) मेरा (कालाः) समय (प्रयातु) बीते।

भावार्थ--इसमें आचार्यने जैन सिद्धांतके मूलश्लोकभूत सात तत्वोंका संकेत करते हुए उन पर श्रद्धानको दृढ़ किया है। तथा उनमें कौन ग्रहण योग्य हैं व कौन त्यागने योग्य हैं इस भेद विज्ञान का स्वरूप निश्चय और व्यवहारनय दोनोंसे बताया है। असल बात यह है कि जिसको सुखशांति पानेकी चाह हो व अपने आत्माको पवित्र करनेकी रुचि हो उसको सात तत्त्वोंको भले प्रकार समझकर उन पर अपना विश्वास लाना चाहिए। जीव और अजीव तत्त्व में तो यह समझाया है कि यह लोक जीव और अजीव पदार्थों का समुदाय है। बिना इन दो पदार्थों को माने हुए संसार और मोक्ष बन ही नहीं सकता है। यदि एक मात्र जीव ही पदार्थ होता तो सब जीव शुद्ध अपने स्वभाव ही में पाए जाते। न कोई अशुद्ध होता न कोई दुःखी होता न शुद्ध होने के लिए व सुखी होने के लिए कोई धर्म का साधन करता। क्योंकि जीव का स्वरूप ज्ञानदर्शन सुख शांतिमय है। यह स्वभाव से सबको जानने देखनेकी शक्ति रखता है, क्रोधादि इसका स्वभाव नहीं है किन्तु शांति इसका स्वभाव है, आनंद भी इसका स्वभाव है। सब ही जीव परमात्म स्वरूप ही इस लोक में होते यदि एक जीव पदार्थ ही होता और यदि एक अजीव पदार्थ ही होता तो सब कुछ जड़ अचेतन होता फिर कोई जानने वाला व सुख दुःख को वेदने वाला नहीं होता फिर कहना सुनना समझना समझाना कुछ भी नहीं होता सो दोनोंका एकांत नहीं है। जगतमें जीवभी

और अजीव भी हैं। संसारी जीव सब अशुद्ध हैं; क्योंकि इनमें ज्ञान की कमी है, क्रोधादि है, क्लेश आदि भोगते हैं। यह अशुद्धता इसीलिए है कि इनके साथ कर्मरूपी पुद्गलों का जो बहुत सूक्ष्म हैं तथा अजीव के पांच भेदों में से एक है, उनका बंध है। इसी को पाप व पुण्य कर्म का बंध कहते हैं। अजीव पांच हैं— पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल। इनमें पुद्गल मूर्तिक है; क्योंकि इसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, गुण पाए जाते हैं, शेष चार अमूर्तिक हैं। सारी रचना जो हमारी पांचों इंद्रियों से मालूम करने में आती है पुद्गलसे रची हुई है। हम शरीर से पुद्गल को छूते हैं; मुख से पुद्गल को खाते पीते व चबाते हैं, नाक से पुद्गल को ही सूंघते हैं, आँख से पुद्गल को ही देखते हैं, कान से शब्दों को सुनते हैं जो पुद्गल से बने हुए हैं। सूक्ष्म पुद्गल इंद्रियों के द्वारा ग्रहण में नहीं आते हैं तथापि उनके कार्य प्रगट हैं। उन कार्यों के द्वारा उनका होना समझ लिया जाता है। जैसे कर्म पुद्गल बहुत सूक्ष्म हैं इंद्रियों से जाने नहीं जाते परंतु संसार में जीवों के भीतर अशुद्धता व दुःख सुख का भोगना देखकर अनुमान लगाते हैं कि पाप व पुण्य का अथवा कर्मों का बंध है। इस लोकमें जीव और पुद्गल एक दूसरे पर असर डालते हैं, हलन चलन करते हैं, तरह-२ के कामों को करने वाले ये दो ही बड़े कार्यकर्ता हैं। बहुत से पुद्गल अपने स्वभाव से काम किया करते हैं, जैसे आग की गर्मीसे पानी का भाप बनना, बादलों का गिरकर पानी बरसना, धूप होना, छाया होना आदि कामपुद्गलों के द्वारा उनके स्वभाव ही से हुआ करते हैं, बहुत से कामों को यह संसारी जीव करता है। जैसे— खेती करना, मकान बनाना, कपड़ा बनना आदि-२। तीसरा कोई एक ईश्वर कराने वाला

नहीं है, न काम करने कराने में इसकी कोई आवश्यकता ही है। घी के सामने अग्नि आने से पिघलेगा ही, बर्फ के सामने गर्मी आने से पानी होगा ही। ईश्वर का इन कामों में हाथ है ऐसा कहना व्यर्थ है। ईश्वर निर्विकार, इच्छारहित, परमानन्दमई है, वह किसी वस्तु के बनाने व बिगाड़ने में दखल नहीं देता है।

जीव और पुद्गल चार काम अपनी ही ताकत से करते हैं; जैसे—चलना, ठहरना, जगह पाना और अवस्थाओंको बदलना। क्योंकि हरएक कामके लिए खास निमित्त कारण की जरूरत है। इसलिए इन चारों कामोंके लिए जैन सिद्धांत ने चार द्रव्य माने हैं। जो जीव और पुद्गलों के चलने में उदासीन कारण है वह लोकव्यापी धर्मद्रव्य है। जो जीव और पुद्गलों के ठहरने में सहकारी है वह लोकव्यापी अधर्मद्रव्य है। जो सब द्रव्योंको अवकास देता है वह अनंतव्यापी आकाशद्रव्य है। जो सब द्रव्योंको अवस्था बदलनेमें मदद देता है वह कालाणु नामका कालद्रव्य है, जो रत्नों के समान अलगर लोकके असंख्यात प्रदेशों में तिष्ठा है।

जीव और कर्म पुद्गल इन दो द्रव्योंके सम्बन्ध के कारण से आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये पाँच तत्व व्यवहार किये जाते हैं।

संसारी जीवों के मन, वचन, कायके कामोंके होते हुए आत्मा के प्रदेश काँपते हैं इस कारणसे चारों तरफके कर्म पुद्गल जीव के अच्छे या बुरे भावों के अनुसार पुण्य या पापरूप में आते हैं। इसी को आस्रव तत्व कहते हैं। ये आए हुए ही कर्मपुद्गल जीव के साथ जो कार्मण शरीर है उसीमें बंध जाते हैं। यह बंधन किसी नियमित समय के लिए होता है। उस समय के

भीतर-२ वे अवश्य गिर जाते हैं। जिन कर्मों के अनुकूल सामग्री होती हैं वे कर्मफल देकर व अनुकूल सामग्री बिना फल दिये भी झड़ जाते हैं।

आस्रव और बंध तत्व से यह ज्ञान होता है कि जीव अशुद्ध कैसे होता है। क्योंकि जब तक परमात्म स्वभावके निकट न पहुंचे तबतक संसारी जीवोंके मन वचन काय काम किया करते हैं और हर समय जैसे पुराने कर्म झड़ते हैं वैसे नए पुण्य या पाप कर्म बंधते भी जाते हैं। यदि आत्मा को कर्मबंध से छुड़ाना हो तो संवर और निर्जरा तत्वको समझना चाहिए। कर्मोंके आने और बंधके रोकने को संवर कहते हैं। संवर के लिए उद्यम करना चाहिए। जिन भावों से कर्म बंधते हैं उनको रोकना चाहिए। इस संवरके लिए हिंसादि पांच पाप छोड़कर अहिंसा सत्य आदि पांच व्रत पालना चाहिए, क्रोधादि भावोंको रोककर उत्तम क्षमा आदि दशधर्म पालना चाहिए, आर्तध्यान रौद्रध्यान रोककर धर्म-ध्यान शुक्लध्यान साधना चाहिए, प्राचीन बंधे हुए कर्मोंको अपने समय के पहले व उनका बिना फल भोगे हुए दूर करने की रीति को निर्जरा तत्व कहते हैं—तप करनेसे अर्थात् इच्छाओंको रोक कर आत्मध्यान व वीतराग भावका अभ्यास करनेसे कर्म झड़ते जाते हैं। सर्व कर्मोंके बंधसे छूटकर आत्माके पवित्र हो जानेका नाम मोक्ष तत्व है। मोक्ष अवस्था में आत्मा सदा अपने ज्ञाना-नंदका विलास किया करता है। इन सात तत्वोंमें अजीव आस्रव व बंध त्यागने योग्य हैं जबकि जीव, संवर, निर्जरा व मोक्ष ग्रहण करने योग्य हैं। परंतु निश्चयनयसे इन सात तत्वोंमें दो ही पदार्थ

हैं --जीव और अजीव। इन दोनों में से जीवको ही ग्रहण करके उसके ही शुद्ध स्वरूप का अनुभव करना चाहिए इसलिए आचार्यने कहा है कि जीव अजीवसे भिन्न है ऐसा जानो, आस्रव बंधके कारणोंको रोको, सदा संवर और निर्जराका उपाय करो, स्वाधीनता रूप मोक्ष पाने की उत्कंठा रक्खो तथा निश्चयनय से एक अपने ही शुद्ध आत्मतत्त्व को भेद विज्ञान के बल से राग-द्वेषादि भावों से भिन्न वीतराग विज्ञानमय विचारो और अनुभव करो। यही मार्ग सुख शांति पाने का तथा कर्मोंके बंध से छूटने का है। जब तक हम इस देह में हैं हमें अपना समय इसी तरह पर बिताकर सफल करना चाहिए। यही मानव-जीवन का लाभ है। श्री पद्मनंदि मुनि ने आलोचना के पाठ में मुक्तिपद की ही भावना की है जैसे—

इन्द्रत्वं च निगोदतां च बहुधा मध्ये तथा योनयः।
संसारे भ्रमता चिरं यदखिलाः प्राप्ता मयानंततः॥
तन्नाप्यूर्वमिहास्ति किंचिदपि मे हित्वा विमुक्तप्रदाम्।
सम्यग्दर्शनबोधवृत्तिपदवीं तां देव! पूर्णां कुरु॥

भावार्थ—हे देव! मैंने इस संसारमें चिरकालसे भ्रमण करते हुए इन्द्रपना तथा निगोदपना तथा इनके मध्य की बहुत प्रकार योनियों को अनंतबार पाया। इसलिए सिवाय मोक्षके देनेवाले सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रमई रत्नत्रय की पदवी के और कोई वस्तु मेरे लिए अपूर्व नहीं है अर्थात् मैं सिवाय अभेद रत्नत्रयरूप आत्मानुभवके और किसी वस्तुको नहीं चाहता हूं; क्योंकि इसीसे ही मुक्ति प्राप्त होती है। इस कारण आप इसीकी पूर्ति कीजिए।

वास्तवमें ऐसी-२ भावना परिणामोंको निर्मल करनेवाली हैं और सुख शान्ति प्रदान करने वाली है।

मूल श्लोकानुसार छंद गीता

सत् तत्व जीव अजीव जानत बंध आस्रव रोकते।
करते सुसंवर निर्जरा नित मुक्तिप्रिय अवलोकते॥
देहादिभिन्न सुनिर्मलं परमात्म तत्व सुध्यावते।
मम काल बीते हे प्रभो! बुध ध्यान समता पावते॥४॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि उत्तम कार्य वही कर सकता है जिसका संसार वास समाप्त होने को आया है व जो मुक्ति पाने के लिए शीघ्र ही अधिकारी हो गया है—

पृथ्वीवृत्त छंद

कषायमदनिर्जयः सकलसंगनिर्मुक्तता।
चरित्रपरमोद्यमो जननदुःखतो भीरुता॥
मुनीन्द्रपदसेवना जिनवचोरुचिस्त्यागिता।
हृषीकहरिनिग्रहो निकटनिर्वृतेर्जायते॥५॥

अन्वयार्थ—(कषायमदनिर्जयः) क्रोधादि कषायोंके मदको जीतना (सकलसंगनिर्मुक्तता) सर्व परिग्रह का त्याग (चरित्र-परमोद्यमो) चारित्रके लिए गाढ़ प्रयत्न (जननदुःखतो भीरुता) संसारके दुःखोंसे भय (मुनीन्द्रपदसेवना) मुनीश्वरोंके चरणों की सेवा (जिनवचोरुचिः) जिनवाणी में रुचि (त्यागिता) सर्व वस्तु का त्याग या एक देश त्याग अथवा दान करना और (हृषीकहरिनिग्रहा) इन्द्रिय रूपी सिंह को वश करना (निकट-निर्वृतेः) जिसके मुक्ति निकट है उस महात्मा के (जायते) ये बातें प्रकट होती हैं।

भावार्थ—यहां यह दिखलाया है कि जिनको संसार-समुद्र तिरने में बहुत थोड़ी देर है अर्थात् जो दीर्घकाल तक संसार में फंसे न रहेंगे और शीघ्र ही मुक्ति को पाएँगे उन महात्माओं को ही वे सब कारण व साधन सहज में मिल जाते हैं, जो कर्मों को काटने वाले हैं। वास्तव में मुक्ति का साक्षात् साधन निर्ग्रंथ पद है। अर्थात् सर्व परिग्रह रहित साधुपद है। जिसका बाहरी भेष नग्न दिगम्बर है, मात्र पीछी व कमंडल और होता है, जिससे जीवदया पाली जावे और शौच का काम लिया जावे। ये साधु शरीरसे ममता के त्यागी होते हैं, इसीलिए अपने केशों को हाथ से घास के समान उखाड़ कर फेंक देते हैं। तथा ये अहिंसाव्रत के पूर्ण पालक होते हैं इसीलिए चार हाथ प्राशुक भूमि आगे देखकर दिन में चलते हैं। रात्रि को एक स्थान में ठहरते हैं। जिनके वचन बड़े मिष्ट, अल्प व शास्त्रोक्त होते हैं। जो शुद्ध भोजन समताभाव से गृहस्थों को बिना किसी प्रकार का कष्ट दिये हुए जो उन्होंने अपने कुटुम्बक हेतु बनाया है उसीका कुछ भाग भक्तिपूर्वक दिए जाने पर लेते हैं। जो निर्जंतु स्थानों में मलमूत्र करते हैं व जो किसी वस्तु को देख शोधकर उठाते धरते हैं। ऐसे पांच समिति के पालक हैं, जो बिना दिए हुए अपने से कभी कोई वस्तु यहां तक कि पानी व फलफूल भी नहीं लेते। जो सत्य वचनों के सिवाय कभी भी हिंसाकारी असत्य नहीं कहते। जो परम शुद्ध ब्रह्मचर्य की दृष्टि से देखते हुए कामभाव को अपने मन में जगह नहीं देते। जो किसी क्षेत्र व रुपये पैसे पर व किसी अन्य चेतन अचेतन पदार्थ पर ममत्व भाव नहीं रखते। ऐसे पांच अहिंसादि महाव्रतों के पालक हैं।

जिन्होंने क्रोधादि कषायों को ऐसा जीत लिया है कि सताये जाने पर भी किसी पर द्वेष नहीं करते हैं। अपने शत्रु की भी आत्मा का हित ही चाहते हैं। जो विद्वान् व माननीय होने पर भी कभी घमंड नहीं करते। कहीं तिरस्कार हो जाय तो जरा भी उदास नहीं होते। जो कभी कपट या मायाचार नहीं करते मन में जो होता है वही वचन से कहते, वचन से कहते वही क्रिया करते हैं। जो लोभ के यहां तक त्यागी हैं कि अनेक प्रलोभनों के कारण मिलने पर भी वीतराग भाव से नहीं हटते। जिनका निरंतर यह उद्यम रहता है कि हम स्वरूपाचरण चरित्र में डटे रहें अपने निजआत्मा का अनुभव करते रहें, जिनके मन में चार गतिरूप संसार महाभयंकर आकुलता का समुद्र दीखता है, सदा यह खटका रखते हैं कि यह मेरा आत्मा कहीं इस गोरखधंधे में न फंस जाये। जो अपने गुरुओं की सेवा इसीलिए करते रहते हैं कि गुरु उनके चारित्रकी संभाल रखते और उनको सदा मोक्ष मार्गपर भले प्रकार चलने के लिए उत्तेजना देते व सुधार करते हैं। जो जिनवाणी को तत्वविचार में परम उपयोगी समझकर उसका निरन्तर बड़े प्रेम से अभ्यास करते हैं। जो अपने आत्मीकशुद्ध भावों के सिवाय सर्व पर भावोंको त्याग देते हैं या जो निरंतर जीवरक्षा करके अभयदान देते व धर्मोपदेश देकर ज्ञानदान देते हैं व जिनके वश में पांचों इन्द्रियां रहती हैं। इसीसे वे जिन या जितेंद्रिय होते हैं ऐसे साधु महात्मा भावलिंगी मुनि होते हैं। वे यातो उसी जन्म से या दो चार दस जन्म में संसार से मुक्त हो जाते हैं। आचार्य के कहने का मतलब यह है कि इन सब बातों को बड़ा दुर्लभ व परम उपयोगी समझना चाहिए और जब इनमें से कोई या सब बातें प्राप्त हो जावें तो

बड़ा उत्तम समय मानना चाहिए और प्रमाद छोड़कर अपने हित में दृढ़ रहना चाहिए। जो पुरुषार्थी होते हैं वे ही साधु निजानन्द भोगते हुए अनंत सुख के अधिकारी हो जाते हैं।

श्रीपद्मनंद मुनि यतिभावनाष्टकमें मुनिका स्वरूप कहते हैं—

आदाय व्रतमात्मतत्त्वममलं ज्ञात्वाथ गत्वा वनम्।
निःशेषामपि मोहकर्मजनितां हित्वा विकल्पावलीम्।
ये तिष्ठन्ति मनोमरुच्चिदचलैकत्वप्रमोदं गता।
निष्कम्पा गिरिवज्जयन्ति मुनयस्ते सर्वसंगोज्झिताः ॥१॥

भावार्थ—जो साधु महाव्रतों को लेकर, निर्मल आत्मा के तत्त्व को समझकर तथा वन में जाके सब ही मोह कर्म के वश से पैदा होने वाले अनेक विकारों को छोड़ करके मन, श्वासोच्छ्वास और आत्मा तीनों को निश्चलता में एकतान होते हुए आनन्द को भोगते हुए पर्वत के समान कंप रहित रहते हैं वे सर्व परिग्रह के त्यागी निर्ग्रन्थ साधु विजय प्राप्त करते हैं अर्थात् कर्मोंको जीतकर परमात्मा, परमेश्वर व परमब्रह्म होजाते हैं—

मूलश्लोकानुसार छन्द गीता

कुकषाय अरिको चूरना अर सब परिग्रह त्यागना।
चारित्रमें उद्यम घना संसार क्लेश निवारना।
आचार्य पद का सेवना जिनवाणि में रुचि धारना।
इन्द्रिय विजय पर त्याग हो ढिग मोक्ष का जब आवना ॥५

उत्थानिका—आगे भावना भाते हैं कि सुख-दुःख आदि में मेरा भाव समता भाव को भजे क्योंकि यही समता निर्जरा का कारण है।

मंदाक्रांता

विद्विष्टे वा प्रशमवति वा बांधवे वा रिपौ वा।
मूर्खौघे वा बुधसदसि व पत्तने वा वने वा ॥

संपत्तौ वा मम विपदि वा जीवते वा मृतौ वा।
कालो देव ! व्रजतु सकलः कुर्वतस्तुल्यवृत्तिम् ॥६॥

अन्वयार्थ---(देव) हे जिनेन्द्रदेव ! (मम) मेरा (सकलः) सर्व (कालः) समय (विद्विष्टे वा) मेरे से द्वेष करने वाले में (प्रशमवति वा) अथवा मेरे ऊपर शांत भाव रखने वाले में, (बांधवे वा) बन्धु में (रिपौ वा) अर्थात् शत्रु में (मूर्खौघे वा) मूर्खों के समुदाय में (बुधसदसि वा) अथवा बुद्धिमानों की सभा में (पत्तने वा) नगरमें (वने वा) अथवा जंगल में (संपत्तौ वा) धनादि की प्राप्ति में (विपदि वा) अथवा आपत्ति में (जीवते वा) जीने में (मृतौ वा) अथवा मरने में (तुल्यवृत्तिम्) समान रूप या समता रूप वर्तन (कुर्वतः) करते हुए (व्रजतु) बीते।

शिखरिणी छन्द

सुखे वा दुःखे वा व्यसनजन के वा सुहृदि वा।
गृहे वारण्ये वा कनकनिकरे वा दृषदि वा॥
प्रिये वानिष्टे वा मम समधियो यांतु दिवसा।
दधानस्य स्वान्ते तव जिनपते ! वाक्यमनघम् ॥७॥

अन्वयार्थ—(जिनपते) हे जिनेन्द्र (सुखे वा) सुख में (दुःखे वा) अथवा दुःख में (व्यसनजन के वा) आपत्ति में डालने वाले शत्रु में (सुहृदि वा) अथवा मित्र में (गृहे वा) घर में (अरण्ये वा) अथवा जंगल में (कनकनिकरे वा) सुवर्णके ढेर में (दृषादि वा) अथवा पाषाण में (प्रिये वा) किसी प्रिय या मनोज्ञ वस्तुमें (अनिष्टे वा) अथवा किसी अमनोज्ञ वस्तुमें (समधियः) समता बुद्धिको रखते हुए तथा (तव) आपके (अनघम्) पाप रहित या

पवित्र (वाक्यम्) वचन को (स्वान्ते) अपने मन में (दधानस्य) धारण करते हुए (मम) मेरे (दिवसाः) दिन (यांतु) बीतें।

भावार्थ—इन दो श्लोकों में आचार्य ने सामायिक के स्वरूप को दिखला दिया है। वास्तव में समताभाव को ही सामायिक कहते हैं। यह समताभाव असल में तबही जगता है जब निश्चय नयकी शरण ग्रहण की जावे औरव्यवहार नयकी दृष्टिको गौण रक्खा जावे। निश्चय नय वह दृष्टि या अपेक्षा है जिसके द्वारा देखने से हर एक पदार्थ का मूल या असली रूप दिख जाता है। यही द्रव्य दृष्टि है, द्रव्यको मात्र उसके असली स्वभाव में देखनें वाली है। व्यवहार नय वह दृष्टि है जिसके पदार्थ की भिन्न-२ अवस्थाओं को व पदार्थ के भेदों को व असली हालत पर पहुंचने के साधनों को व उसके अशुद्ध स्वरूप को देखा जा सके। जैन सिद्धांत ने यह आवश्यक बताया है कि दोनों नयों से पदार्थोंको देखना चाहिए जैसा कहा है—

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुद्धय तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः सएव फलमविकलं शिष्यः॥
(पुरुषार्थ०)।

भावार्थ—जो शिष्य व्यवहारनय और निश्चयनय दोनों को समझकर मध्यस्थ या वीतरागी हो जाता है या किसी एक नय के पक्षपात से रहित हो जाता है वही जिनवाणी को समझने के पूर्ण फल को प्राप्त करना है।

यह जगत व्यवहारनय (PRACTICAL POINT OF VIEW)से देखते हुए अनंत भेदरूप विचित्र दिखलाई पड़ता है। यह राजा है यह रंक है, यह स्वामी यह सेवक है, यह धनवान

है यह निर्धन है, यह सुन्दर है यह कुरूप है, यह बलवान है यह निर्बल है, यह विद्वान् है यह मूर्ख है, यह गुरु है यह शिष्य है, यह पूज्य है यह पूजक है, यह वंदनीय है यह वंदना करने वाला है, यह साधु है यह गृहस्थ है, यह शत्रु है यह मित्र है, यह पिता है यह पुत्र है, यह माता है यह पुत्री है, यह बांधव है यह अन्य है, यह पुरुष है यह स्त्री है, यह बालक है यह जवान है, यह वृद्ध है यह शिशु है, यह निरोगी है यह सरोग है, यह हिन्दू है यह मुसलमान है, यह पारसी है यह सिक्ख है, यह जर्मन है यह जापानी है, यह अंग्रेज है यह फ्रांसीसी है, यह अमेरिकन है यह आफ्रिकावासी है, यह गोरा है यह काला है, यह क्षत्रि है यह वैश्य है, यह ब्राह्मण है यह शूद्र है, यह पर्वत है यह नदी है, यह सूर्य है यह चन्द्र है, यह स्वर्ग है यह नर्क है, यह स्वदेश है यह परदेश है, यह यह भरत है यह विदेह है, यह घर है यह जंगल है, यह बन है यह उपवन है, यह सुवर्ण है यह कांच है, यह रत्न है यह पाषाण है, यह महल है यह श्मशान है, यह फूल है यह कंटक है, यह शय्या है यह भूमि है, यह चांदी है यह लोहा है, यह तांबा है यह मिट्टी है, यह निर्मल है यह मैली है, यह घट है यह पट है, इत्यादि जितने कुछ भेद प्रभेद हैं ये सब व्यवहारनय की दृष्टि में हैं। यही दृष्टि रागद्वेष मोह का कारण है जिन चेतन पदार्थों से अर्थात् स्त्री, पुत्र, मित्र, बंधु, पशु आदि से अपना स्वार्थ सधता है अथवा जिन अचेतन पदार्थों से अर्थात् घर, वस्त्र, वर्तन सामान आदि से अपना मतलब निकलता है उनसे तो राग

होता है तथा जिन पुरुषों से व स्त्रियों से अपने स्वार्थ साधन में हानि पड़ती है अथवा जो घर, वस्त्र, बर्तन या सामान अपने चित्त को कष्टप्रद भासते हैं उनसे द्वेष पैदा हो जाता है। व्यवहारनय की दृष्टि से देखते हुए अहंकार व ममकार पैदा होते हैं, मैं राजा हूं, मैं धनवान हूं, मैं बड़ा हूं, मैं दीन हूं, मैं दुखी हूं, मैं रोगी हूं, मैं निरोगी हूं, मैं सुन्दर हूं, मैं कुरूप हूं, मैं पुरुष हूं मैं स्त्री हूं इत्यादि अहंबुद्धि होती है। यह तन मेरा है, यह धन मेरा है, यह वस्त्र मेरा है, यह घर मेरा है, यह राज्य मेरा है, यह खेत मेरा है, यह आभूषण मेरा है, यह भोजन मेरा है, यह ग्रन्थ मेरा है, यह मंदिर मेरा है, इत्यादि ममकार बुद्धि पैदा होती है। इस अहंकार ममकार के द्वारा वर्तन करते हुए चारों कषायों की प्रबलता हो जाती है। कषायों के द्वारा तीव्र कर्म का बंध हो जाता है और यह मोही प्राणी संसार के झंझटों में व सुख तथा दुःख में उलझा रहता है। कभी अपने सच्चे सुख को व अपनी सच्ची शांति को नहीं पाता है।

निश्चय नय से देखते हुए ये सब ऊपर लिखित भेद नहीं दीखते हैं। ये सब भेद जीव और पुद्गल इन दो मूल द्रव्यों के निमित्त से हैं। बस जो निश्चय से देखता है उसे सर्व ही जीव संसारी या सिद्ध, नारकी, देव, पशु, मनुष्य, छोटे, बड़े, राजा, रंक आदि एक रूप अपने शुद्ध केवल स्वभाव में ही दिखते हैं। सब ही पूर्ण ज्ञान दर्शन सुख वीर्य के धारी परमात्मारूप ही दिखते हैं। आप भी अपने को परमात्मारूप दिखता है, अन्य सब भी परमात्मारूप दिखते हैं। तथा सब पुद्गल स्पर्श, रस, गंधवान अजीवरूप एक से दिखते हैं। इस दृष्टि से देखते हुए ही समताभाव की जागृति होती है, रागद्वेष का अभाव होता है,

शत्रुमित्र की कल्पना मिटती है, अमनोज्ञ व पदार्थ का भेद निकलता है, इष्ट व अनिष्ट का द्वैत मिट जाता है। यही दृष्टि वीतरागभाव को पैदा करती है। स्वामी नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने द्रव्य संग्रह में कहा है—

मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारीसव्वे सुद्धा हु सुद्धणया॥

भावार्थ—व्यवहारनय से १४ मार्गणा के भेद कि यह अमुक गतिवाला है यह अमुक इन्द्रिय वाला है इत्यादि अथवा १४ गुण स्थान के भेद कि यह मिथ्याती है यह सम्यक्ती है, यह साधु है, यह केवली है इत्यादि संसारी जीवों में दिखते हैं परन्तु शुद्ध निश्चयनय से देखते हुए सर्व ही जीव शुद्ध एक रूप परमात्मा है। समताभाव लाने के लिए हमको व्यवहारनय से देखना बन्द करके निश्चयनय से देखने का अभ्यास करना चाहिए। यही कारण है कि जो साधु या गृहस्थ सामायिक में तन्मय होते हैं वे उपसर्ग करने वाले पर व प्रशंसा करने वाले पर समताभाव रखते हैं। वीतराग भाव का साधक निश्चयनय के द्वारा अवलोकन करना है। तत्व विचार के समय आत्मध्यान जगाने के लिए निश्चयनय का आश्रय ही कार्यकारी है। जैसा कि स्वामी अमृतचन्द्र आचार्य ने समयसार कलश में कहा है—

इदमेव तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो नहि।
नास्ति बन्धस्तदत्यागात् तत्यागाद्बन्ध एव हि॥

भावार्थ—मतलब यही है कि शुद्ध निश्चयनय भी छोड़ना न चाहिए क्योंकि जब तक इसका सहारा होगा तब तक कर्म का बंध न होगा तथा इस नय के त्याग होते ही कर्म का बंध होगा। दोनों श्लोकों में आचार्य ने निश्चयनय को प्रधान करके

समताभाव का स्वरूप दिखलाया है। यह सच्ची तत्वभावना का एक प्रकार है।

वास्तव में समताभाव लाने के लिए ऐसी ही भावना कार्यकारी है। श्री पद्मनंदि मुनि निश्चय पंचाशत में कहते हैं—

शुद्धाच्छुद्धमशुद्धं ध्यायन्माप्नोत्यशुद्धमेवस्वम्।
जनयति हेम्नो हैमं लोहाल्लोहं नरः कटकम् ॥१८॥

भावार्थ—जो कोई अपने आत्मा को शुद्ध स्वरूपमय ध्याता है वह शुद्ध आत्मा को पाता है तथा जो अशुद्ध रूप अपने को ध्याता है वह अशुद्ध ही आत्मा को पाता है जैसे कोई मनुष्य सोने से सोने का कड़ा व लोहे से लोहे का कड़ा बना लेता है।

मूल श्लोकानुसार छन्द गीता

द्वेषकारी शांतिधारी बंधु में अर शत्रु में।
मूर्खजन वा पंडितों में शुभ नगर वा वनों में॥
सम्पत्तिमें वा विपति में, वा जन्ममें वा मरणमें।
हे देव! मेरा काल बीते भाव समता धरण में॥६॥
सुख में वा दुःख में वा क्लेशकर अरि मित्र में।
घरमें अरणमें कनक ढेरी और लोष्ट पाषाणमें॥
प्रिय वस्तु वा अप्रिय रहो ममदिवस हों समबुद्धिमें।
हे जिनपते! तव निर्मलं पद सदा धारूं हृदयमें॥७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि उत्तम कार्य करनेवाला ऊंची गतिको व नीच कार्य करनेवाला नीची गतिको जाता है--

(शार्दूलविक्रीडत छन्द)

ये कार्यं रचयंति निंद्यमधमास्ते यांति निंद्यां गतिम्।
ये वंद्यं रचयंति वन्द्यमतयस्ते यांति वंद्यां पुनः॥

ऊर्ध्वं यान्ति सुधागृहं विदधतः कूपं खनंतस्त्वधः ।
कुर्वन्तीति विबुध्य पापविमुखा धर्मं सदा कोविदाः ।।८।।

अन्वयार्थ—(ये) जो (अधमाः) नीच लोग (निंद्यम्)निन्दा के लायक खराब (कार्यं) काम (रचयन्ति) करते हैं (ते) वे (निंद्यां) निंदनीय या बुरी (गतिम्) गतिको (यांति) पहुंचते हैं (पुनः) परन्तु (ये) जो (वंद्यमतयः) प्रशंसनीय बुद्धिधारी (वंद्यं) प्रशंसा के लायक उत्तम कार्य को (रचयन्ति) करते हैं तो वे (वंद्यां) माननीय या उत्तम गति को (यांति) जाते हैं जैसे (सुधागृहं) राजमहल को (विदधतः) बनाने वाले (ऊर्ध्वं) ऊपर को (तु) परन्तु(कूपं) कुएंको (खनतः)खोदनेवाले (अधः) नीचेको (यांति) जाते हैं(इति) ऐसा (विबुध्य) भले प्रकार जान-कर (पापविमुखाः) पापोंसे मुंह मोड़नेवाले (कोविदाः)बुद्धिमान पुरुष (सदा) निरन्तर (धर्मं)धर्म को (कुर्वन्ति) साधते रहते हैं।

भावार्थ—इस श्लोक में आचार्य ने दिखलाया है कि हरएक जीव अपने भले या बुरे का जिम्मेदार है। जो जैसा कार्य करता है वह वैसा हो जाता है। इस संसारी जीव के पास मन वचन काय से तीन पाप तथा पुण्य कर्मके आने के द्वार हैं। जब ये शुभ कार्यों में वर्तते हैं तब मुख्यतासे पुण्य कर्म आते हैं और जब ये अशुभ कार्यों में वर्तते हैं तब पाप कर्म आते हैं। यह जीव हर समय अपने शुभ या अशुभ भावों के अनुसार पुण्य तथा पाप कर्मों को बांधता रहता है। साधारण रूप से आयुकर्म को छोड़ कर ज्ञानावरणादि सात कर्मों को नित्य बांधता रहता है। आयु कर्म को विशेष काल में अपनी भोगने वाली आयु के आठ त्रिभागों में से किसी में या मरण के पहले बांधता है। आयुकर्म के अनुसार ही यह जीव चार गतियों में से किसी गति में जाता

है : एक मानव की अपेक्षा देवगति ही ऊंची है नरकगति व पशुगति नीची है व मानवगति बराबर की है। यदि उच्चभाव होंगे तो ऊंची आयु को नीच भाव होंगे तो नीच आयु को, मध्यम भाव होंगे तो मध्यम आयु को बांधकर तदनुसार गति में जाता है। जो रौद्रध्यानी हिंसक, दुष्कर्मी है वह नर्कायु बांध नर्क को, जो आर्तध्यानी दुःखित भावधारी है वह तिर्यंच आयु बांध कर पशु गति को, जो धर्मध्यानी है वह देव आयु बांधकर देव गति को, जो कोमल परिणामी है वह मनुष्य आयु बांधकर मनुष्य गति को जाता है। परन्तु जो शुक्लध्यान को आराधता है और गुणस्थानों में चढ़ता हुआ अर्हन्त केवली हो जाता है वह कोई भी आयु न बांधकर सब कर्मों से छूटकर शुद्ध परमात्मा हो जाता है। इस लोक में भी देखा जाता है कि जो लोग परोपकार, दान, पूजा, गुरु सेवा आदि शुभ काम किया करते हैं उनकी प्रतिष्ठा व मान्यता होती है तथा जो परका अपकार, पर की बुराई, अन्याय के विषयों में प्रवृत्ति हिंसककर्म, चोरी आदि बुरे काम करते हैं वे निन्दायोग्य व बुरे समझे जाते हैं।

यहां दृष्टांत दिया है कि जो लोग राजमहल बनाते हैं वे दिन पर दिन ऊपर को चढ़ते जाते हैं परन्तु जो कुआं खोदते हैं वे दिन पर दिन नीचे धंसते जाते हैं।

इसलिए बुद्धिमानों को चाहिए कि सदा धर्म के सेवन में लगे रहें। जो सम्यकदर्शन पूर्वक धर्म का सेवन करेंगे वे इस लोक तथा परलोक दोनों में सुख पाएंगे।

वास्तव में जैन धर्म वीतराग विज्ञानमय है। इसको हरएक धर्म क्रिया में आत्मा के गुणों का ध्यान आता है। आत्मा सुख-शांति मय है, इससे धर्म सेवन करते हुए सुखशांति तो तुर्त प्राप्त

होती है तथा अन्तराय कर्म का क्षयोपशम होने से आत्म बल बढ़ता है। तथा पाप कर्मों का रस कम होने से व पुण्य कर्मों का रस बढ़ने से सांसारिक क्लेश घटते हैं और सांसारिक सुख बढ़ते हैं तथा तीव्र आपत्ति पड़ने पर धैर्य की प्राप्ति होती है। इतने लाभ इस शरीर में रहते हुए ही प्राप्त होते हैं, इसलिए जो धर्म का सेवन करते हैं वे परलोक के लिए उत्तम आयु बाँधकर शुभ गति में जाते हैं, ऐसा समझकर हम सबको इस पवित्र जैन धर्म की शरण में सदा रहकर व इसे निरंतर आराधनकर इस लोक तथा परलोक को प्रशंसनीय बनाना चाहिए—

श्री शुभचन्द्राचार्य श्री ज्ञानार्णव में लिखते हैं—

(मालिनी छन्द)

यदि नरकनिपातस्त्यक्तुमत्यन्तमिष्ट—
स्त्रिदशपतिमहर्द्धिं प्राप्तुमेकान्ततो वा।।
यदि चरमपुमर्थः प्रार्थनोयस्तदानीं।
किमपरमभिधेयं नाम धर्मं विधत्त।।२३।।

भावार्थ—यदि तुझे नरक में जाने से रुकना अति प्यारा है व यदि तू इंद्र की महा विभूति को प्राप्त करना चाहता है, अथवा यदि तू चारों पुरुषार्थों में से अन्तिम मोक्ष पुरुषार्थ को करना चाहता है तो तुझसे और अधिक क्या कहूँ तू एक मात्र धर्म ही का साधन कर।

मूल श्लोकानुसार गीता छन्द

जो निन्द्यजन दुष्कर्म करते निन्द्य गति में जात हैं।
जो सन्तजन शुभ कर्म करते उच्च गति को पात हैं।।

अरु राज्य गृह रच उच्च जाते कूप खनते नीच हों।
हम जान बुधजन धर्म सेवें पाप से भयभीत हों ॥८॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो लोग शरीर के सुख के लिए कुचेष्टा करते हैं वे अपनी शक्ति को नष्ट करते हैं—

चेष्टाश्चित्तशरीरबाधनकरीः कुर्वंति चित्तेऽधमाः।
सौख्यं यस्य चिकीर्षवोऽक्षवशगा लोकद्वयध्वंसिनीः॥
कायो यत्र विशीर्यते, स शतधा मेघो यथा शारद-
स्तत्रामी बत ! कुर्वते किमधियः पापोद्यमं सर्वदा ॥९॥

अन्वयार्थ—(अक्षवशगाः) इन्द्रियों के वश में पड़े हुए (अधमाः) नीच पुरुष (यस्य) जिस शरीर के (सौख्यं) सुख को (चिकीर्षवः) चाहते हुए (चित्तशरीरबाधनकरीः) मन और शरीर को बाधा देनेवाली तथा (लोकद्वयविध्वंसिनीः) इस लोक व परलोक दोनों को बिगाड़ने वाली (चेष्टाः) क्रियाएं (चित्ते) अपने मन में (कुर्वन्ति) करते रहते हैं व (यत्र) जिस संसार में (स कायः) वही शरीर (यथा) जैसे (शारदः) शरद ऋतु का (मेघो) मेघ विघट जाता है तैसे (शतधा) सैकड़ों तरह से (विशीर्यते) नष्ट हो जाता है (तत्र) तिस संसार में (अमी) ये (अधियः) मूर्ख लोग (किं) क्यों (सर्वदा) सदा (पापोद्यम) पाप का उद्यम (कुर्वते) करते रहते हैं (बत !) यह बड़े खेद की बात है।

भावार्थ—इस श्लोक में आचार्य ने बताया है कि जो पुरुष मिथ्या दृष्टि बहिरात्मा है अर्थात् जिनको आत्मीक सच्चे सुख का पता नहीं है वे शरीर के सुख को सुख मानते हैं वे इंद्रियों के दास हो जाते हैं और इन इंद्रियों के द्वारा जो नाना प्रकार की इच्छाएं पैदा होती हैं उन्हींको पूरा करने के लिए रात-दिन

उद्यम करते रहते हैं। वे धनके पिपासु होकर, किसीको सताकर झूठ बोलकर, चोरी करके, विश्वासघात करके धन कमाने में ग्लानि नहीं मानते, उनको अपनी स्त्री व परस्त्री का विवेक नहीं रहता है, वे भक्ष्य व अभक्ष्यके विचार से शून्य हो जाते हैं। जिस तरह इंद्रियों की तृप्ति हो उसी तरह वर्तन करना उनके जीवन का ध्येय बन जाता है। उनको मांस व मदिरा से भी परहेज नहीं रहता है। उनको जो जो क्रियायें होती हैं वे सब हानिकारक होती हैं। इंद्रियों की लम्पटता से विवेक शून्य हो, चाहे जो कुछ खा पी लेते हैं और वे रोगों के शिकार हो जाते हैं, अधिक विषयभोग से निर्बल हो जाते हैं। फिर तो उनको शरीर सम्बन्धी और मन सम्बन्धी महान् कष्ट होते हैं उस समय उनके मन की आकुलता को समझना एक अनुभवी मानव का ही काम है। इंद्रियों के भोगों की चाहना रहनेपर भी वे बिचारे इन्द्रियों का भोग शरीर की निर्बलता व रोग के कारण नहीं कर सकते। आर्तध्यान में मन दुःखित रहता है। यदि कदाचित् थोड़ी भी मुक्ति रोग से हो जाती है कि फिर अन्धे हो विषयों के वन में पागल हो दौड़ते हैं, फिर अधिक रोगी हो जाते हैं। भावों में तीव्र विषयवासना से व हिंसा, झूठ, चोरी कुशील तथा तीव्र शरीर की व धन की व विषयभोग योग्य पदार्थों की ममता से अशुभ उपयोग में फंस जाते हैं। यह अशुभ उपयोग ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय और मोहनीय कर्म का तीव्र बंध करता है, साथ में असाता वेदनीय, अशुभनाम व नीच गोत्र का बंध हो जाता है तथा जब आयुकर्म के बंध का अवसर

आता है तब यह प्राणी नरक व पशु आयु को बांध लेता है। एक न एक दिन चाह की दाह में जलता हुआ शरीर त्यागता है और नारकी या पशु या एकेंद्रिय जीव पैदा हो जाता है। इस तरह विषयलम्पटी प्राणी अपने इस अमूल्य शरीरको नष्ट करते हुए इस लोक में दुःखी व अपयश के भागी होते हैं और परलोक में कुगति के अधिकारी होते हैं। आचार्य खेद करते हैं कि ऐसे अज्ञानी लोगों को क्या यह मालूम नहीं है कि यह शरीर शरद ऋतु के मेघों की तरह नष्ट होने वाला है, यह स्थिर रहने का नहीं है। जैसे मिट्टी का घड़ा थोड़ी सी ठोकर लगने पर टूट जाता है ऐसे ही यह शरीर आयुकर्म के क्षय से कभी तो पूरी आयु भोग कर कभी अकाल में ही छूट जाता है तब पछताता हुआ चला जाता है। तब वे कोई भी सचेतन या अचेतन पदार्थ इसका साथ नहीं देते हैं जिनके ऊपर ये अपने सुख का आधार रखता था।

थोड़ी सी मनुष्यायु में पापों का उद्यम करके इसलोक और परलोक को बिगाड़कर वे मूर्खजन अपना घोर अहित कर लेते हैं। आचार्य सचेत करते हैं कि हे जीवो ! यदि तुम इन्द्रियों के दास न होकर उनको अपने वश में रखते और अपनी बुद्धिबल से अपने आत्मा को समझ लेते तो तुम्हें आत्मा के भीतर रहे हुए सुख समुद्र का पता लग जाता जिसमें स्नान करने के लिए किसी परपदार्थ की जरूरत नहीं रहती है। यदि आत्मा को समझ लिया जाता तो जगत की आत्माओं से प्रेम पैदा हो जाता तब यह हिंसादि पापों में स्वयं नहीं प्रवर्तता किन्तु जीव दया व परोपकार भाव में वर्तता हुआ पुण्य की कमाई करता—इस

नश्वर शरीर से आत्मोन्नति कर जाता। यहाँ भी सुखी रहता और परलोक में भी शुभ भावों से शुभ गति पाता है। बुद्धिमानों को खूब सोच विचारकर इस शरीर का उपयोग कुचेष्टाओं में न करके सुकर्म में करना चाहिए। जिससे यह मानवजीवन स्व पर उपकारी बनकर अपना समय सफल कर सके।

श्री अमितगति आचार्य सुभाषितरत्नसंदोह में कहते हैं कि इन्द्रिय सुखों में लीनता महान मूर्खता है।

नानाविधव्यसनधूलिविधूतिवातं ।
तत्वं विविक्तमवगम्यजिनेशिनोक्तम् ॥
यः सेवते विषयसौख्यमसौ विमुच्य ।
हस्तेऽमृतं पिबति रौद्रविषं निहीनः ॥६५॥
दासत्वमेति वितनोति विहीनसेवां ।
धर्मं धुनाति विदधाति विनिन्द्य कर्म ॥
रेफश्चिनोति कुरुतेऽति विरूपवेषं ।
किं वा हृषीकवशतस्तनुते न मर्त्यः ॥६६॥

भावार्थ—जो अज्ञानी जिनेन्द्र के कहे हुए उस आत्म स्वरूप को जो सर्व परभावों से रहित है व जो नाना प्रकार आपत्तियों की धूल के ढेर को उड़ाने के लिए पवन के समान है, भले प्रकार समझकर विषयों के सुख को सेवता है वह मूर्ख हाथ में आए हुए अमृत को छोड़कर भयानक विष को पीता है। जो इन्द्रियों का दास हो जाता है वह दूसरों की चाकरी करता है, नीचों की सेवा करने लगता है, धर्म को नाश कर देता है, हिंसादि निन्द्यकर्म को करने लगता है, पापों को संचय करता है, अपना रूप अति कुरूप कर लेता है। अधिक क्या कहें इन्द्रियों के वश में पड़ा मानव

क्या-२ अनर्थ नहीं कर लेता है ? वास्तव में जो इन्द्रियों का दास है वह पशु से भी निकृष्ट है। मानव ही वह है जो इन्द्रियों को काबू में रखकर अपना जीवन सुकार्यों में बिता कर सफल करता है।

मूलश्लोकानुसार गीता छन्द

जग नीच जन हो दास इन्द्रिय काय सुखको चाहते।
इस लोकद्वयको नाशकारी कर्म निन्द्य रचावते ॥
बहु काय मन पीड़ा सहैं सो काय शारद मेघ सम।
यह नष्ट होसी हा ! कुधी नित पाप करते हैं अधम ॥९॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मोह में अन्धी हुई बुद्धि संसार बढ़ाने वाली और मोक्ष को बहुत दूर रखने वाली है।

कांतेयं तनुभूरयं सुहृदयं मातेयमेषा स्वसा।
जामेयं रिपुरेष पत्तनमिदं सद्मेदमेतद्वनम् ॥
एषा यावदुदेति बुद्धिरधमा संसारसंवर्द्धिनी।
तावद्गच्छति निर्वृतिं बत कुतो दुःखद्रुमोच्छेदिनीं ॥१०॥

अन्वयार्थ—(इयं) यह (कांता) स्त्री है (अयं) यह पुत्र है (अयं) यह (सुहृत्) मित्र है (इयम्) यह (माता) मां है (एषा) यह (स्वसा) बहिन है (इयं) यह (जामा) पुत्री है (एषः) यह (रिपुः) शत्रु है (इदं) यह (पत्तनम्) नगर है (इदम्) यह (सद्म) घर है (एतत्) यह (वनं) बाग है (यावत्) जब तक (एषा) ऐसी (अधमा) तुच्छ व (संसारसंवर्धिनी) संसार को बढ़ाने वाली (बुद्धिः) बुद्धि (उदेति) पैदा होती रहती है (तावत्) तब तक (कुतः) किस तरह से (दुःखद्रुमोच्छेदिनी) दुःखरूपी वृक्षों को

छोड़ने वाली (निर्वृति) मुक्ति को (गच्छति) यह जीव पहुंच सकता है (बत) यह बड़े खेद की बात है।

भावार्थ—यहां पर आचार्य खेद प्रगट करते हुए कहते हैं कि मोही जीव मोह में फंसकर अपने स्वरूप को भूल जाता है इस लिए अनन्त सुख को देने वाली मुक्ति को कभी नहीं पा सकता है। वास्तव में मुक्ति अपने सच्चे आत्मा के स्वभाव की प्राप्ति है और वह अपने से ही अपने को अपने में ही प्राप्त होती है। जिसका उपयोग अपने आत्मा के स्वभाव के सन्मुख होगा वही आपको पाएगा, परन्तु जिसका उपयोग अपने आत्मा को छोड़कर परपदार्थों में रमता है वह कभी भी अपने स्वरूप को नहीं पा सकता है। संसार का कारण मोह है, जबकि मुक्ति का कारण निर्मोह है। मोही जीव क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों के वशीभूत पड़े रहते हैं, इसीलिए कर्म को बांधकर संसार की चारों गतियों में भ्रमण किया करते हैं। मोही जीवों को अपने आत्मा का अपने शरीर से भिन्न विश्वास नहीं होता है। वह शरीरको ही आपा माना करते हैं। शरीर की ममता से वे पांचों इन्द्रियों की इच्छाओं के दास हो जाते हैं। उन इच्छाओं की पूर्ति करने में जो चेतन व अचेतन पदार्थ सहकारी हैं उन्हीं से गाढ़ प्रीतिवान हो जाते हैं। इसलिए शरीरके जितने सम्बन्ध हैं उनको अपना सम्बन्ध समझ लेते हैं; पुत्र, पुत्री, मित्र आदि के मिलने में हर्ष व उनके वियोग में विषाद किया करते हैं। एक कुटुम्ब में जीव भिन्न-२ गतियों से आकर जमा हो जाते हैं वे ही जीव आयु पूरी करके अपनी-२ बांधी गति के अनुसार चले जाते हैं। धर्मशाला में यात्रियों के समागम के समान कुटुम्बीजनों का समागम है। मोही जीव उनसे गाढ़ मोह करके अपने स्वात्मा को भूल जाते हैं। इसीलिए आचार्यों ने बताया है कि जब तक इन भिन्न

पदार्थों में ममकार है कि यह तन मेरा है, यह धन मेरा है, यह राज्य मेरा है, यह उपवन मेरा है, यह घर मेरा है, यह देश मेरा है, यह नगर मेरा है, वहां तक मेरा ज्ञान दर्शन सुख वीर्य स्वभाव मेरा है, मेरा पद सिद्धपद है, मेरी परिणति शुद्ध वीतराग है यह बुद्धि नहीं जमती अर्थात् भेद विज्ञान को न पाकर वे कभी भी आत्मा के श्रद्धावान नहीं हो पाते। वे उन्मत्त पुरुष की नाईं जगत में चेष्टा करते हुए अनंतकाल खोया करते हैं। इसलिए श्री अमितगति महाराज का तात्पर्य यह है कि अब तो तुम समझो, अब तो परपदार्थों को अपना मानना त्यागो तथा अपने आत्मीक शुद्ध गुणों को अपना मानो। जिससे निज आत्मा का अनुभव प्राप्त हो, यही तत्वभावना का फल है।

अनित्यपंचाशत् में श्री पद्मनंदि मुनि कहते हैं—

दुःखव्यालसमाकुलं भव वनं जाड्यांधकाराश्रितं।
तस्मिन्दुर्गति पल्लिपाति कुपथे भ्राम्यंति सर्वांगिनः॥
तन्मध्ये गुरुवाक्यदीपममलज्ञानप्रभाभासुरं ।
प्राप्यालोक्य च सत्पथं सुखप्रदं याति प्रबुद्धो ध्रुवं॥१७॥

भावार्थ—यह संसाररूपी वन दुःखरूपी अजगरों (सर्पों) से भरा हुआ है, यहां अज्ञानरूपी अंधकार फैला हुआ है। इस वन में दुर्गतिरूपी भीलों की तरफ ले जाने वाला खोटा मार्ग है। ऐसे वन में सर्व ही संसारी प्राणी भ्रमण किया करते हैं। परन्तु चतुर मनुष्य इसी वन के मध्य में गुरु के वचनरूपी दीपक को जो निर्मल ज्ञान के प्रकाश से चमक रहा है, पाकरके सच्चे मार्ग को ढूंढकर अविनाशी आनन्दमई पद को पहुंच जाता है।

मूलश्लोकानुसार छन्द गीता

यह नारि पुत्र सुमित्र माता है हमारी यह बहन।
पुत्री अरी यह घर नगर मेरा यही है सार धन॥
जब तक रहे यह नीच मति संसार का वर्द्धन करे।
तब दुःखतरु हन्ता मुकति तिय किस तरह सुख से वरे॥१०॥

उत्थानिका-- आगे कहते हैं कि भेद विज्ञान से ही मुक्ति हो सकती है।

नाहं कस्यचिदस्मि कश्चन न मे भावः परो विद्यते।
मुक्त्वात्मानमपास्तकर्मसमितिं ज्ञानेक्षणालंकृतिम्॥
यस्यैषा मतिरस्ति चेतसि सदा ज्ञातात्मतत्त्वस्थितेः।
बंधस्तस्य न यंत्रितं त्रिभुवनं सांसारिकैर्बन्धनैः॥११॥

अन्वयार्थ--(ज्ञानेक्षणालंकृतिम्) ज्ञान दर्शन स्वभाव से शोभायमान तथा (अपास्तकर्मसमितिं) द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म के समुदाय को दूर रखने वाले (आत्मानम्) आत्मा को (मुक्त्वा) छोड़कर (कश्चन) कोई भी (परः) अन्य (भावः) भाव (मे) मेरा (न) नहीं (विद्यते) है (न) और न (अहं) मैं (कस्यचित्) किसी अन्य का (अस्मि) हूं (एषा) ऐसी (मतिः) बुद्धि (ज्ञातात्मतत्त्वस्थितेः) आत्मस्वरूप की मर्यादा को जानने वाले (यस्य) जिस किसी के (चेतसि) चित्त में (सदा) नित्य (अस्ति) रहा करती है (तस्य) उस महात्मा के (बंधः न) कर्मों का बंध नहीं होता, यों तो (त्रिभुवन) तीनों लोक के संसारी प्राणी (सांसारिकैःबन्धनैः) संसार के बंधनों से (यंत्रितं) जकड़े हुए हैं।

भावार्थ—यहां पर आचार्य ने सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञानकी

महिमा बताई है। इस जगत में यह संसारी प्राणी जीव पुद्गलका मिला हुआ एक आकार रखता है। अनादि काल से ही इसके कर्मों का बंध होता ही रहता है। कर्मोंके उदय से राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अशुद्ध भाव होते हैं तथा कर्मों के ही उदय से शरीर होता है व शरीर के साथी स्त्री पुत्रादि नौकर चाकर होते हैं। कर्मों के बड़े विकट फैले हुए जालके भीतर इतना सघन आत्मा का स्वरूप फँस जाता है कि तत्वज्ञान रहित प्राणियोंको आत्मा का ज्ञान व श्रद्धान नहीं होता। हरएक तत्वज्ञान रहित मानव या जीव पर्यायबुद्धि बना रहता है। जिस शरीर में होता है उसी रूप अपने को मान लेता है। कभी भी अपने असली आत्मस्वरूप को नहीं पाता है। इसीलिए इन्द्रियों के सुखोंमें मग्न होकर रात-दिन इन्द्रियसुख की चेष्टा किया करता है तथा तीव्र रागद्वेष मोह में पड़कर तीव्र पापकर्म बाँधकर पशु आदि गतियों में भ्रमण किया करता है। वास्तव में कर्मबंध का मूल कारण मिथ्यात्व है। संसार की जड़ ही मिथ्यात्व है। जिसने अनंतानुबन्धी चार कषाय तथा मिथ्यात्व को वश कर लिया है उसने संसार वृक्ष की जड़ काट डाली है। उसने जो कुछ कषायों के शेष रहने से कर्म का बंध होता भी है वह संसार के भ्रमण को अनंतकालीन नहीं कर सकता है। वह बन्धन अवश्य शीघ्र कट भी जायगा। इसका कारण यह है कि उसकी बुद्धि संसार में लिप्त नहीं होती है। क्योंकि उसके अंतरंग में यह भेद विज्ञान भले प्रकार जाग्रत है कि मेरे आत्मा का स्वभाव ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमई अमूर्तीक अविनाशी है। कोई भी रागादि भाव आत्मा का स्वभाव नहीं है। ज्ञानावरणादि आठ कर्म व शरीरादि नोकर्म सर्व भिन्न पदार्थ हैं, इस जगत में परमाणु मात्र भी मेरा

नहीं है, मेरा स्वरूप सर्व अन्य आत्मद्रव्यों से भी निराली सत्ता का रखने वाला है, मेरे में अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का तो अस्तित्व है परन्तु परद्रव्य क्षेत्र काल भावका नास्तित्व है। इस भेद विज्ञान के कारण से वह सदा आत्मसुख के स्वाद का उत्सुक रहता हुआ अपने आत्मा का मनन किया करता है। इसलिए उसका आत्मा संसार के बढ़ाने वाले कर्मों से गाढ़ बन्धन में नहीं पड़ता है। आचार्य ने प्रेरणा की है कि ये भव्यजीवो ! यदि तुम समताभाव को पाना चाहते हो तो इस भेद विज्ञान का भले प्रकार अभ्यास करो, यही स्वानुभव को जगाने वाला है।

एकत्व अशीति में पद्मनंद मुनि कहते हैं—

हेयं हि कर्म रागादि तत्कार्यं च विवेकिनः।
उपादेयं परं ज्योतिरुपयोगैकलक्षणम् ।
यदेवचैतन्यमहंतदेव तदेव जानाति तदेव पश्यति।
तदेव चैकं परमस्ति निश्चयाद्गतोस्मि भावेन तदेकतां परम् ॥७५-७६॥

भावार्थ—ज्ञानी पुरुषों को उचित है कि रागादि सब कर्मों को त्यागने योग्य समझकर इनसे मोह छोड़ दें और ज्ञानदर्शन मई उपयोग लक्षण के धारी परमज्योतिरूप आत्मा को जो ग्रहण करने योग्य है ग्रहण करले। जो कोई चैतन्यमई है वही मैं हूं, वही जानता है, वही देखता है, वही निश्चय से एक उत्कृष्ट पदार्थ है, मैं उसी के साथ परम एक भाव को प्राप्त हो गया हूं। इस प्रकार की भावना ही स्वानुभव को उद्योत करने वाली है।

मूलश्लोकानुसार छन्द गीता

मैं नियत दर्शन ज्ञानमय नहिं कर्म बंधन राखता।
मैं तो किसी का हूं नहीं परभाव मम नहिं छाजता ॥

सद्‌बुद्धि ऐसी चित्त जिसके तत्त्व निज पहचानता।
वह बंध में पड़ता नहीं जग जंतु बंधन ठानता ॥११॥

उत्थानिका—फिर भी उपदेश करते हैं कि संसार के मोह में न पड़के आत्मकल्याण करो।

चित्रोपायविवर्धितोपि न निजो देहोपि यत्रात्मनो।
भावाः पुत्रकलत्रमित्रतनयाजामातृतातादयः ॥
तत्र स्वं निज कर्मपूर्ववशगाः केषां भवन्ति स्फुटं।
विज्ञायेति मनीषिणा निजमतिः कार्या सदात्मस्थिता ॥१२॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जिस संसार में (चित्रोपायविवर्धितः) अनेक उपायोंसे पालन-पोषण करके बढ़ाई हुई (अपि) भी (निज-देहोऽपि) यह अपनी देह भी (आत्मनः न) अपनी नहीं होती है (तत्र) वहां (निजपूर्वकर्मवशगाः) अपने-२ पूर्व में बांधे हुए कर्मों के वश पड़े हुए (पुत्रकलत्रमित्रतनयाजामातृतातादयः) पुत्र, स्त्री, मित्र, पुत्री, जमाई व पिता आदिक (भावाः) बिलकुल जुदे पदार्थ (केषां) किन जीवों के (स्वं) अपने (स्फुटं) प्रगटपने (भवन्ति) हो सकते हैं (इति) ऐसा (विज्ञाय) जान करके (मनीषिणा) बुद्धिमान मानव को (सदा) सदा (निजमतिः) अपनी बुद्धि (आत्मस्थिता) अपने आत्मा में स्थिर (कार्या) करनी उचित है।

भावार्थ—यहां फिर आचार्य ने जगतके सम्बन्ध को नाशवन्त झलकाया है। जगत के मोही प्राणी अपने इन्द्रियों के विषय भोग में सहकारी स्त्री, पुत्र, मित्र आदिकों से राग करते हैं व जो बाधक हैं उनसे द्वेष करते हैं। ये सब सचेतन पदार्थ बिलकुल हमसे जुदा हैं, ये सब अपने-२ भिन्न-२ कर्मों को बांधकर भिन्न भिन्न गतियों से आए हैं और इस जन्म में भिन्न-२ कर्म बांधकर

भिन्न-२ गतियोंको जायेंगे। इनको अपना मानना महान मूर्खता है। ये सब कुछ सम्बन्ध रखते हैं तो वह सम्बन्ध इस शरीर के साथ है। शरीर के उत्पन्न करनेवाले को माता पिता कहते हैं। एक माताके पुत्र पुत्रियों को भाई बहन कहते हैं, शरीर को ही देखकर ये धन दौलत के पुजारी अपने २ स्वार्थों के वश होकर हमारी देहसे प्रीति दिखलाते हैं। जब हमसे स्वार्थ नहीं निकलता है तब बात भी नहीं पूछते हैं। आचार्य कहते हैं कि इन पदार्थों के स्नेह टूटने की व छूट जाने की बात क्या करते हैं। ये तो प्रगट ही जुदे हैं। अरे! यह शरीर जो जन्म से मरण तक साथ रहता है और जिसको नाना प्रकार भोजन पान देकर खिलाते पिलाते, सुलाते, पहनाते, उठाते, पालते व जिसके लिए पैसा कमाते व रात दिन उसी की ही चितामें लगे रहते कि कहीं यह बिगड़ न जावे, ऐसा शरीर भी एक क्षणमात्र में हमें छोड़ देता है। आयुकर्म के आधीन देह का सम्बन्ध है। आयुकर्म का नाश होते ही एक समयभर भी यह शरीर आत्मा का साथ नहीं दे सकता। तब जो लोग इस देह के साथ व देह के सम्बन्धी स्त्री पुत्रादि के साथ ऐसी दोस्ती बांधते हैं कि मानो हम इनके हैं व ये हमारे हैं वे लोग अवश्य मूर्ख हैं क्योंकि इनके मोह में अन्धे हो वे अपने आत्माके हितको भूल जाते हैं। वे कभी दिन रातमें एक क्षण भी आत्माके हित का चिन्तवन नहीं करते हैं इसलिए आचार्य कहते हैं कि यदि तुम चतुर मनुष्य हो तो नाशवन्त पदार्थों से क्यों स्नेह बढ़ाकर अपना बुरा करते हो? इन पदार्थों का सम्बन्ध यदि है तो इनसे अलिप्त रहते हुए इनसे अपना प्रयोजन साधलो व उनका यथासम्भव उपकार कर दो। परंतु उनके साथ भीतरी प्रीति न रक्खो, इनकी प्रीति अन्तमें धोखा देनेवाली

होगी, इनकी प्रीति शोकसागर में डुबानेवाली होगी। क्योंकि ये सब पदार्थ एक दिन छूट जाएंगे या हम छोड़ेंगे या वे छोड़ेंगे। खास ध्यान अपने आत्माकी तरफ रक्खो। हमें उचित है कि हम अपने आत्माके सच्चे स्वरूपको जो निश्चयसे परमात्माके समान ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आनन्दमयी हैं पहचानें, उसपर विश्वास लावें व उसीका ध्यान करें तो हमको सुख व शांतिका लाभ होगा और हम जो आज अपवित्र हैं वे धीरे-२ पवित्र होते चले जाएंगे। वास्तवमें आत्माकी प्रीति हमको पवित्र करनेवाली है और शरीर की व शरीर के सम्बन्धियोंकी प्रीति हमें अपवित्र करनेवाली है। सुभाषितरत्नसंदोह में श्री अमितगति महाराज कहते हैं—

किमिह परमसौख्यं निःस्पृहत्वं यदेत-
त्किमथ परमदुःखं सस्पृहत्वं यदेतत्॥
इति मनसि विधाय त्यक्तसंगाः सदा ये।
विदधति जिनधर्मं ते नराः पुण्यवन्तः ॥१४॥

भावार्थ—इस संसार में परम सुख क्या है तो वह एक इच्छा रहितपना है तथा परम दुःख क्या है तो वह इच्छाओं का दास हो जाना है। ऐसा मन में समझकर जो पुरुष सर्व से ममता त्यागकर जिन धर्म को सेवन करते हैं वे ही पुण्यात्मा व पवित्र हैं। शरीर व शरीर के सम्बंधियों के संबंध में चिन्ता करना इच्छाओं के पैदा करने का बीज है, इनसे मोह, त्यागना ही इच्छाओं के मिटाने का बीज है।

मूल श्लोकानुसार त्रिभंगी छन्द

वह यत्न कराए मर्दन पाए देह न थाए जहं अपनी।
तहं पुत्र कलत्रं पुत्री मित्रं जामात्रं भगिनि जननी॥

निज कर्म वसाएं सुख दुःख पाए होत सदा ये नहिं अपने।
इम जान सुबुद्धी आतम शुद्धी कर निज बुद्धी प्रगटपने ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि धर्म ही जीवका परममित्र है—

दुर्दामोच्छ्रितकर्मशैलदलने यो दुर्निवारः पविः।
पोतो दुस्तरजन्मसिंधुतरणे यः सर्वसाधारणः ॥
निःशेषशरीरिरक्षणविधौ शश्वत्पितेवादृतः।
सर्वज्ञेन निवेदितः स भवतो धर्मः सदा नोऽवतु ॥१३॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (दुर्दामोच्छ्रितकर्मशैलदलने) कठिनता से नाश करने योग्य बड़े कठोर कर्मरूपी पर्वतों को चूर्ण करने में (दुर्निवारः) किसीसे हटाया जा न सके ऐसा (पविः) वज्र है (यः) जो (दुस्तरजन्मसिंधुतरणे) कठिनता से पार होने योग्य ऐसे संसार समुद्र से पार ले जाने में (सर्व साधारणः) सर्व जीवों के लिए एक रूप सामान्य (पोतः) जहाज है (यः) जो (निःशेषशरीरिरक्षण-विधौ) सर्व शरीरधारी प्राणियों की रक्षा करने में (पिता इव) पिता के समान (शश्वत) सदा (आदृतः) माना गया है (सः) वह (सर्वज्ञेन) सर्वज्ञ भगवान से (निवेदितः) कहा हुआ (धर्मः) धर्म (नः) हमें (भवतः) संसारसे (सदा) हमेशा (अवतु) रक्षित करे।

भावार्थ—यहां आचार्य ने जिनधर्म की यथार्थ महिमा बताई है। असल में जो जिनधर्म की शरण ग्रहण करते हैं उनकी सदा रक्षा होती है। जैनसिद्धांत ने बताया है कि जब इस जीवके शुद्ध वीतराग भाव होते हैं तब तो कर्मोंकी निर्जरा होती है तथा जब शुभ भाव होते हैं तब पुण्य कर्म का बंध होता है। पुण्य बंध दुःखों से बचाता है तथा वीतराग भाव कर्ममल को हटाकर मुक्ति

में पहुंचता है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र मई निश्चय रत्नत्रय को जो स्वानुभवरूप है जैनधर्म कहते हैं। यह स्वानुभव परम वैराग्यमई है। यहां रागद्वेषसे रहित समताभयभाव है। इस स्वानुभाव में रुकी हुई परिणतिको वीतराग भाव कहते हैं तथा स्वानुभूति की रुचि रखते हुए स्वानुभूतिके कारणरूप अर्हंत, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय तथा साधु इन पंचपरमेष्ठियों की भक्ति करना शास्त्र विचारकरना आदि कार्योंमें रागभाव को शुभोपयोग कहते हैं। यह जैनधर्म परम कल्याणकारी है। इसी स्वानुभव रूप जैन धर्मकी शक्तिसे चार घातिया कर्मनाश हो जाते हैं और यह जीव केवलज्ञानी परमात्मा होजाता है। इसलिए यह धर्म पर्वतोंके चूर्ण करनेको वज्रके समान है। यह संसार समुद्र—रागद्वेष के जलसे भरा हुआ है। इनमें अनेक विभावरूपी लहरें उठ रही हैं इससे पार होना बहुत कठिन है परन्तु जिनको वीतरागमय और ज्ञान-मय धर्मरूप जहाज मिल जाता है वे इसके पार हो जाते हैं, यह जहाजसर्व साधारण के लिए है। किसीको इसपरचढ़नेकी मनाई नहीं है। जो संसार—समुद्र से तर जाने के लिए दिल में पक्के उत्साही हैं उनको यह धर्मरूपी जहाज शरण देता है क्योंकि यह जैनधर्म अहिंसा धर्मके व्याख्यान में त्रस स्थावर सर्व प्राणी मात्रकी रक्षाका उपदेश देता है व पूर्ण अहिंसाधर्मके धारी साधु तदनुसार वर्तते हुए सर्व जीवमात्र को रक्षा करते हैं। अतएव उनका वर्तन पिता के समान होता है इसलिए यह जैनधर्म भी प्राणियोंकी रक्षाके उपाय बतानेके कारणसे पिताके समान है। ऐसे पवित्र जैनधर्मकी जो सेवा करेंगे वे दुःखों से बचकर उन्नति करते २ परमात्मापद में अवश्य पहुंच जाएंगे। धर्म की महिमा

श्री शुभचन्द्रजी ने ज्ञानार्णव में इस भांति कहा है—

शार्दूलविक्रीडित छन्द

धर्मः शर्मभुजंगपुंगवपुरीसारं विधातुं क्षमो।
धर्मः प्रापितमर्त्यलोकविपुलप्रीतिस्तदाशंसिनां ॥
धर्मः स्वर्नगरीनिरन्तरसुखास्वादोदयस्यास्पदम्।
धर्मः किं न करोति मुक्तिललनासंभोगयोग्यं जनम् ॥१२

भावार्थ—यह धर्म धर्मात्मा पुरुषोंको धर्णेन्द्र के आदि सुख के प्राप्त करानेको समर्थ है। यह धर्म मध्यलोकके महान चक्रवर्ती आदिके सुखोंको देनेवाला है, यही धर्म स्वर्ग को निरन्तर रहने वाले सुखोंके प्रगट कराने का उपाय है, यही धर्म प्राणीको मुक्ति रूपी स्त्रीके भोगने योग्य बना देता है। धर्म हमारा क्या क्या उपकार नहीं करता है? वास्तव में जिनधर्म का स्मरण तत्त्व-भावना है। इस भावना को कभी नहीं भूलना चाहिए।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

परम कठिन कर्म शैलदलने सुवज्रं।
दुस्तर भवसिंधु तारणे सारपोतं॥
सकलजगतसत्वं रक्षकर्त्ता पितासम्।
जिनकथितं धर्मं रक्ष भवसे सदा हम ॥१२

उत्थानिका—आगे जिनवाणी से प्रार्थना करते हैं—

यन्मात्रापदवाक्यवाच्यविकलं किंचिन्मयाभाषितम्।
बालस्यास्य कषायदर्पविषयव्यामोहसक्तात्मनः ॥
वाग्देवी जिनवक्त्रपद्मनिलया तन्मे क्षमित्वाखिलं।
दद्या ज्ञान विशुद्धिमूर्जितसमां देयादनिद्यं परं॥१४॥

अन्वयार्थ—(मया) मेरे से (यत्किंचित्) जो कुछ (मात्रापद-वाक्यवाच्यविकलं) मात्रा, पद, वाक्य व अर्थ में क्रम बद्ध (भाषितं) कहा गया हो (तत् अखिलं) उस सर्वको (क्षमित्वा) क्षमा करके (कषायदर्पविषयव्यामोहसक्तात्मनः) क्रोधादि कषाय, गर्व, व विषयों की चाहना में आसक्त (अस्य बालस्य मे) ऐसा जो बालक समान में उसे (जिनवक्त्रपद्मनिलया) जिनेन्द्र के मुख कमल में निवास करने वाली (वाग्देवी) सरस्वती देवी अर्थात् जिनवाणी (ऊर्जिततमां) उत्कृष्ट (ज्ञानविशुद्धि) ज्ञान की निर्मलता को (दत्वा) देकर (अनिंद्यं पदं) परम प्रशंसनीय मोक्षपद (देयात्) प्रदान करें।

भावार्थ—यहां पर आचार्य ने दिखलाया है कि जिनवाणी को शुद्ध ही पढ़ना चाहिए और शुद्ध ही उसका अर्थ समझना चाहिए फिर भी यदि कभी प्रमादसे कुछ भूल हो गई हो, किसी वचन को क्रमबद्ध कह दिया हो तो उसके कारण जो पापबंध हुआ हो उसको दूर करने के हेतु से यह भव्यजीव प्रतिक्रमण या पश्चाताप करता है जिनवाणी मुझपर क्षमा करे यह मात्रभक्ति करने का व उच्च भावना भाने का एक प्रकार है जिससे भावों में यह बात आजावे कि मुझे शुद्ध ही पढ़ना चाहिए। फिर वह जिनवाणी को हृदयमें धारकर यह विचारता है कि मैं बिलकुल अज्ञानी हूं इसीसे क्रोध, मान, माया व लोभ कषायोंके वशीभूत हो जाता हूं या पांचों इन्द्रियोंके विषयों में आसक्त हो जाता हूं जिससे मेरे भावों में अशुद्धि हो जाती है और मैं कर्मों का बंध कर लेता हूं। अब मैं यह प्रार्थना करता हूं कि जिनवाणी के निरन्तर मननसे यह मेरी कलुषता मिटे और परम शुद्धता मेरे आत्माको प्राप्त हो अर्थात् शुद्धोपयोग रहा करे जिससे मैं अवि-

नाशी निजपदको पासकूं, जहां कोई कर्मका सम्बन्ध नहीं रहता है और यह आत्मा स्वयं परमात्मा हो जाता है। वास्तव में सम्यग्दृष्टि व ज्ञानी जीव को वीतराग भाव की ही प्राप्ति का यत्न करना चाहिए। यह वीतरागता उसी समय प्राप्त होती है जब विषय कषायों से ग्लानि हो जावे और शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा से प्रीति बढ़ जावे। क्योंकि आत्मा का स्वभाव ही परम वीतरागमय है इसलिए आत्मा के ध्यान से स्वयं वीतरागता झलक जाती है और तब सुखशांतिकी प्राप्ति होती है, पिछला कर्म कटता है। असल में आत्मा की भूमिमें चलना ही जीव का परम हित है।

श्री पद्मनंदी मुनि निश्चयपंचाशत् में कहते हैं—

स्वपरविभागावगमे जायते सम्यक् परे परित्यक्ते।
सहजैकबोधरूपे तिष्ठत्यात्मा स्वयं सिद्धः ॥४२॥

भावार्थ—जब आपा परका भेदरूप ज्ञान भले प्रकार पैदा हो जाता है तब पर से मोह छोड़ने पर यह स्वयं सिद्ध आत्मा स्वाभाविक एक ज्ञान स्वरूप में ठहर जाता है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

कथन किया जो मैं शब्द पद अर्थहीनं।
विषय विमोही हो क्रोध मानाद्यधीनं॥
जिनमुखसे प्रगटो वाणिदेवी क्षमाकर।
वर निर्मलज्ञानं देय शिवपद कृपाकर॥१४॥

उत्थानिका—आगे साधक विचारता है कि मेरी बुद्धि ज्ञान होने पर भी विषयों से क्यों विरक्त नहीं होती है—

निःसारा भयदायिनोऽसुखकरा भोगाः सदा भस्वराः।
निंद्यस्थानभवास्तिभावजनकाः विद्याविदां निंदिता॥

नेत्थं चितयतोपि मे बत मतिर्व्यावर्तते भोगतः ।

कं पृच्छामि कमाश्रयामि कमहं मूढः प्रपद्ये विधिम् ।।१५।।

अन्वयार्थ—(भोगाः) ये इन्द्रियों के भोग (निःसाराः) असार अर्थात् सार रहित तुच्छ जीर्ण तृण के समान हैं (भयदायिनः) भय को पैदा करने वाले हैं (असुखकराः) आकुलता भय कष्टको उत्पन्न करने वाले हैं व (सदा) सदा ही (नश्वराः) नाश होने वाले हैं (निद्यस्थानभवार्तिजनकाः) दुर्गति में जन्म कराकर क्लेश को पैदा करने वाले हैं तथा (विज्ञनिंद्याः) विज्ञानों के द्वारा (निंदिताः) निंदनीय हैं (इत्थं) इस तरह (चितयतः अपि) विचार करते हुए भी (मे) मेरी (मतिः) बुद्धि (बत) खेदकी बात है कि (भोगतः) भोगों से (न) नहीं (व्यावर्तते) हटती है तब (अहं) मैं (मूढः) बुद्धि रहित (कं) किसको (पृच्छामि) पूंछूं (कम्) किसका आश्रयामि) सहारा लूं (कम) कौन सी (विधिम्) तदबीर (प्रपद्ये) करूं ।

भावार्थ—इस श्लोक में एक श्रद्धावान जैनी अपनी भूलको विचारते हुए अपने कषायों के जोर को कम कर रहा है। इस जीव के साथ मोह कर्म का बन्ध है। मोह ही उदय में आकर जीवको बावला बना देता है और यह उन्मत्त हो न करने योग्य कार्य कर लेता है। मोहकर्मके मूल दो भेद हैं—एक दर्शनमोह, दूसरा चारित्रमोह, दर्शनमोहके उदयसे आत्माको अपने आपका सच्चा विश्वास नहीं होपाता है। चरित्रमोहका उदय आत्मा में ठहरने नहीं देता है—अपने आत्माके सिवाय अन्य चेतन व अचेतन पदार्थों में राग द्वेष करा देता है। इसके चार भेद हैं—अनन्तानुबन्धी कषाय, जो श्रद्धान के बिगाड़ने में दर्शनमोह के साथी हैं।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय—जिसके उदय होने पर श्रद्धान होने पर भी एक देश भी त्याग नहीं किया जाता अर्थात् श्रावक के व्रत नहीं लिए जाते। प्रत्याख्यानावरण कषाय—जिसके उदय से पूर्ण त्याग कर साधु का आचरण नहीं पाला जाता है। संज्वलन कषाय—जो आत्मध्यान को नाश नहीं कर सकते परन्तु जो मल पैदा करते हैं, जो पूर्ण वीतरागता को नहीं होने देते। जिस किसी महान पुरुष के अनन्तानुबन्धी कषाय और दर्शन मोह के दबने से सम्यग्दर्शन हो गया है वह पुरुष यह अच्छी तरह समझ गया है कि विषयभोगों से कभी भी इस जीव को तृप्ति नहीं होती है। उल्टी तृष्णा की आग बढ़ती हुई चली जाती है, इसीलिए ये भोग असार हैं, फल कुछ निकलता नहीं, तथा भोगों के चले जाने का व अपने मरण होने का भय सदा बना रहता है। यह भोगी जीव चाहता है कि भोग्य पदार्थ कभी नष्ट न हों व मैं कहीं मर न जाऊं। तथा इन भोगों की प्राप्ति के लिए व उनकी रक्षा के लिए बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है और यदि कोई भोग नहीं रहता है तो यह प्राणी आकुलता में पड़कर दु:खी हुआ करता है। ये भोग अवश्य नष्ट होने वाले हैं। या तो आप ही मर जायगा या ये भोग्य पदार्थ हमारा साथ छोड़ देंगे तथा इनके भोगने में बहुत तीव्र राग करना पड़ता है जिससे दुर्गति हो जाती है तथा इसीलिए इन भोगों को विद्वानों ने निन्दा योग्य बुरा समझा है।

श्री शुभचन्द्राचार्य ने भी ज्ञानार्णव में कहा है—

अतृप्तिजनकं मोहदाववन्हेर्महद्धनम्।
असातसन्ततेर्बीजमक्षसौख्यं जगुर्जिनाः ॥१३॥

विघ्नबीजं विपन्मूलमन्यापेक्षं भयास्पदम् ।
करणग्राह्यमेतद्धि यदक्षार्थोत्थितं सुखम् ।।१५।।
यद्यपि दुर्गतिबीजं तृष्णासंतापपापसंकलितम् ।
तदपि न सुखसंप्राप्य विषयसुखं वांछितं नृणाम् ।।२४।।

भावार्थ—जिनेन्द्रों ने कहा है कि इंद्रियों से होने वाला सुख कभी तृप्ति नहीं देता है। यह तो मोह की दावानल अग्नि के बढ़ाने को महान ईंधन का काम करता है। यह असाता की परिपाटी का बीज है। इससे आगामी दुःख मिलता ही रहता है। यह इंद्रिय सुख विघ्नों का बीज है। सेवते-सेवते हजारों अंतराय पड़ जाते हैं, आपत्तियों की जड़ है। इस सुख के आधीन प्राणी असत्य, चोरी, कुशील, हिंसादि पापों में फँसकर इस लोक में ही अनेक दुःखों में पड़ जाता है। यह सुख पराधीन है, अपने ही आधीन नहीं है। तथा भयभीत रखने वाला है और इस सुखको इंद्रियां यदि बलवती हों तब इंद्रियाँ ही ग्रहण कर सकती हैं। यह सुख यद्यपि तीव्र राग के कारण से दुर्गति का बीज है और तृष्णा संताप तथा पापों से भरा हुआ है तथापि इच्छित सुख सहज में नहीं मिलता है, बड़ा कष्ट सहना पड़ता है।

ऐसा ज्ञान व श्रद्धान होने पर भी कि ये इंद्रिय विषयों के सुख ग्रहण करने योग्य नहीं है, यह अविरति पुरुष अप्रत्याख्यान आदि कषायों को न दबा सकने के कारण उनके जोर से व्याकुल होता हुआ विषयभोगों को नहीं त्यागता है। त्यागना चाहता है परन्तु त्याग नहीं कर सकता है। इसीलिए यह विचारता है कि मैं किससे पूछूं व किसका आश्रय लूं व क्या उपाय करूँ जिससे

मेरे मन में वैराग्य पैदा हो जावे। सम्यग्दृष्टि ऐसा नित्य विचार करता रहता है तथा जिसे आत्मा पर दृढ़ विश्वास हो गया है व जिसके स्वरूप का दर्शन सम्यक्त होते समय हो चुका है वह उस आत्मा का ही अनुभव समय-समय करता रहता है और इसी भेदविज्ञान के अभ्याससे उसके कषाय कर्म धीरे-धीरे दुर्बल होते चले जाते हैं। इसीलिए वैराग्य की भावना परम कार्यकारी है। तत्वभावना से ही आत्मा का कार्य बनता है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

विषय सुख असारा दुःख भयप्रद अपारा।
दुर्गति दुखदाता संत निंदित विचारा॥
हूँ अथिर विचारूँ खेद ! नहि भोग त्यागूं।
शरण काकी लूं कौन शुभ यत्न लागूं॥१५॥

उत्थानिका—आगे भावना करने वाला विचारता है कि श्री जिनेन्द्र के चरण मेरे हृदय में सदा जमे रहे यह ही एक उपाय है—

मोहध्वान्त मनेकदोषजनकं मे भत्सितुं दीपका—
वुत्कीर्णाविव कीलिताविव हृदि स्यूताविवेन्द्राचितौ॥
आश्लिष्टाविव बिम्बिताविव सदा पादौ निखाताविव।
स्थेयास्तां लिखिताविवाघदहनौ बद्धाविवार्हंस्तव॥१६॥

अन्वयार्थ—(अर्हन्) हे अर्हन्तदेव (मे) मेरे (हृदि) हृदय में (अनेकदोषजनकं) अनेक रागादि दोषों को पैदा करने वाले (मोहध्वांतं) ऐसे मोहरूपी अंधेरे को (भत्सितुं) हटाने के लिए (दीपकौ) दीपक के समान (इन्द्राचितौ) इन्द्रों के द्वारा पूजने योग्य तथा (अघदहनौ) पापों के जलाने वाले (तव) आपके

(पादौ) दोनों चरण (सदा) हमेशा (स्थेयास्तां) ठहरा जावें (उत्कीर्णौ इव) मानों दिल में अंकित हो जावें (कीलितौ इव) या मानो कील के समान गड़ जावें (स्यूतौ इव) या मानो सी जावें (अश्लिष्टौ इव) या मानों चस्पा हो जावें (बिंबितौ इव) या मानों छाया की तरह जम जावें (निखातौ इव) या मानों अड़ हुए के समान हो जावें (लिखितौ इव) या मानों लिख दिए जावें (बद्धौ इव) या मानों बांध दिए जावें अर्थात् मैं कभी आप के चरणों को न भूलूं।

भावार्थ—यहां आचार्य ने भक्तिभाव को भले प्रकार दिखलाया है। यह कहना कि आपके चरण मेरे हृदय में जमकर बैठ जावे कि मानों दिल उनके साथ एकमेक हो जावें इस बात के बताने का एक अलंकार मात्र है कि आपका वास्तविक आत्मिक स्वरूप मेरे मनमें जम जावे अर्थात् मेरा मन आपके ज्ञानानंदमई शांत स्वभाव में रत हो जावे, इसका भी भाव यही है कि मेरे मनसे सब अनात्मीक भाव हट जावें और एक आत्मीक शुद्ध भाव प्रगट हो जावे। इसको स्वात्मानुभव कहते हैं। वास्तव में यही दीपक है जिससे अनादिकाल का मोह का अंधेरा दूर होता है। इसी ज्ञानाग्नि के तेज से अनेक पापों के ढेर जल जाते हैं।

वास्तवमें जो आत्माको जानते हैं वेही अर्हंत परमात्माको जानते हैं। जो अरहंत परमात्माको पहचानते हैं वे ही आत्माको जानते हैं। क्योंकि निश्चयनय से आत्मा और परमात्मा का स्वभाव एक समान है। अत्यन्त गाढ़ भक्ति भी द्वैत से भाव में ले जाने के लिए निमित्त कारण है। यह भी इस श्लोक का आशय झलकता है कि जहां तक निर्विकल्प समाधि या शुद्धोपयोग की ऊंची अवस्था प्राप्त न हो वहां तक श्रीअर्हंत की भक्ति, भावोंको मोक्ष-मार्ग में लगाए रखने के लिए निमित्त है इसलिए भक्ति करते

रहना चाहिए। अर्हद्भक्ति को साधुजन भी नित्य करते हैं। उनके नित्य छः आवश्यक कर्मों में स्तुति और वन्दना कर्म हैं। गृहस्थ जब प्रत्यक्ष भक्ति श्रीजिनेन्द्र की प्रतिमाओं के निमित्तसे अधिक-तर करते हैं तथा परोक्ष भक्ति कम करते हैं तब साधुजन परोक्ष भक्ति अधिक करते हैं। प्रत्यक्ष भक्ति जब जिन मंदिर का समा-गम होता है तब करते हैं। भावों को अशुभोपयोग से छुड़ाकर शुभोपयोग में लगाने के लिए अर्हंतभक्ति बड़ा प्रबल उपाय है। गृहस्थों को नित्य अर्हंत भक्ति करके अपने-२ भावों को उज्ज्वल करना योग्य है। यद्यपि अरहंत वीतराग हैं, हमारी भक्ति किए जाने से प्रसन्न नहीं होते हैं तथापि उनके गुणों के स्मरण से व उनके शांति स्वरूप के दर्शन से हमारे भाव शांत हो जाते हैं इस-लिए भगवद्भक्ति निमित्त कारण है। हमारे कल्याण के लिए ऐसा मानने में कोई हानि नहीं है। अर्हंतभक्ति क्षणमात्र में बड़े बड़े पापों को काट देती है और महान् पुण्य को बांध देती है। ज्ञान सहित अर्हंतभक्ति मोक्षमार्ग है। यह १६ कारण भावना में एक उत्तम भावना है।

श्री पद्मनंदि मुनि सद्बोध चन्द्रोदय में कहते हैं—

संविशुद्धपरमात्मभावना संविशुद्धपदकारणं भवेत्।

सेतरेतरकृते सुवर्णतो लोहतश्च विकृती तदाश्रिते ॥२०॥

भावार्थ—शुद्ध परमात्मा की भावना शुद्ध पद की कारण हो जाती है तथा अशुद्ध आत्मा की भावना अशुद्ध भाव के लिए कारण है। सोने से सोने की चीज व लोहे से लोहे की चीज बनती है। अतएव श्रीजिनेन्द्र परमात्माके गुणोंका चिन्तवन सदा ही करते रहना चाहिए; क्योंकि यह चितवन वीतरागभाव में पहुंचाने वाला परम मित्र है।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द

तव चरणजिनेन्द्र पाप नाशक बताए।
हृदय धरूँ अपने मोह तम सब भगाए॥
दीपक सम रखूं कील डालूं बिठाऊं।
पूजित इन्द्रों से सीम डालूं जमाऊं॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि परका संयोग न रहना ही सुखकर है—

संयोगेन दुरंतकल्मषभुवा दुःखं न किं प्रापितो।
येन त्वं भवकानने मृतिजराव्याघ्रव्रजाध्यासिते॥
संगस्तेन न जायते तव यथा स्वप्नेऽपि दुष्टात्मना।
किंचित्कर्म तथा कुरुष्व हृदये कृत्वा मनो निश्चलम्॥१७॥

अन्वयार्थ—(मृतिजराव्याघ्रव्रजाध्यासिते) मरण और जन्म रूपी बाघों के समूह से भरे हुए (भवकानने) इस संसार वन में (दुरंतरकल्मषभुवा) तीव्र पापको पैदा करने वाले (येन) जिसके (संयोगेन) संयोग से (त्वं) तुमने (किं दुखं) क्या-२ दुःख (न) नहीं (प्रापितः) पाया है (तेन) उस (दुरात्मना) पापी के साथ (तव संगः) तेरा संग (यथा) जैसे (स्वप्नेऽपि) स्वप्न में भी (न जायते) नहीं हो (तथा) तैसे (किंचित् कर्म) कोई काम (निश्चलं) स्थिर (मनः) मन को (कृत्वा) करके (हृदये) हृदय के भीतर (कुरुष्व) कर।

भावार्थ—यहां भी आचार्य ने संकेत किया है कि मोह की गाँठ जो तेरे दिलके भीतर पड़ी है उसको काट डाल। वास्तवमें मोह बड़ा पापी व दुष्ट है। इसी की संगति में यह प्राणी रहकर संसार के स्त्री, पुत्र, मित्र, धनादि परिग्रहको अपना माना करता

है तब किसी से राग, किसी से द्वेष करता है, इस मोह राग-द्वेष के कारण तीव्र पाप का बंध करता हुआ संसार वनमें भ्रमता है, जिस वन में बुढ़ापा होना और मरना ये दो बड़े बाघ हैं जो इसको पकड़कर दुःखी करते व सताते हैं इसके सिवाय अनेक शारीरिक और मानसिक क्लेश प्राप्त होते हैं इस संसार के भीतर चार गतियां हैं, जहाँ ही जाता है वहां ही आकुलतामें पड़ जाता है। देवगति में भी इंद्रिय भोगों की आकुलता रहती है व इष्ट का वियोग होता रहता है व अन्य की अधिक संपत्तिको देख कर दिल में जलन पैदा होती है। बारबार इस संसारमें मरता है और कष्ट उठाता है। श्रीगुरु कहते हैं— इस मोह के वशमें पड़ा हुआ तुझे अनंतकाल संसार वनमें चक्कर देते हुए और भटकते हुए बीत गया। तू जन्म मरण करता ही रहा और भयानक दुःखों को पाताही रहा, अब कुछ पुण्यके उदयसे यह मानव जन्म पाया है तथा सत्संगति से उस जैनधर्म के रहस्य को जाना है जो जीवों को संसार वन से निकालकर मुक्ति के अचल धाम में विराजमान कर देता है। इसलिए अब प्रमाद को छोड़कर ऐसा कोई उद्यम करना उचित है जिससे इस मोह शत्रुसे पल्ला छूटे और संसार का भ्रमण मिटे और परम निराकुल पद प्राप्त हो। उपाय यही है कि मन को निश्चल किया जावे, मिथ्यादर्शन के विष को उगला जावे, सम्यग्दर्शन रूपी परम अमृत को प्राप्त किया जावे, भेद विज्ञान के प्रताप से आत्मानुभव को जागृत किया जावे, आत्मीक आनंद में विलास किया जावे, यह आनंद भोग ही ऐसा अपूर्व शास्त्र है जो मोहको खंड-२ कर देता है। इसी ही अमोघ शस्त्र से मोह-शत्रुका नाश हो जाता है और यह आत्मा मोह से छूटकर शीघ्र ही अर्हंत परमात्मा होकर अनंत सुख में मग्न हो जाता है, फिर शरीर रहित हो सिद्ध होकर

निराकुल भाव का अनंतकाल के लिए अधिकारी हो जाता है। जैसा श्री ज्ञानार्णव में शुभचन्द्र आचार्य कहते हैं कि इस तरह विचारकर आत्मानुभव पाना चाहिए—

तावन्मां पीडयत्येव महादाहो भवोद्भवः।
यावज्ज्ञानसुधाम्भोधौ नावगाहः प्रवर्तते ॥११॥

भावार्थ—जब तक ज्ञानरूपी समुद्र में मेरा अवगाह नहीं हुआ है तब तक ही संसार से उत्पन्न हुआ महादाह मुझे पीड़ित करता है—

तत्स्वरूपाहितस्वान्तस्तद्गुणग्रामरंजितः।
योजयत्यात्मनात्मानं तस्मिंस्तद्रूपसिद्धये ॥३५॥
अनन्यशरणीभूय स तस्मिल्लीयते तथा।
ध्यातृध्यानोभयाभावे ध्येयेनैक्यं यथा व्रजेत् ॥३७॥
सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतम्।
अपृथक्त्वेन यत्रात्मा लीयते परमात्मनि ॥३८॥

भावार्थ—जो उस शुद्धात्मा के स्वरूपमें मन लगाकर उसीके गुणों में रंजायमान हो जाता है वह अपने से ही अपने आत्माको अपनेमें अपने आत्माके स्वभाव की सिद्धिके लिए जोड़ देता है। वह अन्य वस्तु का आश्रय छोड़कर उस आत्मा में ऐसा लीन हो जाता है कि ध्याता व ध्यान का भेद मिटकर ध्येय पदार्थ से एकतान हो जाता है। यही वह समरसी भाव है, यही एकीकरण है जहाँ आत्मा परमात्मा में एकी भाव से लय हो जाता है। यही आत्मानुभव संसारवन से निकालने वाला मित्र है।

मालिनी छन्द

मरण जरा हिंसा पूरितं भव वनोमें।
कथा दुःख न उठाए मोहके संगतोमें।
करके मन निश्चल यत्न ऐसा उचित कर।
जो संग न आवे स्वप्न में भी कलुषकर ।।१७।।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि यद्यपि यह मानव देह महान अपवित्र है तथापि इससे अपना आत्मकल्याण कर लेना उचित है।

दुर्गंधेन मलोमसेन वपुषा स्वर्गापवर्गश्रियः।
साध्यंते सुखकारणा यदि तदा संपद्यते का क्षतिः।
निर्माल्येन विगर्हितेन सुखदं रत्नं यदि प्राप्यते।
लाभः केन न मन्यते बत तदा लोकस्थितिं जानता ।।१८।।

अन्वयार्थ—(यदि) यदि (दुर्गंधेन) इस दुर्गंध से भरे हुए तथा (मलोमसेन) मलीन (वपुषा) शरीर से (सुखकारिणाः) सुख को करने वाली (स्वर्गापवर्गश्रियः) स्वर्ग और मोक्ष की संपत्तियां (साध्यंते) प्राप्त की जाती हैं (तदा) तब (का) क्या (क्षतिः) हानि (संपद्यते) होती है। (यदि) यदि (विगर्हितेन) निंदनीय (निर्माल्येन) निर्माल्य के द्वारा (सुखदं रत्नं) सुखदाई रत्न (प्राप्यते) मिल जावे (तदा) तब (लोकस्थितिं) जगतकी मर्यादा को (जानता) जाननेवाले (केन) किस पुरुषसे (लाभः) लाभ (न मन्यते) न माना जाएगा।

भावार्थ—यहां आचार्य बतलाते हैं कि यह शरीर परम अपवित्र दुर्गंधमय है—हाड़, चाम, मांस, रुधिर आदि का बना हुआ है। निरन्तर अपने करोड़ों रोमोंसे और मुख्य नव द्वारोंसे मैलको ही निकालता है, पवित्र जल चंदनादि पदार्थभी जिसकी

संगति में आकर मलीन हो जाते हैं, तथा यह ऐसा कच्चा है कि जैसे कच्ची मिट्टी का घड़ा। जराभी रोग शोक आदि क्लेशोंकी ठोकर लगती है कि यह शरीर खंडित हो जाता है। इस शरीर में रात दिन बाधाएं रहती हैं, कभी भूख, कभी प्यास, कभी आलस्य सताता है, कभी चिंता की आग में जला करता है। शरीराधीन इंद्रियोंके भोगकी चाह महान जलन पैदा करती है। इष्ट पदार्थोंका वियोग परम आकुलित कर देता है। इस शरीर का मोह जीवको नरक निगोद की दुर्गति में पटके देनेवाला है। तथापि जो कोई बुद्धिमान प्राणी है वह ऐसे शरीर से मोह नहीं करते किन्तु इसको स्थिर रखते हुए इसके द्वारा परम सुख दाई मोक्षपद या साताकारी स्वर्गपद प्राप्तकर लेते हैं। क्योंकि बिना मानवदेहके उच्चस्वर्गपदोंका व मुक्तिपदका लाभ नहींहो सकता है। इसमें वे अपनी कुछ हानि नहीं मानते हैं; क्योंकि यह देह तो बहुत कष्टप्रद है व शीघ्र मरणके आधीन है, इसका मोह तो उल्टी तीव्र हानि करता है तब यही उचित है कि इसको चाकर की तरह अपने वश में रक्खा जावे और इसको ध्यान स्वाध्याय आदि तप साधनमें लगा दिया जावे। तब आत्मज्ञान के बलसे यहां भी कष्ट नहीं और फल ऐसा मिले कि जिसकी जरूरत थी व जिसके बिना संसार में महादुःखी था, यदि किसीके पास कोई निरर्थक वस्तु ऐसी हो जिसका रखना निंदनीय हो व जिससे कोई मतलब न निकलता हो तब यदि कोई कहे कि यह वस्तु तू दे दे और बदले में सुखदायी अमोलक रत्न तू ले ले तो बुद्धिमान मानव जरा भी संकोच व देर न करेगा और बड़ा ही लाभ मानकर उस रत्न को ले लेगा।

प्रयोजन कहने का यह है कि बुद्धिमान प्राणी को उचित है

कि इन्द्रियों के विषयभोगों में इस शरीरको रमाकर अपना बुरा न करें। यह शरीर तो कानेसाठे (गन्ने) के समान है जिसको खाने से मजा नहीं आता है परन्तु यदि उसे बो दिया जावे तो मीठे-२ साठोंको पैदा करता है। इसी तरह इस शरीरके भोगने में शांति नहीं मिलती है किन्तु यदि इसे तप संयम ध्यान में लगा दिया जावे तो मोक्षके अपूर्व सुखोंको व स्वर्गके राज्यकारी सुखों को पैदा करा देता है। इसलिए शरीर से मोह छोड़कर आत्महित करना ही श्रेय है। श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णव में कहते हैं—

अजिनपटलगूढं पंजरं कीकसानाम् ।
कुथितकुणपगन्धैः पूरितं मूढ गाढम् ।
यमवदननिषण्णं रोगभोगीन्द्रगेहं ।
कथमिह मनुजानां प्रीतये स्याच्छरीरम् ॥१३

भावार्थ—हे मूढ़ प्राणी! इस संसारमें यह मनुष्योंका शरीर चर्मके पर्देसे ढका हुआ हाड़ोंका पिंजरा है, बिगड़ी हुई पीप की दुर्गंध से खूब भरा हुआ है तथा रोगरूपी सर्पों का घर है और काल के मुख में बैठा हुआ है, तब ऐसे शरीर से किस तरह प्रेम किया जावे। श्री पद्मनंदि मुनि शरीराष्टक में कहते हैं—

भवतु भवतु यादृक् तादृगेतद्वपुर्मे ।
हृदि गुरुवचनं चेदस्ति तत्तत्त्वदर्शि ।
त्वरितमसमसारानंदकंदायमाना ।
भवति यदनुभावादक्षया मोक्षलक्ष्मीः ॥७॥

भावार्थ—यद्यपि यह शरीर ऐसा अपवित्र क्षणिक है सो ऐसा ही रहो परन्तु यदि परम गुरुका वचन जो तत्त्व को दिखलाने-वाला है मेरे मनमें रहे तो उसके प्रभाव से अर्थात् उस उपदेश

पर चलने से मुझे इसी शरीर द्वारा अनुपम और अविनाशी आनन्द से भरिपूर मोक्षलक्ष्मी शीघ्र ही प्राप्त हो जावे।

इसलिए इस नरतन से धर्म पालकर स्वात्म लाभ कर लेना ही उचित है।

मूलश्लोकानुसार छन्द गीता

यदि अशुचि शरीरं साधता सौख्यकारी।
दिव शिवपद अनुपम हानि क्या तब विचारी ॥
निश्चित तनु वस्तु छोड़ते रत्न पावे !
बुधजन तब यामें लाभ ही लाभ भावे ॥८१॥

उत्थानिका - आगे कहते हैं कि बुद्धिमानों को उचित है कि सर्व संकटों को दूर करने वाले जैनधर्म का पालन करें!

मृत्यूत्पत्तिवियोगसंगमभयव्याध्याधिशोकादयः ।
सूयंते जिनशासनेन सहसा संसारविच्छेदिना ॥
सूर्येणेव समस्तलोचनपथप्रध्वंसबद्धोदया ।
हन्यंते तिमिरोत्कराः सुखहरा नक्षत्रविक्षेपिणा ॥९१॥

अन्वयार्थ—(नक्षत्रविक्षेपिणा सूर्येणेव) जैसे नक्षत्रोंको छिपाने वाले सूर्य के द्वारा (समस्तलोचनपथप्रध्वंसबद्धोदयाः) सबकी आंखों में देखने की शक्ति को रोकने वाले (सुखहराः) और सुख को हरने वाले (तिमिरोत्कराः) अंधकार के समूह (हन्यंते) नाशकर दिए जाते हैं वैसेही (संसारविच्छेदिना) संसारको नाश-करने वाले (जिनशासनेन) जिनशासन या जैनधर्म के द्वारा (मृत्यूत्पत्तिवियोगसंगमभयव्याध्याधिशोकादयः) मरण, जन्म, इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग, भय, रोग, मनका क्लेश, शोक आदि (सहसा) एकदम (सूयंते) दूरकर दिए जाते हैं।

भावार्थ— इस श्लोकमें आचार्यने जैनधर्मकी यथार्थ महिमा बताई है और उसको उपमा सूर्य से दी है। सूर्य के सामने जैसे और नक्षत्रों का तेज छिप जाता है वैसे जैनधर्मके स्याद्वाद नय-गर्भित अनेकांत उपदेश के सामने एकांत तत्व को पोखने वाले मतोंका तेज धुंधला हो जाता है। जैसे सूर्य के प्रकाश से सहज [illegible] रात्रिका अंधकार जिसके कारणके आंखोंके रहते हुए भी प्राणी देख नहीं सकते हैं व जो देखनेके सुखके रोकनेवाला है सो एकदम दूर हो जाता है। उसी तरह जिनशासनके सेवन से जन्म-मरणादि दुःखोंसे परिपूर्ण संसारका ही नाश हो जाता है, संसार का कारण रागद्वेष मोह है। जिनशासन वीतराग विज्ञान है। अथवा अभेद रत्नत्रयमई है, अथवा शुद्ध आत्मा का ध्यान या शुद्धात्मानुभव है। जिस समय यह स्वानुभव जगता है तुर्त मन-का क्लेश व शोकादि भावों को हटा देता है। इष्ट वियोग व अनिष्ट संयोग की चिन्ता को मिटा देता है। ध्याता को निर्भय बना देता है। स्वानुभव से ही पापों का नाश होता है। यह स्वानुभव ही उच्च श्रेणी पर पहुंचा हुआ शुक्लध्यान कहलाता है जिसके प्रतापसे घातिया कर्मोंका नाश होकर यह जीव अर्हंत हो जाता है, फिर शेष चार अघातिया कर्मोंका भी क्षयकर सिद्ध परमात्मा हो जाता है। अब इसका न जन्म होता है न मरण होता है। यह जीव सिद्धपदमें निश्चलता से अनंतकाल स्थित रहता है और अपने आत्मीक आनंदका विलास करता है। जिस जैनधर्मके सेवनसे यहां भी सुख होता है और परलोकमें भी सुख होता है उसकी ओर श्रद्धाभाव रखकर उसका आचरण करना निरंतर उचित है, जो इस मानवजन्मको पाकर जिनशासनरूपी जहाज पर चढ़ जाते हैं वे अवश्य निःशंक होकर संसार-समुद्रको

तय करते रहते हैं। अतएव हरएक बुद्धिमान प्राणी को जैनधर्म से प्रेम करना उचित है, यह आत्मस्वातंत्र्यका पाठ सिखाता है और अहिंसा के अद्भुत भाव को जगाता है। यह जगत के प्राणियों के दुःख मिटाने को दयाभाव जगाता है। यह अन्याय पथ से बिलकुल हटा देता है। यह जीवको समदर्शी व वीतरागी बना देता है। यह सांसारिक सुख-दुःखोंके भीतर भी समताभाव रखने की युक्ति बता देता है। यह अपने निश्चय दृष्टिरूपी शस्त्र से राग-द्वेष के कुभावों को विध्वंश कर डालता है। यह निरंतर ज्ञानरसको पिलाता है, तृष्णाकी दाहको शमन कराता है और जीवको निर्भय बनाकर साहसी और निरा-कुल कर देता है। इस जैनधर्मकी महिमा अपार है, वचन अगोचर है।

श्री पद्मनंदि मुनि धर्मोदेशामृत में इस रत्नत्रय धर्म की महिमा इस तरह गाते हैं—

भयभुजंगनागदमनी दुःखमहादावशमनजलवृष्टिः।
मुक्तिसुखामृतसरसी जयति दृगादित्रयी सम्यक्॥८॥

भावार्थ—यह सम्यक्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र रूपी रत्नत्रयमयी जैनधर्म संसाररूपी सर्प के हटाने को नाग दमनी औषधि है, दुःखोंकी महान आगको बुझानेके लिए जलकी वृष्टि है तथा मोक्षसुख रूपी अमृतका सरोवर है सो जयवन्त रहो।

मूल श्लोकानुसार मालिनि छन्द

जनम मरण व्याधि आधि भय शोक आदि।
सहज नशत जासे जैन शासन अनादी॥
भानु जिम नाश करता दुःखकर जग अन्धेरा।
जलवृष्टि विराधक तेज नशत गैरा॥१६॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जिसका लक्ष्य शुद्धात्मा की तरफ है वही शुद्धात्मभाव को पाता है—

मन्दाक्रांता छन्द

चित्रारंभप्रचयनपरा सर्वदा लोकयात्रा ।
यस्य स्वान्ते स्फुरति न मुनेर्मुष्णती लोकयात्राम् ।
कृत्वात्मानं स्थिरतरमसावात्मतत्त्वप्रचारे ।
क्षिप्त्वाशेषं कलिलनिचयं ब्रह्मसद्म प्रयाति ॥२०॥

अन्वयार्थ—(यस्य) जिस (मुनेः) मुनिके (स्वान्ते) अंतःकरण में (चित्रारंभप्रचयनपरा) नाना प्रकार हिंसादि आरंभामें लगने वाली (लोकयात्राम मुष्णती) व मोक्षकी यात्राको रोकने वाली (लोकयात्रा) लौकिक प्रवृत्ति (सर्वदा) कभी ही (न स्फुरति) नहीं प्रकट होती है (असौ) वही साधु (आत्मतत्त्वप्रचारे) आत्मीकतत्व के मनन में (स्थिरतरं) अतिदृढ़ (आत्मानं) अपने आत्मा को (कृत्वा) करके (अशेषं) सर्व (कलिलनिचयं) कर्मों के मैल के ढेरको (क्षिप्त्वा) दूर फेंककर (ब्रह्मसद्म) ब्रह्मलोक या सिद्ध-लोक को (प्रयाति) चला जाता है।

भावार्थ—यहाँ आचार्य ने बताया है कि सिद्धि उसीको हो सकती है जो उसके लिए भले प्रकार पुरुषार्थ करता है। मुनि-गण ही मोक्षपद पानेके अधिकारी हैं। गृहस्थी आरम्भ परिग्रह के मैलसे मलीन रहते हुए गजस्नानवत् आचरण करते हैं, यदि उन्होंने कुछ ध्यानादि करके पाप धोया भी तो दूसरे समय आरंभोंमें उलझकर फिर पापोंका बंध कर लिया, इसलिए वेही सच्चे साधु मोक्षको पा सकते हैं जिनके अंतरंगमें संसारके सब प्रकारके आरंभसे ऐसी उदासीनता हो गई है कि वे कभी किसी

असि मसि कृषि आदि कर्मका व रसोई पानी बनवाने आदिका रंचमात्र भी विचार नहीं करते हैं। वे जानते हैं कि ये संसारके व्यवहार राग-द्वेषको बढ़ानेवाले, चितामें फंसानेवाले और स्वानुभव रूप मोक्ष की यात्राके मार्ग से हटाने वाले हैं, इसलिए वे राज्यपाट गृहनगर आदिको छोड़कर अत्यंत दूर एकांत निर्जन वनों में निवास करते हैं, अपने मनमें रात-दिन मुक्ती सुन्दरीके मिलने की उत्कंठामें लगे रहते हैं, वे साधुजन अपने ही आत्माके निश्चय स्वरूप का विचार करते हैं और उसी आत्मानुभव में थिरता पाने का उद्यम करते हैं। जितना-२ आत्मानुभव बढ़ता जाता है और वीतरागताकी वृद्धि होती जाती है, उतना उतना ही कर्मोंका अधिक क्षय होता जाता है और बंधका अभाव होता जाता है। आत्मसमाधिरूपी नौकापर चढ़े हुए साधु आत्मानन्द को पाते हुए बड़े सुखसे इस संसारकी विशाल यात्राको उल्लंघन करके मोक्षमें पहुंच जाते हैं।

प्रयोजन कहने का यह कि जो ब्रह्मानन्दके स्वादके चाहनेवाले हैं उनको सर्व आरंभ परिग्रह से विरक्त होकर साधु के चारित्रको पालते हुए आत्मध्यानका अभ्यास बढ़ाना जरूरी है। जिन साधुओंकी दृष्टि सदा आत्मानुभवकी तरफ लगी रहती है वे ही साधु शीघ्र मुक्तिको पहुंच जाते हैं।

जैसा श्री पद्मनंदि मुनि ने सद्बोधचंद्रोदय में कहा है कि आत्मध्यान ही मुख्य है—

आत्मबोधशुचितीर्थमद्भुतम् स्नानमत्र कुरुतोत्तमं बुधाः।
यन्न यात्यपरतीर्थकोटिभिः क्षालयत्यपि मलं तदंतरम् ॥२०

भावार्थ—हे बुद्धिमानों ! आत्मज्ञानरूपी पवित्र तीर्थ एक आश्चर्यकारी तीर्थ है, इसमें बराबर भले प्रकार स्नान करो। जो कर्ममल अन्तरङ्ग में है व जिसको अन्य करोड़ों तीर्थ धो नहीं सकते उस मैलको यह आत्मज्ञान रूपी तीर्थ धो देता है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

जिस मुनिके मनमें लोक व्यवहार सारा।
शिव पथ हर्तारा घोर आरम्भ कारा।
नहिं होत सुसाधु आत्म तत्त्वे विहारी।
कर क्षय मल सर्व शुद्ध पद लेत भारी ॥२०॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि कामविकार बड़ा प्रबल है, इसने सर्व जगत को वश कर लिया है।

नो वृद्धा न विचक्षणा न मुनयो न ज्ञानिनो नाधमाः।
नो शूरा न विभीरवो न पशवो न स्वर्गिणो भीजाः।
दृश्यंते समवर्तिनेव सकला लोकत्रयव्यापिना।
दुर्वारेण मनोभवेन नयता हत्वांगिनो वश्यता ॥२१॥

अन्वयार्थ—(समवर्तिना इव)समवर्ती जो यमराज या मरण उसके समान (लोकत्रयव्यापिना) तीन लोक व्यापी (दुर्वारेण) महान कठिनता से दूर करने योग्य तथा (अंगिनः)शरीरधारियों को (हत्वा) मार करके (वश्यतां नयता) अपने वश करने वाले (मनोभवेन) कामदेव के द्वारा (नो वृद्धाः) न तो वृद्ध (न विचक्षणाः) न चतुर (न मुनयः) न साधुजन (न ज्ञानिनः) न ज्ञानी लोग(न अधमाः) न नीच पुरुष(नो शूराः) न वीर मानव (न विभीरवः)न डरपोक जन(न पशवः)न पशुगण(न स्वर्गिणः)

न स्वर्ग के देवता (न अण्डजाः) न पक्षीगण (सकलाः) ये सर्व ही (न त्यजन्ते) नहीं छोड़े जाते हैं।

(नोट—यहां एक न ऊपर से लगाना उचित है।)

भावार्थ—जैसे मरण के आधीन सर्व शरीरधारी प्राणी हैं वैसे कामदेव के आधीन सर्व प्राणी हो रहे हैं। मरण जैसे तीन लोक के प्राणियों को सताता है वैसे कामदेव भी प्रायः सब प्राणियों को सताता है जैसे मरण को निवारा नहीं जा सकता वैसे कामदेव को निवारना कठिन है। जैसे मरण को बुद्धिवान, मूर्ख, धनवान, निर्धन, साधु, संत, वीर, कायर, पशु, पक्षी, देव, नारकी आदि किसी भी शरीरधारी को नहीं छोड़ता है वैसे ही कामदेव ने प्रायः सब शरीरधारियों को सता रक्खा है। मैथुन संज्ञा अर्थात् काम की चाह एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवों में है। यहां तक आचार्यने कामदेवकी प्रबलता इसीलिए दिखाई है कि यह कामभाव परिणामों को बहुत रागी व मोही बना देता व इसके वश में बड़े-२ साधु व वीर पुरुष भी आकर कायर व दीन हो जाते हैं। यह काम इस जीव का महान शत्रु है। इस जन्म में यह काम प्राणी को अन्धा बनाकर धर्म कर्म से भ्रष्ट कर देता है तथा धर्म अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थों से हटा देता है और परलोक में दुर्गति में पटक देता है। जहाँ से भ्रमण करते-२ मानवजन्म पाना बहुत दुष्कर हो जाता है। जिन स्त्री पुरुषों ने कामभाव को जीता है वे ही साम्यभाव में भले प्रकार रम सकते हैं, वे ही सच्चे सुख व शांतिको प्राप्त कर सकते हैं। कामभाव से बचने के लिए हरएक बुद्धिमान प्राणी को सदा ही यत्न करना योग्य है। ब्रह्मभाव और कामभाव में वैर है। ब्रह्म-भाव जब निराकुलताका कारण है तब कामभाव तीव्र आकुलता

का कारण है। तत्त्वभावना का महान घातक यह कामदेव है। श्री पद्मनंदि मुनि ब्रह्मचर्य रक्षा में ऐसा कहते हैं :—

चेतो भ्रांतिकरी नरस्य मदिरा प्रीतिर्यथा स्त्री तथा।
तत्संगेन कुतो मुनेर्व्रतविधिः स्तोकोऽपि संभाव्यते॥
तस्मात्संसृतिपातभीतमतिभिः प्राप्तैस्तपोभूमिकाम्।
कर्तव्यो व्रतिभिः समस्तयुवतित्यागे प्रयत्नो महान्॥

भावार्थ—जैसे मदिरा मनुष्यके चित्तमें भ्रांति पैदाकर देती है वैसे ही स्त्री की प्रीति मनको बावला बना देती है। ऐसी स्त्री की संगति में किस तरह थोड़ा भी मुनिका व्रत संभव हो सकता है ? इसलिए जो संसार सागर में डूबने से भयवान हैं और तप की भूमि में प्राप्त हो चुके हैं ऐसे व्रतियों को उचित है कि सर्व स्त्रियों के त्याग में महान उद्यम रखें। मन की शुद्धि काम भाव के त्याग से ही होती है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

यम सम दुर्वारं काम कुत्सितविकारं।
जगत जनोंको है पीड़ता हन अपारं॥
पशु देव सु वीरं वृद्ध मुनि ज्ञानधारं।
प्राणी सब मोहे कामको कर निवारं॥२१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इस कामभाव को वैराग्य व आत्मध्यान से जीतना उचित है।

शश्वद्दुःसहदुःखदानचतुरो वैरी मनोभूरयम्।
ध्यानेनैवनिपात्यते न तपसा संगेन न ज्ञानिनाम्।
देहात्मव्यतिरेकबोधजनितं स्वाभाविकं निश्चलं।

वैराग्यं परमं विहाय शमिनां निर्वाणदानक्षमम् ॥२२॥

अन्वयार्थ—(अयम) यह (मनोभूः) कामभाव (शश्वत्) सदा ही (दुःसहदुःखदानचतुरः) असहनीय दुःख देने में चतुर (वैरी) शत्रु है। इसको (ध्यानेन एव) आत्मध्यान से ही (नियम्यते) वश किया जा सकता है। (न तपसा) न तो तप करने से (न ज्ञानिनाम संगेन) न ज्ञानियों की संगति से यह वश होता है अथवा (शमिनां) शांत चित्तवालोंको (निर्वाणदानक्षमं) मुक्ति देने में समर्थ जो (देहात्मव्यतिरिक्तबोधजनितं) देह और आत्माके भिन्न-२ ज्ञानसे उत्पन्न (निश्चलं) निश्चल (स्वाभाविकं) व स्वाभाविक (परमं) उत्कृष्ट (वैराग्यं) वैराग्य है (विहाय) उसको छोड़कर और कोई उपाय नहीं है।

भावार्थ—यहां पर आचार्य ने कामभाव मिटाने के लिए आत्मध्यान को ही मुख्य कारण बताया है और उस आत्मध्यान को ही उत्तम वैराग्य कहा है। यह बात बिलकुल ठीक है कि जहां वैराग्य होता है वहीं राग मिटता है यदि वैराग्य न हो और नाना प्रकार के तप किए जावें तथा विद्वान पंडितों की संगतिमें रहकर ज्ञान की चर्चा सुनी जावे तब भी कामका विकार मनसे नहीं हटता है। इसलिए स्वाभाविक वैराग्य की प्राप्ति करनी उचित है। शरीर और आत्मा इन दोनों का सम्बन्ध दूध और पानी की तरह एकमेक हो रहा है। जिसने जिनवाणीके अभ्यास से भलेप्रकार समझ लिया है कि आत्मा का स्वभाव भिन्न है और शरीर का स्वभाव भिन्न है उसीनें आत्माके सच्चे स्वरूप का पता पाया है। आत्मा स्वतन्त्र एक द्रव्य है-गुणपर्यायमय है, चेतना, सुखचरित्र (वीतरागता) वीर्य सम्यक्त्व आदि इसके विशेष गुण हैं। तथा इन गुणों में परिणमन होना सो पर्यायें या

अवस्थाएं हैं। आत्मा असलमें शुद्ध गुण व शुद्ध पर्यायों का धनी है। यह अमूर्तीक है। इसमें न क्रोधादि विकार रूप भावकर्म हैं, न ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप द्रव्यकर्म हैं, न शरीरादि नोकर्म हैं। संसार संबंधी भाव कि मैं सुखी हूं या दुःखी हूं यह भी मोह का विकार है। सांसारिक सुख तृप्तिकारक नहीं है, पराधीन है, जब कि आत्मीक सुख स्वाधीन व परम संतोषकारक है। ऐसा भेद विज्ञान जिस किसीके चित्त में हो जाता है और जो इस भेद विज्ञान के बल से आत्माको सर्व अन्य द्रव्यों से व सर्व प्रकार अशुद्ध भावों से भिन्न अनुभव करता है उसको अभ्यासके बल से आत्मीक आनन्द का बढ़िया स्वाद आने लगता है। तब उसकी बुद्धि से इन्द्रिय सुख की रुचि हट जाती है। बस यही वह बीज है जिससे कामभावको जीता जा सकता है। जिसको बार-बार आत्मज्ञान के अभ्यास से चित्त की निश्चलता हो जाती है और दृढ़ उदासीनता संसारके कामोंसे हो जाती है व निजसुख के भोगनेकी तीव्र रुचि बढ़ जाती है, उसके दिल से कामभाव बिलकुल निकल जाता है। आत्मज्ञान सहित जो वैराग्य है वही कर्मोंकी निर्जरा करता है। इस आत्मज्ञान सहित वैराग्यके लिए उपवास करना, रस त्यागना आदि तप, तथा ज्ञानियोंकी संगति में बैठकर शास्त्रका विचार करना निमित्त है, जो आत्मध्यानकी खोज इन निमित्तों को मिलाकर नहीं करता है उसके मनमें कामभाव का वैरी ब्रह्मज्ञान नहीं पैदा होता है। इसीलिए आचार्य ने दिखाया है कि आत्मध्यान और वैराग्य के बिना, मात्र तप व मात्र ज्ञानियों की संगति करना कामदेव को नाश नहीं कर सकते।

मुख्य आत्मानुभव है, यही औषधि है जिससे वैराग्य आजाता है और काम का राग मिट जाता है। इसलिए जो सच्चे हितके वांछक हैं उनको वैराग्य सहित आत्मध्यान का अभ्यास सदा करना चाहिए। ध्यानके सम्बन्ध में विशेष कथन पुस्तकके अन्त में दिया गया है वहांसे पाठक ध्यानकी रीतियों को समझें। यहां यह मतलब है कि कामभावको आत्माकी उन्नति का परम वैरी समझकर उसके नाश करने के उपाय में लगे रहें तथा उसके आक्रमण से बचने के लिए सदा सावधान रहें। यह बात अच्छी तरह समझ लें कि कामकी उत्पत्ति मनमें होती है। जिसके मन में ब्रह्मभावका स्वाद आजाता है वही मन कामभावके स्वादको बुरा जानने लगता है। जैसे किसी मनुष्य ने अपने ग्रामके खारे कुएं का पानी पिया है और वह उसे ही मीठा समझ रहा है। एक दिन वह दूसरे ग्राम में जाता है और वहां उसे मीठे कुएंका मीठा पानी कोई पिलाता है, तब उसका भाव एकदम फिर जाता है। वह जब इस मीठे पानी के स्वाद का मुकाबला अपने कुएंके खारे पानीके स्वादसे करता है तब इसको यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि असली मीठा पानी तो वह है जो आज पिया है। अब तक जो मैंने अपने ग्रामके कुएंके पानीको मीठा समझा था सो मेरी भूल थी। इसी तरह जब आत्मध्यान से आत्मानन्द का स्वाद आने लगता है तब विषय सुख विरस है, सच्चा सुख नहीं है यह बुद्धि जमती है। इसलिए आत्मध्यानका ही उपाय करना परम श्रेयस्कर है। श्री पद्मनंदि मुनि ने सद्बोधचंद्रोदय में कहा है कि आत्मध्यान ही परम कल्याणकारी है—

बोधरूपमखिलैरुपाधिभिः वर्जितं किमपि यत्तदेव नः।
नान्यदल्पमपि तत्वमीदृशम् मोक्षहेतुरितियोगनिश्चयः ॥२५

भावार्थ—जो आत्मतत्व सर्व रागादि उपाधियों से रहित है तथा ज्ञानमय है वही तत्त्व हमको इष्ट है। उसके समान और कोई भी अल्प भी तत्व मोक्ष का कारण नहीं है। यही योग का निश्चय या सार है। अर्थात् आत्मतत्व के अनुभव से ही मुक्ति हो सकती है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

दुःसह दुखकारी, काम रिपु कर निवारी।
कर आतम ध्यानं: चित्त वैराग्य धारी॥
या बिनबुध संक्लं, औ तप नाहि नशावें।
लख आतम भिन्नं, देह से मुक्त पावे॥२२॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो अविवेकी हैं वे सदा संसारचक्र में भ्रमण करते रहते हैं—

कः कालो मम कोऽधुना भवमहं वर्त्ते कथं सांप्रतम्।
किं कर्मात्र हितं परत्र मम किं किं मे निजं किं परम्।
इत्थं सर्वविचारणाविरहिता दूरीकृतात्मक्रियाः।
जन्मांभोधिविवर्तपातनपराः कुर्वन्ति सर्वाः क्रियाः॥२३॥

अन्वयार्थ—(मम) मेरा (कः) कौन सा (कालः) काल है (अधुना) अब (कः) कौन सा (भवम्) जन्म है (सांप्रतम्) वर्तमान में (अहं) मैं (कथं) किस तरह (वर्ते) वर्ताव करूँ (अत्र) इस जन्ममें (मम) मेरा (किं कर्म) कौनसा कार्य (हितं) हितकारी है (परत्र)पर जन्ममें (किं)कौनसा कर्म हितकारी है। (मे) मेरा (निज) अपना(किं) क्या है (परम्) पर (किं)क्या है (इत्थं)इस प्रकारकी(सर्वविचारणाविरहिता)सर्वविवेक बुद्धिको न करते हुए (दूरीकृतात्मक्रियाः)तथा आत्माका आचार दूर ही

रखते हुए जगत के जन (जन्मांभोधिविवर्तपातनपराः) संसार-समुद्र के भँवर में पटकने वाले (सर्वाः क्रियाः) सर्व आचरणोंको (कुर्वन्ति) करते रहते हैं।

भावार्थ—यहां पर आचार्य ने दिखलाया है कि विवेकी पुरुष व स्त्रियों को नीचे लिखे प्रकार प्रश्नों को व उत्तरोंको विचारते रहना चाहिए—

(१) मेरा कौन-सा काल है ?

उत्तर—मेरा काल बालक है, युवा है या वृद्ध है, अथवा यह समय कैसा है। सुभिक्ष है या दुर्भिक्ष है। रोगाक्रांता है या निरोग है। अन्यायी राज्य है या न्यायवान राज्य है, चौथा काल है या पांचमा दुखमा काल है।

(२) मेरा अब कौन-सा जन्म है ?

उत्तर—मैं इस समय मानव हूं, देव हूं या नारकी हूं राजा हूं या रंक हूं।

(३) मैं अब किस तरह वर्ताव करूं ?

उत्तर—इसका उत्तर विचार करते हुए अपना ध्येय बना लेना चाहिए कि मैं क्या इस समय मुनिव्रत पाल सकता हूं या क्षुल्लक, ऐलक व ब्रह्मचारी श्रावक हो सकता हूं, या मैं गृहस्थमें रहते हुए धर्म साध सकता हूं, या मैं गृहस्थ में रहते हुए कौनसी प्रतिमा के व्रत पाल सकता हूं, या मैं आजीविका के लिए क्या उपाय कर सकता हूं अथवा मैं परोपकार किस तरह कर सकता हूं।

(४) इस जन्म में मेरा हितकारी कर्म क्या है ?

उ०—मैं इस जन्ममें मुनि होकर अमुक-२ शास्त्र लिख सकता

हूँ व अमुक देश, जिले में जाकर धर्म का प्रचार कर सकता हूँ अथवा मैं गृहस्थ में रहकर धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थों को साध सकता हूँ। और धन से अमुक-२ परोपकार कर सकता हूँ।

(५) परलोक में मेरा हित क्या है ?

उ०—मैं यदि परलोक में साताकारी सम्बन्ध पाऊँ, जहाँ मैं सम्यग्दर्शन सहित तत्त्वविचार कर सकूं, तीर्थंकर केवली का दर्शन कर सकूं, उनकी दिव्यध्वनि को सुन सकूं, मुनिराजों के दर्शन करके सत्संगति से लाभ उठा सकूं, ढाईद्वीप के व तेरहद्वीप के अकृत्रिम चैत्यालयों के दर्शन कर सकूं, तो बहुत उत्तम है जिससे मैं परम्परा से मोक्ष धाम का स्वामी हो सकूं।

(६) मेरा अपना क्या है ?

उ०—मेरा अपना, मेरा आत्मा है; सिवाय अपने आत्मा के कोई अपना नहीं है। आत्मा में जो ज्ञानदर्शन, सुख, वीर्यादि गुण हैं वे ही मेरी सम्पत्ति है। मेरा द्रव्य अखण्ड गुणों का समूह मेरा आत्मा है। मेरा क्षेत्र असंख्यात प्रदेशी मेरा आत्मा है। मेरा काल मेरे ही गुणों का समय-२ शुद्ध परिणमन है। मेरा भाव मेरा शुद्ध ज्ञानानंदमय स्वभाव है। सिवाय इसके कोई अपना नहीं है।

(७) मेरे से अन्य क्या है ?

उ०—मेरे स्वभाव से व मेरी सत्ता से भिन्न सर्व ही अन्य आत्माएँ हैं, सर्व ही अणु व स्कंधरूप पुद्गल द्रव्य हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाश तथा काल द्रव्य हैं, मेरी सत्ता में जो मोह के निमित्त से रागादि भाव होते हैं ये भी मेरे नहीं हैं न किसी प्रकार का कर्म व नोकर्म का संयोग मेरा अपना है, ये सब पर हैं।

जो विवेकी इन प्रश्नों को बिलकुल विचार नहीं करते हैं वे आत्मोन्नति से सर्वथा दूर रहते हैं। वे वह कुछ भी आचरण नहीं पालते हैं। जिससे आत्मा को सुख शांति प्राप्त हो। वे रातदिन संसार के मोह में फँसे रहते हैं और विषय कषाय सम्बन्धी अनेक न्याय व अन्याय रूप कार्यों को करते हुए अनेक प्रकार के कर्म बांध संसार-सागर में गोते लगाते रहते हैं। ऊपर लिखित विवेक जिनमें होता है वास्तव में वे ही मानव हैं। जिनमें यह विचार नहीं है वे पशुतुल्य नितान्त अज्ञानी तथा मूर्ख हैं, मानव जन्म को पाकर जो विषयों में खो देते हैं वे महा अज्ञानी हैं।

श्री ज्ञानार्णव में शुभचन्द्र जी कहते हैं—

अत्यन्तदुर्लभेष्वेषु दैवाल्लब्धेष्वपि क्वचित्।
प्रमादात्प्रच्यवन्तेऽत्र केचित् कामार्थलालसाः ॥
सुप्राप्यं न पुनः पुंसां बोधिरत्नं भवार्णवे।
हस्ताद् भ्रष्टं यथा रत्नं महामूल्यं महार्णवे ॥१२॥

भावार्थ—मानव जन्म, उत्तम कुल, दीर्घ आयु, इन्द्रियों की पूर्णता, बुद्धि की प्रबलता, साताकारी सम्बन्ध ये सब अत्यन्त दुर्लभ हैं। पुण्य योग से इनको पाकर भी जो कोई प्रमाद में फँस जाते हैं व द्रव्य के और कामभोगों के लालसावान हो जाते हैं, वे रत्नत्रयमार्ग से भ्रष्ट रहते हैं। इस संसाररूपी समुद्र में रत्नत्रय का मिलना मानवों को सुगमता से नहीं होता है। यदि कदाचित् अवसर आ जावे तो रत्नत्रय धर्म को प्राप्त करके रक्षित रखना चाहिए। यदि सम्हाल न की तो जैसे महासमुद्र में हाथसे गिरे हुए रत्न का मिलना फिर कठिन है उसी तरह फिर रत्नत्रयका मिलना दुर्लभ है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

कैसा है काल कौन है जन्म मेरा,
किस विध वर्तूं मैं क्या सुहित अब मेरा।
परलोके हित क्या, क्या जु अपना पराया,
ऐसे चिन्ते बिन, भव उदधि निज डुबाया॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि साधु मार्ग ही मुक्ति का कारण है—

शार्दूलविक्रीडित छन्द

येषां काननमालयं शशधरो दीपस्तमश्छेदकः।
भैक्ष्यं भोजनमुत्तमं वसुमती शय्या दिशस्त्वम्बरम्॥
संतोषा मृतपानपुष्टवपुषो निर्धूय कर्माणि ते।
धन्या यांति निवासमस्तविपदं दीनैर्दुरापं परैः॥२४॥

अन्वयार्थ—(येषां) जिन महात्माओं का (आलयं) घर (काननं) जंगल है, (तमश्छेदकः) अंधकार को नाशने वाला (दीपः) दीपक (शशधरः) चन्द्रमा है, (उत्तमं भोजनं) उत्तम भोजन (भैक्ष्यं) भिक्षा द्वारा हाथ में रक्खा हुआ भोजन लेना है, (शय्या) सोनेका पलंग (वसुमती) भूमि है, (तु) तथा (अम्बरं) कपड़ा (दिशः) दिशाएँ हैं (ते) वे (संतोषामृतपानपुष्टवपुषः) संतोषरूपी अमृत के पानसे अपने शरीर को पुष्ट करने वाले (धन्याः) धन्य साधु (कर्माणि) कर्मों को (निर्धूय) धोकर (परैः दीनैः) दूसरे दीन पुरुषों से (दुरापं) न प्राप्त करने योग्य (अस्तविपदं) सर्व आपत्तियों से रहित निराकुल (निवासं) मोक्षस्थान को (यांति) प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ—यहां आचार्य ने दिखलाया है कि निर्ग्रन्थ लिंगधारी साधु महात्मा ही मोक्ष के अधिकारी हैं।

जिन महात्माओंने धन धान्यसे भरे हुए घरको छोड़कर जंगलको ही अपना घर बना लिया है, तेलबत्ती से बने हुए दीपकको छोड़कर चंद्रमाहीसे दीपकका कामलेना शुरू किया है, नानाप्रकार मनोज्ञ मिठाई पकवान भोजन छोड़कर भिक्षा द्वारा प्राप्त नीरस सरस भोजनको लेना ही अपना कर्तव्य समझा है, जिन्होंने पलंग गद्दे आदि मुलायम बिछोनों को छोड़कर भूमि को ही अपनी निरारंभी व निराकुल शय्या माना है, जिन महान पुरुषोंने सर्व प्रकार के रुई आदि के वस्त्रों को त्यागकर दशदिशाओं को ही अपना स्वाभाविक वस्त्र जाना है ऐसे वस्त्र त्यागी व परिग्रह रहित निर्जन वनवासी साधु ही सदा सन्तोष रूपी अमृतसे तृप्त रहते हैं। वे साताकारी सामाग्री के संयोग में हर्ष नहीं मानते हैं व असाताकारी पदार्थों के सम्बन्ध में शोक नहीं करते हैं, निरंतर आत्मानंदरूपी अमृतको पीते हुए तृप्त रहते हैं। वे ही साधु अपने वीतराग भाव से कर्मोंको नाश करके अविनाशी मोक्षपद को पालते हैं। जहां कोई न चिंता है न शरीर है, न कोई व्याधि है न कोई आकुलता है, न कुछ काम करना है। जहां निरंतर आत्मानंदका विलास रहता है ऐसे अपूर्व पदको वे नहीं पा सकते हैं जो कायर हैं व दीन हैं। जो घरसे ममता नहीं छोड़ सकते, जो रसीले भोजन पानके करने वाले हैं। जो मुलायम गद्दों पर सोते हैं व जो अनेक प्रकार वस्त्रों से अपने शरीर को ढकते हैं, तथा जो असाता पड़ने पर क्रोधी व साता मिलनेपर राजी हो जाते ऐसे नाम मात्रके साधु कभी भी मुक्तिपद को नहीं पासकते हैं।

श्री पद्मनंदि मुनि यत्याचार धर्म में लिखते हैं—

परिग्रहवतां शिवं यदि तदानलः शीतलो।
यदींद्रियसुखं तदिह कालकूटः सुधा॥
स्थिरो यदि तनुस्तदा स्थिरतरं तडिच्चाम्बरे।
भवेऽत्र रमणीयता यदि तदिन्द्रजालेऽपि च॥५६॥

भावार्थ—यदि परिग्रह धारी साधुओं को मोक्ष होता हुआ माना जावे तो अग्नि को ठंडा मानना पड़ेगा। इन्द्रियों का सुख हो जावे तो विष को भी अमृत मानना होगा। शरीर यदि स्थिर माना जावे तो आकाश में बिजली को स्थिर मानना होगा, और यदि संसार में रमणीकता मानी जावे तो इन्द्रजाल के खेल में रमणीकता मानना होगा।

मतलब यह है कि परिग्रह त्यागी, इन्द्रियसुख से विरागी, शरीर को अनित्य मानने वाला संसार को रमणीक न देखने वाला ही साधु महात्मा मोक्ष का अधिकारी है।

मूल श्लोकानुसार त्रिभंगी छन्द

जिनका वन डेरा चंद्र उजेरा दीपक मेरा तम नाशे।
भिक्षा है भोजन अंबर दिश गण भू शयनास नपरकाशे॥
जो संतोषामृत पीवत सुखकृत कर्मन शोषत सुखभासे।
सो यति शिव पावे विपत नशावे दीन न पावे लघुता से॥२४

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो पर पदार्थों पर स्नेह करते हैं वे आत्महित से गिर जाते हैं—

माता मे मम गेहनी मम गृहं मे बांधवा मेऽगजाः।
तातो मे मम संपदो मम सुखं मे सज्जना मे जनाः॥
इत्थं घोरममत्वतामसवशव्यस्तावबोधस्थितः।
शर्माधानविधानतः स्वहिततः प्राणी सनीस्त्रस्यते॥२५॥

अन्वयार्थ—(मे माता) यह मेरी माता है (मम गेहिनी) यह मेरी स्त्री है (मम गृहं) यह मेरा घर है (मे बांधवाः) ये मेरे बंधुजन हैं (मे अंगजाः) ये मेरे पुत्र हैं (मे तातः) यह मेरे पिता हैं (मम संपदः) यह मेरा धन है (मम सुखं) यह मेरा है (मे सज्जनाः) ये मेरे हितैषीजन हैं (मे जनाः) ये मेरे परिवार के लोग हैं (इत्थं) इस तरह के (घोरममत्वतामसवशव्यस्तावबोधस्थितिः) भयानक ममतारूप अंधकार से जिसका ज्ञान अस्त हो रहा है ऐसा (प्राणी) प्राणी (शर्माधानविधानतः) सच्चे सुखको प्राप्त कराने वाले (स्वहिततः) अपने हितकारी कार्य से (सर्नास्त्रस्यते) दूर भागता जाता है।

भावार्थ—यहां पर आचार्य नें बाहरी पदार्थों से ममता करने का कटुक फल दिखलाया है। जैसे मदिराके पीने से बुद्धि बिगड़ जाती है, बेहोशी आ जाती है, अपनी सुधि नहीं रहती है उसी तरह मोह के कारण यह प्राणी अपनी आत्मा के हित को भूल जाता है। यह जब कभी जरा विचार करता है तो समझ लेता है कि जब शरीर ही अपना नहीं है तब शरीर के साथी माता, पिता, स्त्री, बंधु, पुत्र, मित्र, परिवार, धन, गृह आदि चेतन व अचेतन पदार्थ अपने कैसे होंगे ? परन्तु कुछ ही देर पीछे फिर ऐसा मोहित हो जाता है कि रात दिन इसी खयाल में फंसा रहता है कि ये मेरे पुत्र हैं, यह स्त्री है, यह धन है, ये बंधुजन हैं, इनको मैं पालनें वाला हूं, उन सबको मेरी आज्ञा माननी चाहिए अथवा ये सब बनें रहें और मेरा काम चलता रहे। ये सब मेरे इंद्रिय सुखके भोगमें सहकारी हैं, यह धन सदा बना रहे, इसी से मेरा जीवन सफल है। प्रातःकाल से संध्या होती है, संध्या

संध्या होती है, संध्यासे सवेरा होता है। इस मोही प्राणीको इन्हीं पर पदार्थोंका ही विचार रहता है। उनके रोगाक्रांत होनेपर उनकी दवाईमें, उनके वियोग होनेपर शोक करनेमें इस तरह अपना मन उन्हींके रागमें फँसाए रखता है। एक समय भरके लिये भी सच्चे ज्ञानको नहीं विचारता है कि ये सर्व सम्बंध क्षणभंगुर शरीरके हैं। इनसे मेरा सच्चा हित न होगा तथा यह धन और इंद्रियोंके भोग्य पदार्थ मुझे कभी भी तृप्ति नहीं देते हैं। जितना मैं इनका संग्रह करता हूं उतना ही अधिक मैं प्यासा व तृष्णावान व चिंतातुर बना रहता हूं। यह जीव रात दिन मोहके प्रपंचसे नहीं छूटता। यह जितना अधिक मोह बढ़ाता है उतना अधिक अपने सच्चे हितकारी कार्यसे दूर होता चला जाता है, हाय हाय करते हुए एक दिन मर जाता है और आर्त व रौद्रध्यानके कारण दुर्गतिमें चला जाता है। आचार्य कहते हैं कि सच्चा सुख तो आत्मामें है। यह अज्ञानी मोही जीव इसी आत्माकी विभूतिसे शून्य रहता हुआ घोर संकटोंमें पड़ जाता है। तात्पर्य यह है कि पर पदार्थोंका मोह करना मूढ़ता है। ज्ञानीको उनसे मोह न करके अपना लक्ष्य आत्मोन्नतिमें रखना उचित है।

* अनित्यपंचाशत्में श्री पद्मनंदि मुनि कहते हैं—

अंभोबुद्बुदसन्निभा तनुरियं श्रीरिन्द्रजालोपमा ।
दुर्वाताहतवारिवाहसदृशाः कांतार्थपुत्रादयः ॥
सौख्यं वैषयिकं सदैव तरलं मत्तांगनापांगवत् ।
तस्मादेतदुपप्लवाप्तिविषये शोकेन किं किं मुदा ॥४॥

भावार्थ—यह शरीर पानीके बुदबुदेके समान क्षणभङ्गुर है, यह

यह लक्ष्मी इन्द्रजाल के समान मिटने वाली है, यह स्त्री-पुत्रादिक कठिन वायु से चलाए हुए मेघों के समान जाने वाले हैं, इन्द्रिय विषयों का सुख मत्त स्त्री के नेत्रके समान चंचल है इसलिए उन नाशवंत पदार्थोंके मिलनेमें हर्ष क्या व जानेमें शोक क्या ? अर्थात् ज्ञानी इनके संबंध में राग व वियोगमें शोक नहीं करते हैं।

मूलश्लोकानुसार छन्द मालती

मा मेरी गृहिणी मेरो मम घर मेरे बांधव मे पुत्रा।
मेरा बाप सम्पदा मेरी, मेरा सुख सज्जनजन मित्रा ॥
या विधि घोर मोह ममतावश मूढ़ रही है ज्ञान सुनेत्रा।
सुखकारी मित्र हितसे प्राणी, दूर रहत है कार्यविचित्रा ॥२५

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि पर पदार्थों के वियोग होने पर शोक न करना चाहिए—

विख्यातौ सहचारितापरिगतावाजन्मनायौ स्थिरौ।
यत्रावार्यरथौ परस्पर मिमौ विश्लिष्यतोंं गांगिनौ ॥
खेवस्तत्र मनोषिणा ननु कथं बाह्ये विमुक्ते सति।
ज्ञात्वेतीह विमुच्यतामनुदिनं विश्लेषशोक व्यथा ॥२६॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जहां (यौ) ये जो (अंगागिनौ) दोनों शरीर तथा शरीरधारी जीव हैं (विख्यातौ) सो बड़े मशहूर हैं (सहचारिता परिगतौ)अनादिकालसे साथ-२ आते चले आरहे हैं (आजन्मनायौ स्थिरौ) जन्म से लेकर मरण पर्यन्त दोनों स्थिर रहते हैं (इमौ) इन दोनोंको (परस्परं) एक दूसरेसे (अवार्यरथौ) विरह करना बड़ा ही कठिन है। तोभी (विश्लिष्यतः) इन दोनों का परस्पर वियोग हो जाता है (तत्र)वहां (बाह्ये)बाहरी वस्तु स्त्री पुत्रादिके(विमुक्ते सति)छूट जाने पर (मनीषिणा)बुद्धिमान

सको (ननु कथं खेदः) क्यों शोक करना चाहिए ? इस जगत में (इति) ऐसा (ज्ञात्वा) जानकर (अनुदिनं) प्रतिदिन (विश्लेषशोकव्यथा) बाहरी वस्तुओंके वियोगके शोकके कष्टको (विमुच्यताम्) छोड़ देना ही उचित है।

भावार्थ—यहां पर आचार्य ने स्त्री पुत्रादिके मोहके नाशका व उनके शोकके नाशका उपाय बताया है कि बुद्धिमान प्राणीको यह विचारना उचित है कि यह शरीर जिसका इस अशुद्ध संसारी जीवके साथ अनादिकालका सम्बन्ध है वह भी एक भवमें जन्मसे लेकर मरण पर्यन्त रहता है, यद्यपि यह फिर कर्मों के उदयसे प्राप्त हो जाता है तो भी फिर मरण होनेपर छूट जाता है। हम जो चाहें कि इस शरीरका सम्बन्ध न हो तो हमारे मन की बात नहीं है। कर्मोंके उदयसे बारबार इनका सम्बन्ध होता ही रहता है और छूटता ही रहता है। जब कर्मों का बंध बिलकुल नहीं रहता है तब तो सदा के लिए शरीरका सम्बन्ध छूट जाता है। कहनें का मतलब यह है कि वह शरीर जिसके साथ यह जीव परस्पर दूध पानीकी तरह मिला हुआ है, एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध किए है, वे भी जब छूट जाते हैं तब स्त्री, पुत्र, मित्रादि व घर धन राज्य आदि जो बिलकुल बाहरी पदार्थ हैं उनका सम्बन्ध क्यों नहीं छूटेगा ? जो वस्तु अपनी नहीं है उसके चले जाने का क्या खेद ? इसलिए बुद्धिमानों को कभीभी अपनें किसी माता-पिता, भाई-बन्धु, पुत्र व मित्र के वियोग पर या धन के चले जाने पर शोक नहीं करना चाहिए। इनका सम्बन्ध जो कुछ है भी वह शरीर के साथ है जब यह शरीर ही छूटेगा तब इनके छूटनें का क्या विचार ? इसलिए पर पदार्थोंके संयोग में हर्ष व वियोग में शोक न करना ही बुद्धिमानी है।

श्री पद्मनंदि मुनि अनित्यपंचाशत् में कहते हैं—

तडिदिव चलमेतत् पुत्रदारादिसर्वं ।
किमिति तदभिघाते खिद्यते बुद्धिमद्भिः ।
स्थितिजननविनाशं नोष्णतेवानलस्य ।
व्यभिचरति कदाचित् सर्वभावेषु नूनं ॥२६॥

भावार्थ—ये पुत्र स्त्री आदि सर्व पदार्थ बिजलीके चमत्कार के समान चंचल हैं। इनमेंसे किसीके नाश होनेपर बुद्धिमानोंको शोक क्यों करना चाहिए, अर्थात् शोक कभी नहीं करना चाहिए क्योंकि निश्चयसे सर्व जगतके पदार्थोंका यह स्वभाव है कि इनमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य होता रहता है। जैसे अग्नि में उष्णता कभी नहीं जाती वैसे उत्पत्ति, नाश व स्थितपना कभी नहीं मिटता। हरएक पदार्थ मूलपने से स्थिर रहता है परन्तु अवस्थाओं की अपेक्षा नाश होता है और जन्मता है। पुरानी अवस्था मिटती व नई अवस्था पैदा होती है। जगत में सब अवस्थायें ही दिखलाई पड़ती हैं इनका अवश्य नाश होगा इसलिए वस्तुस्वभावमें शोक करना मूर्खता है। जो किसीका मरण हुआ है उसका अर्थ यह है कि उसका जन्म भी हुआ है तथा जिसमें मरण व जन्म हुआ है वह वस्तु स्थिर भी है। जैसे कोई मानव मरकर कुत्ता जन्मा। तब मानव जन्मका नाश हुआ, कुत्तेके जन्मका उत्पाद हुआ परन्तु वह जीव वही है, जो मानवमें था वही कुत्ते में है। ऐसा स्वभाव जानकर ज्ञानीको सदा समताभाव रखना चाहिए।

मूलश्लोकानुसार छन्द गीता ।

है चिरकाल कुसङ्गति जिनकी जीव शरीर प्रसिद्ध जगतमें ।
साथ रहैं नित विरह न होवे तदपि छुटत हैं दोउ जगतमें ॥
तो फिर पुत्र धनादि बाह्य ये छुटत होत किम खेद जगतमें ।
बुद्धिमान इम जान सदा ही शोक करो नहिं कोय जगतमें ॥२६॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि पेटकी चिंता बड़ी दुःखदाई है यह चिन्ता धर्म, यश, सुखका नाश करती है—

तिर्यंचस्तृणपर्णलब्धधृतयः सृष्टाः स्थलीशायिनः ।
चिंतानन्तरलब्धभोगविभवा देवाः समं भोगिभिः ॥
मर्त्यानां विधिना विरुद्धमनसा वृत्तिः कृता सा पुनः ।
कष्टं धर्मयशःसुखानि सहसा या मृद्नते चिंतिता ॥२७॥

अन्वयार्थ—(विरुद्धमनसा) विपरीत मनवाले (विधिना) कर्मरूपी ब्रह्माने (तिर्यंचः) पशुओंको (तृणपर्णलब्धधृतयः) तिनके और पत्तोंको खाकर संतोष रखनेवाले व (स्थलीशायिनः) जमीनपर शयन करनेवाले तथा (भोगिभिः सह) भोगभूमियोंके साथ२ (देवाः) देवोंको (चिंतानन्तरलब्धभोगविभवाः) चिंता करते ही भोगोंको भोगनेवाले व ऐश्वर्यवान (सृष्टाः) रचे (पुनः) फिर (मर्त्यानां) कर्मभूमिके मनुष्योंकी (सा वृत्तिः) ऐसी आजीविकाकी पद्धति (कृता) करी (या चिंतिता) कि जिसकी चिंता (सहसा) शीघ्र ही (धर्मयशःसुखानि) धर्म, यश तथा सुखोंको (मृद्नते) नाश कर देती है। (कष्टं) यह बड़े दुःखकी बात है ।

भावार्थ—यहांपर आचार्यने दिखलाया है कि हम मनुष्योंको अपने पेट पालनेके लिये भी बहुत कष्ट सहना पड़ता है । पशुओंके तो ऐसा कर्मका उदय है जिससे अधिकांश पशु स्वयं पैदा

पशुओंके तो ऐसा कर्मका उदय है जिससे अधिकांश पशु स्वयं पैदा होनेवाले घास पत्तों को खाकर रह जाते हैं व जमीनपर सो जाते हैं। देवोंके ऐसा पुण्य का उदय है कि भूख उनको इतनी कम लगती है कि यदि एक सागर वर्षों की आयु हो तो १००० वर्ष पीछे भूखकी वेदना होती है। भूखकी चिंता होते ही उनके इस जाति के परमाणु कण्ठ में होते हैं जिनसे अमृतसा भीतर झड़ जाता है और देवोंकी भूख मिट जाती है। इसीसे उनके मानसिक आहार है। वे कभी ग्रास ले करके कोई भी अन्न या अन्य पदार्थ नहीं खाते। भोगभूमिके मानवोंके यहां भोजनांग वस्त्रांग भाजनांग आदि दस जातिके पृथ्वी कायधारी कल्पवृक्ष होते हैं। उनसे चिंता करतेही इच्छित पदार्थ मिल जाते हैं। उनके भोजन बहुत अल्प होता है। दीर्घकायी होने पर भी आंवला प्रमाण अमृतमयी भोजन करके तृप्त हो जाते हैं। परन्तु मानव समाज को कर्मभूमिमें जन्म लेकर असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, विद्या इन छः प्रकारके साधनोंको करके पहले तो धन कमाना पड़ता है फिर पांचों इन्द्रियोंके भोगोंके लिए सामग्री इकट्ठी करनी पड़ती है। इन कार्योंमें अज्ञानी मिथ्यादृष्टि मानव ऐसे फंस जाते हैं कि नीति व अनीतिको भूल जाते हैं, हिंसा, असत्य चोरी आदि पापोंसे धन इकट्ठा करते हैं, बड़े कष्ट से निर्वाह करते हैं, खानपान में संतोष न रखकर अभक्ष्य व कामोद्दीपक व मादक पदार्थ खाने लगते हैं। मनकी चंचलता बढ़ जाने से वेश्यासक्त व परस्त्री गामी हो जाते हैं तथा इन्द्रियों के भोगोंमें व धनके संचयमें ऐसे लवलीन हो जाते हैं कि उनको धर्म की परवाह नहीं रहती है, वे धर्मसाधन को मानो नाश ही कर डालते हैं। अन्याय व अनुचित व्यवहार से जब दूसरे मानवोंको

सताते हैं तब उनका यश भी जाता रहता है और सच्चे आत्मीक सुखकी तो उनको गंध भी नहीं आती है। वे यदि आत्मीक तत्त्व पर लक्ष्य देते तो इस नरभव में सच्चे सुखको पा सकते थे परन्तु वे अन्धे होकर इस रत्नको जो अपने ही पास है गमा बैठते हैं। उनको रात-दिन भोगों को व पैसे कमाने की चिन्ता सताया करती है। कहीं खर्च अधिक कर डाला व आमद कम हुई तो कर्जदार होकर घोर चिताकी दाहमें जलते रहकर शीघ्र प्राणरहित हो जाते हैं। आचार्य कहते हैं कि उनके ऐसा विपरीत कार्य का उदय है कि जिससे वे महादुःखी रहते हैं। प्रयोजन कहने का यह है कि ऐसे कष्टमय जीवनको पार करके इस कर्म भूमिके मनुष्य सम्बन्धी भोगोंमें लिप्त होना मूर्खता है। इस शरीरमें जहां भोगोपभोग के लिए इतने कष्ट होते हैं वहां इस तनसे संयम का पालन हो सकता है जिसको न पशु न भोग भूमियाँ और न देव पालन कर सकते हैं। इसलिए बुद्धिमान मानवोंको उचित है कि संतोषपूर्वक व न्यायपूर्वक जीवन बितावे और वैराग्य पाने पर साधु हो जावे और अपने सच्चे सुख को पाते हुए कर्मोंके नाशका उद्यम करे जिससे कभी न कभी मुक्ति के स्वामी होजावे। मनुष्य-जन्मको सफल करना यही बुद्धिमानी है। श्री अमितगति, सुभाषितरत्नसंदोह में कहते हैं—

जन्मक्षेत्रे पवित्रे क्षणरुचिचपले दोषसर्पोरुरन्ध्रे।
देहेव्याधादिसिन्धु प्रपतनजलधौ पापपानीयकुंभे॥
कुर्वाणो बन्धुबुद्धिं विविधमलमते यासि रे जीव ! नाशं।
संचिन्त्यैवं शरीरे कुरु हत ममतां धर्मकर्माणि नित्यम्॥४०५

भावार्थ—इस पवित्र जन्म के क्षेत्र में आकर तू अति चंचल दोषरूपी सर्पोंसे भरे हुए रोगादि रूपी समुद्र में गिरनेवाले, पाप

रूपी पानी से पूर्ण घड़े के समान तथा नाना प्रकार मलसे भरे हुए इस देह में अपनेपने की बुद्धि करके हे आत्मान्! तू नाशको प्राप्त होगा, ऐसा विचार करके इस शरीर से ममता टाल दे और धर्मके कार्यों को कर।

मूलश्लोकानुसार छन्द मालती

कर्म विधाता ने पशुओं को घासपात भोगा थलशायी।
देव और भू भोग नरों को चिता करसे भोग कराई॥
मर्त्यलोकके मानव पापी, वृत्ति जिन्होंने दुखप्रद पाई।
धर्म कीर्ति अर सुख विघटावे, यह काहे विपरीत रचाई॥२७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि अज्ञानी जीवको शांतसुख की इच्छा नहीं होता।

मालिनीवृत्त

भजसि दिविजयोषा यासि पातालमंग।
भ्रमसि धरणिपृष्ठं लिप्स्यसे स्वान्तलक्ष्मीम्।
अभिलषसि विशुद्धां व्यापिनीं कीर्तिकान्तां।
प्रशममुखसुखाब्धिंगाहसे त्वं न जातु॥२८॥

अन्वयार्थ—(अंग) हे मन! तू कभी तो (दिविजयोषा) देवोंकी स्त्रियों को (भजसि) भोगना चाहता है (पातालं यासि) कभी तू पाताल में चला जाता है (धरणिपृष्ठं भ्रमसि) कभी पृथ्वी के ऊपर घूमता है (स्वान्तलक्ष्मीम्) कभी मनके अनुकूल धनको (लिप्स्यसे) प्राप्त करना चाहता है, कभी (विशुद्धां) अति उज्ज्वल (व्यापिनी) जगतमें फैलनेवाली (कीर्तिकांता) कीर्तिरूपी स्त्रीको अभिलषसि) चाहता है परन्तु (त्वं) तू (जातु) कभी भी (प्रशममुखसुखाब्धि) शांतिमय सुख समुद्र में (न गाहसे) नहाना नहीं चाहता है।

भावार्थ—यहां आचार्य ने दिखाया है कि इन्द्रियोंके भोगोंके करनेसे सुख मिलेगा इस भ्रम बुद्धिमें उलझा हुआ यह मन नाना प्रकारकी कल्पनाएं किया करता है। कभी तो चाहता है कि स्वर्गमें जाकर पैदा हू और वहां बहुत सुन्दर देवियों के साथ क्रीड़ा करूँ, कभी भवनवासीके भवनों का ख्यालकर लेता है जो पाताललोक में रहते हैं—उनके समान घूमना व सुखी रहना चाहता है, कभी पृथ्वी में अनेक देश, नगर, ग्राम पर्वत, नदी, बाजार, गली आदि की सैर करना चाहता है। अथवा यह मन ऐसा मूर्ख है कि यह मनसे ही देवियोंको भोग लेता है, मनसे ही पातालमें घूम आता है, मनसे ही सर्व पृथ्वीकी सैर कर लेता है, तथा यह चाहता है कि मनके अनुकूल लक्ष्मी प्राप्त हो तथा जगतमें मेरा ऐसा यश फैले कि मैं प्रसिद्ध हो जाऊँ। इस प्रकार की कल्पनाओं को करता रहता है। इन कल्पनाओं के कारण अपनी इच्छाओं को बहुत बढ़ा लेता है। तब उनकी पूर्तिके लिए आकुलता करता है, मनको रात-दिन चिन्तामें ही फंस जाना पड़ता है। जिन पदार्थों को चाहता है और वे प्राप्त नहीं हैं, उनके लिए तो मिलानेका उद्यम करते हुए चिंतित रहता है, जो पदार्थ हैं उनके बने रहने की चिंता करता है, जो पदार्थ थे और उनका किसी कारण से वियोग हो गया, उनके फिर मिलने की आशा से चिंता करता है।

इसपर निरन्तर अशांतिके दाहमें जला करता है और वह सुखशांतिका समुद्र जो अपने ही पास है, जो अपने ही आत्माका स्वभाव है उसकी तरफ निगाह उठाकर भी नहीं देखता है। यदि एक दफे भी उस अनुपम आत्मिक सुख का स्वाद ले ले तो फिर इसकी सारी आकुलता मिटाने का साधन इसको मिल

जावे। आचार्य ने इस मनकी मूर्खता को इसीलिए जताया है कि हमें मनके कहने में न चलकर सुख शांतिका उपाय अवश्य करना चाहिए। इंद्रियों के पीछे पड़ना आकुलता को बढ़ाने ही वाला है। सुभाषितरत्न संदोहमें श्री अमितगति महाराज कहते हैं—

सौख्यं यदत्र विजितेन्द्रियशत्रु दर्पः।
प्राप्नोति पापरहितं विगतांतरायम्॥
स्वस्थं तदात्मकमनात्मधिया विलभ्यं।
किं तद्दुरन्तविषयानलतप्तचित्तः॥६४॥

भावार्थ—जो इन्द्रियरूपी शत्रुओं के समूहको जीतनेवाला है वह इस जगतमें जैसा पापरहित व विघ्नरहित, निराकुल व आत्मीक सुख पा लेता है जिसको वह मानव नहीं पा सकता जो अज्ञानी है व आत्माको नहीं पहचानता है। वैसे सुख को क्या महान इंद्रियोंकी इच्छारूपी आगमें जलता हुआ है मन जिसका ऐसा प्राणी कभी पा सकता है? अर्थात् कभी नहीं पा सकता है, इसलिए शांतिके प्राप्त करनेका ही यत्न करना बुद्धिमानी है।

मूल श्लोकानुसार मालिनि छन्द

रे मन तू भोगे देवपत्नी कभी तो।
जावे पातालं देखता भूमितल को।
निर्मल कीर्तिको प्रचुर धन नित्य चाहे।
पर शम सुख सागर में कभी नाव गाहे॥२८॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि यह मन कभी जिनवाणी का सेवन नहीं करता है—

भोक्तुं भोगिनितंबिनीसुखमर्थश्चितां पनीपत्स्यसे।
प्राप्तुं राज्यमनन्यलभ्यविभवं क्षोणीं चनीकस्यसे॥

लप्तु मन्मथमंथरा: सुरवधूर्नाकं चनीस्कद्यसे ।
रे भ्रान्त्या ह्यमृतोपमं जिनवचस्त्वं नापनीपद्यसे ।।२९।।

अन्वयार्थ—(रे) रे मन (त्वं) तू कभी तो (अध:) पाताल में जाकर (भोगिनितंबिनीसुखं) नागकुमारी देवियों के सुख को (भोक्तुं) भोगनेके लिए (चिंता) चिंता (पनीपत्स्यसे) करता रहता है, कभी (अनन्यलभ्यविभवं) दूसरेके पास प्राप्त न हो सके ऐसी विभूति वाले (राज्यं) चक्रवर्तीके राज्यको (प्राप्तुं) प्राप्त करनेके लिए (क्षोणीं) इस पृथ्वी पर (चनीकस्यसे) आनेकी इच्छा किया करता है तथा कभी (मन्मथमंथरा:) कामसे उन्मत्त ऐसी (सुर-वधू:) स्वर्गवासी देवों की देवांगनाओं को (लुप्तुं) पाने के लिए (नाकं) स्वर्ग में (चनीस्कद्यसे) जानेको उत्कंठा किया करता है (भ्रान्त्या) इस भ्रममें पड़कर (हि) असलमें (ह्यमृतोपमं) अमृत के समान सुखदाई (जिनवच:) जिनवचन को (नापनीपद्यसे) नहीं प्राप्त करता है अर्थात् जिनवाणी के आनंदके लेनेसे दूर-२ भागता है यही खेद है।

भावार्थ—यहां आचार्य फिर मन को उल्हना देते हैं कि तू बड़ा मूर्ख है जो रातदिन इंद्रियोंके विषयों में लम्पटी रहता है और यही चाहता है कि मैं भवनवासी देवों में पैदा होकर नाग-कुमारी स्त्रियों का भोग करूं व स्वर्ग में जाकर स्वर्ग की महा मनोहर स्त्रियोंके साथ काम चेष्टा करूं व नरलोकमें चक्रवर्तीके समान विभूति पाकर छियानवे हजार स्त्रियोंका एकसाथ अपनी विक्रियाके बलसे भोग करूं। खूब पांचों इन्द्रियों के विषयों को भोगूं इस चिंता में रहता हुआ व चाह की दाह में जलता हुआ कभी भी सुखी नहीं होता है। एक तो चाह करने मात्र से इन्द्रियों के सुख मिलते नहीं। यदि मिल भी जाते हैं तो उनके भोगोंसे तृप्ति होती नहीं और अधिक भोगने की चाह बढ़ जाती

नहीं । यदि मिल भी जाते हैं तो उनके भोगोंसे तृप्ति होती नहीं और अधिक भोगनेकी चाह बढ़ जाती है । तू अज्ञानी होरहा है, ऐसा समझता है कि इंद्रियोंके भोगमें ही सुख है । तूने कभी अपना ध्यान जिनेन्द्र भगवानकी अमृतमई वाणीके सुननेकी तरफ नहीं दिया । यह भगवानकी वाणी हमको सच्चा मार्ग बताती है । यह हमारा यह भ्रम मिटाती है कि संसारके विषयभोगोंमें सुख है । यह आत्माके भीतर भरे हुए सुखसमुद्रका दर्शन कराती है और उसीमें गोता लगानेकी व उसीके शांत जलको पीनेकी प्रेरणा करती है । जिन्होंने अनेकांतमयी श्री जिनवाणीको समझा है वे सम्यग्दृष्टी होकर सदा सुखी होजाते हैं। भेदज्ञानकी वह दया ज्ञानियोंको मिल जाती है जिसके प्रतापसे उनकी आत्माको उन्नति करनेका मार्ग मिलता है । इसलिये कहते हैं कि—हे मन ! तू बावलापना छोड़ और एकाग्र होकर जिनवाणीका अभ्यास कर । यह सूर्यके समान पदार्थोंको यथार्थ दिखानेवाली है और सर्व दुःखोंसे छुड़ानेवाली है । यह संसारके रोगको शमन करके आत्माको स्वाधीन बनानेवाली है । श्रीपद्मनंदि मुनि सरस्वतीकी स्तुतिमें कहते हैं—

> निधाय्यमानः प्रथमं त्वदाश्रयम् ।
> श्रयन्ति तन्मोक्षपदं महर्षयः ॥
> प्रदीपमाश्रित्य गृहे तमस्तते ।
> यदीप्सितं वस्तु लभेत मानवः ॥

भावार्थ—महान् मुनिगन पहले तेरा ही आश्रय लेते हैं फिर मोक्षपदमें जाते हैं जैसे अन्धेरे घरमें दीपकके सहारेसे ही मानवको इच्छित वस्तु मिल सक्ती है । वास्तवमें परम कल्याणकारी जिनवाणीका अभ्यास ही परमोपकारी है ।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

रे मन तू चाहे नाशिनी सुक्ख भोगूं।
स्वर्गों में जाकर देवनारी सु भोगूं॥
होकर चक्री में राज्य सुख और होवे।
भ्रम में भूला जिन वचन अमृत न जोवे॥२९॥

उत्थानिका—फिर भी कहते हैं कि हे मन ! तू संसार वनमें भ्रमण मत कर—

भीमे मन्मथलुब्धके बहुविधव्याध्याधिदीर्घद्रुमे।
रौद्रारंभहृषीकपाशिकगणे भूज्जद्विषेणद्विषि ? ॥
मा त्वं चित्तकुरंग ! जन्मगहने जातुभ्रमी ईश्वर।
प्राप्तुं ब्रह्मपदं दुरापमपरैर्यद्यस्ति वांछा तव ॥३०॥

अन्वयार्थ—(ईश्वरचित्तकुरंग) हे समर्थ मनरूप हिरण (यदि) (तव वांछा) तेरी इच्छा (अपरैः) दूसरोंसे (दुरापम्) कठिनता से प्राप्त होने योग्य ऐसे (ब्रह्मपदं), आत्मीक मोक्ष पदको (प्राप्तुं) पाने की हो तो तू (मन्मथलुब्धके) कामदेवरूपी पारधीसे बासित (बहुविधव्याधिदीर्घद्रुमे) नाना प्रकार रोग व मानसिक कष्टोंके बड़े-२ वृक्षोंसे भरे हुए (रौद्रारंभहृषीकपाशिकगणे) तथा भयानक आरंभ कराने वाले इंद्रियरूपी भीलगणोंसे पूरित तथा (ऐणद्विषि) मनरूपी हिरणके शत्रुओंसे युक्त भयानक (जन्मगहने) संसारूपी वनमें (वत) व्यर्थही (त्वं) तू (जातु मा भ्रमी) कभी न भ्रमण कर।

भावार्थ—आचार्य फिर भी अपने मनको समझाते हैं कि—हे मन ! तू बड़ा बावला है, तू विश्रांति नहीं भजता, तू चाहता है कि मुझे शांत आत्मानंदरूपी जल मिल जावे जिससे तेरी अनादि की तृष्णारूपी प्यास बुझे। परन्तु तू उस संसाररूपी वन का

मोह नहीं छोड़ता है जहां शांत स्वरूपी जलका नाम तक नहीं है, जहां भयानक इंद्रियोंकी चाह की दाह सदा सताती है व जहां कामदेवरूपी शिकारी सदा बाण मारके तेरा नाश करता है तथा जहां बड़े-२ वृक्ष तो हैं परंतु वे सर्व दुःखदाई हैं—रोगरूपी कांटों से भरे हुए व मानसिक कष्टरूपी कटीले पत्तोंसे छाए हुए हैं, जो इस मनरूपी हिरणके महान शत्रुओंसे व्याप्त है। जो बन महा भयानक है जहां तू अपनी प्यास बुझानेको इंद्रियरूपी भीलोंकी पल्लियोंमें जाता है परन्तु वहांसे शांतरस को न पाकर उल्टा और अधिक प्यासा हो जाता है। इससे यह उचित है कि तू इस संसाररूपी वनका मोह छोड़ और इस वनके बाहर जो आत्मा-रूपी उपवन आत्मानंदरूपी जलसे भरे हुए स्वात्मानुभव रूपी सरोवर सहित है उनकी तरफ जा। तब ही तुझे सुख मिलेगा। वास्तवमें यह मन बड़ा चंचल है। सामायिक की प्राप्ति तब ही हो सकती है जब मन संसारसे उदास होकर आत्मीक सुख का अभिलाषी होवे। श्रीअमितगति आचार्य सुभाषितरत्न संदोह में चित्त को इस तरह समझाते हैं—

त्यजत युवतिसौख्यं क्षांतिसौख्यं श्रयध्वं।
विरमत भवमार्गान्मुक्तिमार्गे रमध्वम्॥
जहत विषयसंगं ज्ञानसंगं कुरुध्वं।
अमितगति निवासं येन नित्यं लभध्वं॥१६॥

भावार्थ—तू स्त्रियों के सुखको छोड़ शांतमई सुखका आश्रय ले, संसारके मार्गसे विरक्त हो व मोक्षमार्गमें रमण कर, इंद्रियों के विषयों के संग को छोड़ तथा ज्ञान की संगति कर जिससे अविनाशी मोक्षधाम का निवास प्राप्त हो जावे।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

मन हिरण न भ्रम तू भीम संसार वन है।
जहँ काम शिकारी अघि तरु व्याधि घन है॥
जहँ इन्द्रिय दुष्ट भील पीड़ा करत हैं।
यदि दुर्गम शिवपदको चाह तेरे बसत है॥३०॥

उत्थानिका—आगे श्री जिनेन्द्र से प्रार्थना करते हैं कि मुझे उत्तम-२ गुणों की प्राप्ति होवे—

हरिणी वृत्ति

व्यसननिहृतिर्ज्ञानोद्युक्तिर्गुणोज्ज्वलसंगतिः।
करणविजितिर्जन्मत्रस्तिः कषायनिराकृतिः॥
जिनमतरतिः संगत्यक्तिस्तपश्चरणाध्वनि।
तरितुमनसो जन्मांभोधिं भवंतु जिनेन्द्र ! मे॥३१॥

अन्वयार्थ—(जिनेन्द्र) हे जिनेन्द्र भगवान ! (जन्मांभोधिं) संसार समुद्रको (तरितुमनसः) तिरनेकी मनशा रखने वाले (मे) मेरेको (तपश्चरणध्वनि) तपके साधनके मार्गमें (व्यसननिहृतिः) द्यूत रमण आदि सातों व्यसनों का नाश (ज्ञानाद्युक्तिः) ज्ञान की उन्नति (गुणज्ज्वलसंगतिः) निर्मल गुण वालोंकी संगति (करण-विजितः) इंद्रियोंकी विजय (जन्मत्रस्तिः) संसारसे भय (कषाय-निराकृतिः) क्रोधादि कषायोंका त्याग इतनी बातें (भवंतु) प्राप्त होवें।

भावार्थ—यहां पर आचार्य कहते हैं कि जो भव्य जीव संसारसमुद्र से पार होना चाहता है उसको उन दोषों को दूर करने की व उन गुणों को प्राप्त करनेकी भावना करनी चाहिए जिनके कारण सुखसे भवसागर पार कर लिया जावे। पहली बात

यह है कि इस मन को छूत रमण, मांसाहार, मद्यपान, वेश्या-सक्ति परस्त्री रमन, शिकार और चोरी व ऐसेही औरभी व्यसनों का सामाना न पड़े। जिन बुरी आदतों में पड़ने से हमारा इह लोक और परलोक दोनों बिगड़ते हैं वे सब आदतें व्यवसनों के भीतर शामिल हैं। हरएक मानव को जो अपना हित करना चाहता है यह आवश्यक है कि खेतके कंकड़ पत्थरकी तरह व्यसनों को दूर फेंक देवे। जिनका मन किसी व्यसन में उलझा होता है उनके मन में आत्मज्ञान नहीं बस सकता है और आत्मज्ञान के बिना अपना हित नहीं हो सकता है। इसलिए दूसरी बात यह चाहता है कि ज्ञान की उन्नति हो। ज्ञान के पीछे चरित्र बढ़ाना चाहिए। इसलिए तीसरी बात यह चाही गई है कि पवित्र गुणधारी व्यक्तियों की संगति रहे क्योंकि सच्चारित्रवान पुरुषों के आचरण का बड़ा भारी असर बुद्धिपर पड़ता है। फिर चारित्र जो वीतराग भाव है उसके कारण जो मुख्य उपाय हैं उनकी भावना की जाती है इसलिए चौथी बात यह है कि इन्द्रियों का विजय हो। वास्तव में जितेन्द्रिय मानव ही संतोष व शांतिभावको पा सकता है। बिना इंद्रियों को अपने अधीन किये न श्रावक न मुनि कोई भी अपने अपने योग्य आचरण को नहीं पाल सकते हैं। पांचवी बात यह चाही गई है कि संसार से भय हो—क्योंकि जिसको यह भय होगा कि मेरा आत्मा इस जन्म मरण रूपी भयभीत संसारवन में न भटके वही मोक्ष होनेका चारित्र पालेगा। छठीबात यह है कि कषायोंको दूर किया जावे। क्योंकि क्रोध, मान, माया, लोभ कषायों के अधीन ही प्राणी आकुलता के फंदे में फंस जाता है तथा जितना-२ कषायों का दमन होता है उतना वीतराग भाव प्रगट होता रहता है। कषायोंके विजय से ही जिनमत जो वीतराग विज्ञानमय है व स्वानुभवरूप है उसमें प्रीति होती है।

इसलिए सातमी बात यह चाही गई है। मुक्तिका उपाय मुनि का चारित्र है इसलिए आठमी बात चाही गई है कि परिग्रहका त्याग करूं। मुनि होकर १२ प्रकार तप करना चाहिए। क्योंकि तप के बिना कर्मों की निर्जरा नहीं हो सकती है। इसमें भी मुख्य तप ध्यान है, ध्यान ही से केवल ज्ञान होता है, ध्यान ही से निर्वाण होता है, ध्यानही तप वेग ध्यानी को संसारसमुद्रसे पार करके शिवद्वीप में पहुंचा देता है। इसलिए तप करने के साधन रूप आठ बातों की भावना भाई गई है। वास्तवमें जो तपस्वी इन आठ गुणोंसे अलंकृत होता है वही सिद्ध होकर सम्यक्त आदि आठ गुणों से विभूषित हो जाता है। ध्यान ही से मुक्ति की सिद्धि होती है। उस ध्यान के लिए श्रीशुभ चन्द्राचार्य ज्ञानार्णवमें कहते हैं—

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम्।
निर्ममत्वं यदि प्राप्तस्तदा ध्याताऽसि नान्यथा ॥२३॥

भावार्थ—जब काम भोगों से विरक्त होकर शरीर में भी अभिलाषाको छोड़ा जाता है तब ममता रहितपना प्राप्त होता है तब ही ध्यानी हो सकता है अन्यथा नहीं।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

व्यसन रहे दूरं ज्ञान उन्नति सुसंगति।
करण विजय भव भय क्रोध मानादि निकृति ॥
जिनमत रुचि संग त्याग श्री जिनज होवे।
भवसागर तरना हेतु तप मोहि होवे ॥२१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि संसार-वन में वास करना दुःखदायक है—

चित्रव्याघातवृक्षे विषयसुखतृणास्वादनासक्तचित्ताः।
निस्त्रिंशैरारमन्तो जनहरिणगणाः सर्वतः संचरद्भिः॥
खाद्यंते यत्र सद्यो भवमरणजराश्वापदैर्भीमरूपैः।
तत्रावस्थां क्व कुर्मो भवगहनवने दुःखदावाग्नितप्ते॥३२॥

अन्वयार्थ—(चित्रव्याघातवृक्षे) नानाप्रकारकी आपत्तिरूपी वृक्षोंसे भरे हुए (दुःखदावाग्नितप्ते) दुःखरूपी दावानलसे तप्तायमान (भवगहनवने) इस संसार रूपी भयानक जगल में (आरमन्तः) घूमने वाले (विषयसुखतृष्णास्वादनासक्तचित्ताः) विषयोंके सुखरूपी तृष्णाके स्वाद में चित्त को लगानेवाले(जनहरिणगणाः) प्राणरूपी हिरणों के समूह (यत्र) जहां (सर्वतः) सर्व तरफ (निस्त्रिंशैः)निर्दयी (संचरद्भिः) घूमनेवाले (भीमरूपैः भवमरणजराश्वापदैः) भयानक जन्म जरा मरणरूपी हिंसक जीवों के द्वारा (सद्य) निरंतर (स्वाद्यंते) भक्षण किए जाते हैं (तत्र) वहाँ (क्व अवस्थां कुर्मः) हम किस जगह रहें।

भावार्थ—जैसे कोई ऐसा सघन जंगल हो जहाँ बड़े टेढ़े-२ वृक्षों के समूहहों व दावाग्नि लगी हुई हो और चारों तरफ सिंह व्याघ्र आदि हिंसक प्राणी घूमते हों और जहां तिनके को चरने वाले हिरण निरंतर हिंसक प्राणियों के द्वारा खाये जाते हों ऐसे वन में कोई रहना चाहे तो कैसे रह सकता है? जो रहे वही आपत्तियोंमें फँसे, इसी तरह यह संसार भयानक है जहां करोड़ों आपत्तियां भरी हुई हैं तथा जहाँ निरंतर दुखोंकी आग जला करती हैं व जहाँ प्राणी नित्य जन्मते हैं, बूढ़े होते हैं तथा मर जाते हैं, ये प्राणी इन्द्रियोंके विषयों के सुख में मग्न हो जाते हैं,

बेखबर रहते हैं वश शीघ्र ही कालके गालमें चबाए जाते हैं, ऐसे संसार वनमें सुखशांति कैसे मिल सकती है ? बुद्धिमान प्राणीको तो इससे निकलना ही ठीक है।

सुभाषित रत्नसंदोह में श्री अमितगति महाराज कहते हैं—

मृत्युव्याघ्रभयंकराननगतं भीतं जराव्याधत-
स्तीव्रव्याधिदुरन्तदुःखतरुभरसंसारकान्तारगम् ।
कः शक्नोति शरीरिणम् त्रिभुवने पातुं नितान्तातुरं
त्यक्त्वा आर्तिजरामृतिक्षतिकरं जैनेन्द्रधर्मामृतम् ॥३१७

भावार्थ—जो प्राणी तीव्र रोगोंके अपार दुःखों में भरे हुए संसारवन में हो व बुढ़ापा रूपी शिकारी से भयभीत रहता हो व भयभीत रूपी बाघ के भयंकर मुख में प्राप्त हो उस महान् आकुलता में फंसे हुए प्राणीको तीन भुवनमें जन्मजरा मरणको नाश करने वाले जिनधर्म के सिवाय और कोई बचाने को समर्थ नहीं है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

भव वन भयकारी दुःख अग्नि प्रचारी।
विपति तरु भराई तृण विषय स्वादकारी।
जग मृग बहु घूमें जन्म अरु मृत्यु दुःख में॥
हिंसक पशु खावें हो कथं शांति सुख में॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि बुद्धिमानों को संसार में लिप्त न होकर आत्मकार्य कर लेना चाहिए।

भुजंगप्रयात छंद

न वैद्या न पुत्रा न विप्रा न शक्रा।
न कांता न माता न भृत्या न भूपाः॥

यमालिंगितं रक्षितुं संति शक्ता ।
विचिंत्येति कार्यं निजं कार्यमार्यैः ॥३३॥

अन्वयार्थ—(यमालिंगितं) यमराज जो काल उससे आलिंगन किए हुए प्राणीको (न वैद्याः) न वैद्य (न पुत्राः) न पुत्र (न विप्राः) न ब्राह्मण (न शक्राः) न इन्द्र (न कान्ता) न स्त्री (न माता) न माता (न भृत्याः) न नौकर (न भूपाः) न राजागण (रक्षितुं) बचाने के लिए (शक्ताः संति) समर्थ हैं (इति) ऐसा (विचिंत्य) विचार कर (आर्यैः) सज्जन पुरुषों को (निजं कार्यं) अपना आत्मकल्याण (कार्यं) करना योग्य है।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्य यह संकेत करते हैं कि यह मानव जन्म बहुत अल्पकाल रहने वाला है। निरंतर यहां मरण का भय है, यह नियम नहीं कि कब मरना होगा, और जब यकायक मरण आ जायेगा तब कोई वैद्य हकीम किसी दवा से बचा नहीं सकता, न तब अपने कुटुम्बी जन स्त्री, पुत्र, माता, बहन आदि रोक सकते हैं, न नौकर-चाकर, सिपाही व राजा आदि मरण को भगा सकते हैं। और तो क्या, बड़े-२ इन्द्रादि देव भी मरण से न आपको बचा सकते हैं, न दूसरों को बचा सकते हैं न किसी और पूज्यनीय देव में शक्ति है कि किसीको मरणसे रोक सकें। जब ऐसा नाजुक मामला है तब साधु व सज्जन पुरुषोंको अपना जीवन बहुत अमूल्य समझकर इसका सदुपयोग करना चाहिए। आत्मोन्नति करना ही इस नरजन्म का कर्तव्य है। इसलिए इस कार्य में ढील न करनी चाहिए। ढील करने से ही पीछे पछताना पड़ेगा। जो बुद्धिमान इस नरजन्म को संसार के मोह में फंसकर खो देते हैं उनको पीछे बहुत पछताना पड़ता है। नरजन्म को सफलता करना ही बुद्धिमानी है। सुभाषित रत्नसंदोह में श्री अमितगति महाराज कहते हैं—

तीव्रत्रासप्रदायि प्रभवमृतिजराश्वापदव्रातपाते।
दुःखौघौघप्रचंडे भवगहनवनेऽनेकशोऽत्युग्ररौद्रे ॥
भ्राम्यन्नप्रापि नृत्वं कथमपि शमतः कर्मणोदुष्कृतस्य।
नो चेद्धर्मं करोषि स्थिरपरमधिया वंचितस्त्वं तदात्मन् ।४२४

भावार्थ—यह संसार वन महा भयानक है जहाँ तीव्र दुःखों को देनेवाले जन्म जरा मरणरूपी हिंसक जीवों के समूह विचर रहे हैं, व जहां दुःखों के कारणोंका ही जाल है, ऐसे वन में घूमते हुए पाप कर्मोंके कम होने से बहुत ही कठिनता से नरजन्म पाया है ऐसी स्थिति में हे आत्मन ! यदि तू स्थिर बुद्धि करके धर्मका साधन न करेगा तो तू वास्तव में यहाँ ठगा गया है, ऐसा माना जाएगा।

मूल श्लोकानुसार भुजंगप्रयात छन्द

अबे मर्ण आवे न कोई बचावे।
न माता न कांता सुत इन्द्र आवे ॥
न वैद्या न विप्रा न राजा न चाकर।
यही जान बुधजन निजातम करमकर ॥३३

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि शरीर को क्षणभंगुर जानकर मोह का त्याग करना चाहिए।

विचित्रैरुपायैः सदा पाल्यमानः।
स्वकीयो न देहः समं यत्र याति ॥
कथं बाह्यभूतानि वित्तानि तत्र।
प्रबुद्ध्येति कृत्यो न कुत्रापि मोहः ॥३४॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जिस संसार में (विचित्रैः) नाना प्रकार के

(उपायैः) उपायों से (सदा) नित्य (पाल्यमानः) पालन किया हुआ (स्वकीयः) अपना ही(देहः) शरीर(समं) साथ (न याति) नहीं जाता है (तत्र) वहां (कथं) किस तरह (बाह्यभूतानि) बाहर ही बाहर रहने वाली (वित्तानि) धन आदि सम्पत्तियां साथ जा सकती हैं (इति) ऐसा (प्रबुध्य) समझकर (कुत्रापि) किसी भी पदार्थ में व कहीं भी (मोहः) मोहभाव (न कृत्यः) न करना चाहिए।

भावार्थ—यहां आचार्य फिर भी समझाते हैं कि हे भव्य जीव ! तू क्यों परपदार्थ के मोह में पागल हो रहा है। स्त्री, पुत्र मित्र, माता-पिता, राजा, प्रजा, नौकर, चाकर ये चेतन पदार्थ तथा घर, वस्त्र, बासन आदि अचेतन पदार्थ ये सब मात्र इस शरीर से सम्बन्ध रखते हैं। जब शरीर ही इस जीव से भिन्न है तब ये पदार्थ अपने कैसे हो सकते हैं। जगतके सर्वही पदार्थोंकी सत्ता मेरी आत्मा की सत्ता से भिन्न है। यह भेद विज्ञान एक ज्ञानीके हृदय में रहना योग्य है। हरएक द्रव्य अपने द्रव्यक्षेत्र काल भाव की अपेक्षा अस्तिरूप है तथा पर पदार्थों के द्रव्यक्षेत्र काल भाव की अपेक्षा नास्ति रूप है। आत्मा में आत्मा का द्रव्य जो अनंत गुणोंका समुदायरूप अखंड पिंड है सो तो उसका अपना द्रव्य है। जितने असंख्यात प्रदेशों के लिए हुए यह आत्मा है वह आत्मा का क्षेत्र है, इस आत्मा की जो अवस्थाविशेष या पर्यायें हैं सो उसका काल है, आत्मा के जो शुद्ध गुण हैं वह इसका भाव है। जबकि आत्मा के सिवाय अन्य सब आत्माओं के व अन्य पदार्थों के कोई द्रव्यक्षेत्र काल भाव इस आत्मा में नहीं है। इसलिए उन सबका इस आत्मा में नास्तित्व या अभाव है। इस तरह स्याद्वाद नय के द्वारा जो अपने आत्मा में एक ही समय में अस्तित्व नास्तित्व को व भावाभाव को समझ लेता है वही मात्र एक अपने स्वभाव को अपना मानता है और सब

को अपने से भिन्न पर जानता है। जब कोई पर वस्तु अपने आत्मा की नहीं है तब परवस्तु से मोह करना वास्तव में नादानी है। सुभाषित रत्नसंदोह में यही आचार्य कहते हैं—

न संसारे किंचित् स्थिरमिह निजं वास्ति सकले।
विमुच्यार्च्यं रत्नत्रितयमनघं मुक्तिजनकम्।
अहो मोहार्तानां तदपि विरतिर्नास्ति भवत-
स्ततो मोक्षोपायाद्विमुखमनसां सौख्यकुशलम् ॥३४०॥

भावार्थ—इस सम्पूर्ण संसार में न कोई वस्तु स्थिर है न अपनी है सिवाय पूज्यनीय निर्मल शक्ति के उत्पन्न करने वाले रत्नत्रय धर्म के। बड़े खेद की बात है कि मोह से दुःखी जीवों की विरक्ति तब भी संसार से नहीं होती है तब फिर जो मोक्ष के उपाय से विरुद्ध मन वाले हैं उनको सच्चा सुख नहीं मिल सकता।

मूलश्लोकानुसार भुजंग प्रयात छन्द

यतन बहु कराए सदा पालने को।
सुनिज देह भी साथ नहिं चालनेको।
धनादिक बहिर्वस्तु किम साथ होवे।
सुधी जानकर कौन से मोह ढोवे॥३४

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि ज्ञानी को इष्ट व अनिष्ट पदार्थों में समताभाव रखना चाहिए।

मंदाक्रान्ता वृत्त

शिष्टे दुष्टे सदसि विपिने कांचने लोष्ठवर्गे।
सौख्ये दुःखे शुनि नरवरे संगमे यो वियोगे।
शश्वद्धीरो भवति सदृशो द्वेषरागव्यपोढः।
प्रौढा स्त्रीव प्रथितमहसस्तस्य सिद्धिः करस्थाः ॥३५॥

अन्वयार्थ—(यः)जो कोई (शिष्टे दुष्टे)सज्जन में या दुर्जन में (सदसि विपिने) सभामें या वन में(कांचने लोष्ठवर्गे)सुवर्णमें या कंकड़-पत्थर में (सौख्ये दुःखे) सुख में व दुःख में(शुनि नर-वरे) कुत्ते में व श्रेष्ठ मनुष्य में (संगमे वियोगे) इष्ट के संयोगमें या वियोग में(सदृशः) समानभाव रखता हुआ (शश्वत्)सदाही (धीरः) धीर तथा (द्वेषरागव्यपोः) राग-द्वेष रहित वीतरागी (भवति)रहता है (तस्य)उस (प्रथितमहसः) प्रसिद्ध तेजस्वी के पास (सिद्धिः) मुक्ति (प्रौढ़ा स्त्री इव) युवती स्त्री केसमान (करस्था) हाथ में ही आ जाती है।

भावार्थ—यहाँ आचार्य कहते हैं कि जैसे वीरधीर तेजस्वी पुरुष को युवती स्त्री शीघ्र वर लेती है व उसके निकट आजाती उसी प्रकार मुक्तिरूपी स्त्री उस महान तेजस्वी पुरुष को शीघ्र ही प्राप्त हो जाती है जो समताभाव के अभ्यास करने वाले हैं, जिन्होंने ऐसा वैराग्य अपने भीतर बढ़ा लिया है कि यदि कोई सज्जन मिलें तो उनसे राग नहीं करते दुर्जन कष्ट देवें तो उनसे द्वेष नहीं करते। यदि कभी मानवों की सभा में जाने का काम पड़ गया तो उससे प्रसन्न नहीं होते और यदि जंगल में अकेले रहना हुआ तो कुछ खेद नहीं मानते हैं। जिनके आगे कोई रत्न सुवर्णों के ढेर कर दे तो उससे लोभ नहीं करते और यदि कंकड़ पत्थर रख दे तो उससे द्वेष नहीं करते। यदि साताकारी पदार्थों का सम्बन्ध मिले तो हम सुखी हुए ऐसी कल्पना नहीं करते और यदि असाताकारी सम्बन्ध प्राप्त हो तो हम दुःखी हुए ऐसी मान्यता नहीं करते, यदि सामने कुत्ता आकर बैठ जावे तो उससे घृणा नहीं करते और यदि कोई चक्रवर्ती राजा आ जावे तो उससे मोह नहीं करते। उनको यदि सुहावने शिष्यवर्गादि का सम्बन्ध हो तो राग नहीं करते और यदि असुहावने चेतन-अचे-

तन पदार्थों का सम्बन्ध हो तो द्वेष नहीं करते। ऐसे साधु महात्मा जो जगत को एकमात्र कर्मों का नाटक समझते हैं, जिनकी दृष्टि निश्चयनय रूप रहती है, जो जगतके नानाप्रकार जीवके भेषोंमें व अवस्थाविशेषों में भी शुद्ध द्रव्य को उसके अपने असली स्वरूपमें देखते हैं, उनके सामने कोई छोटा या बड़ा जीव है ही नहीं। सब ही जीव शुद्ध सिद्ध समान दिख रहे हैं। वहां राग और द्वेष किसके साथ हो। जितने अजीव पदार्थ हैं वे अलग दिखते हैं उनसे कोई रागद्वेष का सम्बन्ध नहीं। इस तरह शुद्ध निश्चयनय के आलम्बन से जो साधु व ज्ञानी महात्मा निरन्तर विचारते रहते हैं उनका संसाररूपी स्त्रीसे राग घटता जाता है और मुक्तिरूपी परम मनोहर अनुपम स्त्री से राग बढ़ता जाता है वह मुक्तिरूपी स्त्री जब जान लेती है कि मेरा उपासक बड़ा धीर वीर है, उपसर्गोंके पड़ने पर भी आत्मध्यानसे व मेरी आशक्ति से हटता नहीं है तब ही वह स्वयं आकर इसको अपना लेती है और यह पुरुषार्थी साहसी वीर सदा के लिए मुक्ति धाम में जाकर आनंदामृत का भोग किया करता है।

श्री पद्मनंद मुनि सद्‌बोध चंद्रोदय में कहते हैं—

कर्मभिन्नमनिशंस्वतोखिलम् पश्यतो विशदबोधचक्षुषा।

तत्कृतेपि परमार्थवेदिनो योगिनो न सुखदुःखकल्पना।२०।

भावार्थ—जो निश्चयनयके जाननेवाले योगी हैं वे निर्मल ज्ञानदृष्टि से अपने आत्मा से सर्व कर्मों को भिन्न देखते हैं तब उनके भीतर कर्मोंके निमित्त से जो सुख दुःख होता भी है उसमें यह भाव नहीं करते कि मैं सुखी हुआ या मैं दुःखी हुआ। वे निरन्तर समताभाव का अभ्यास करते हैं—

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

रखते समभावं सज्जनों दुर्जनों में ।
कंचन कंकड़ में, राजग्रह या वनोंमें ।
सुख दुख पशु नरमें, संगमें या विरहमें ।
युवति सम स्वसिद्धी होत वश वीरनरमें ॥३५

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि वीतरागी साधु ही मोक्ष के अधिकारी होते हैं—

शार्दूलविक्रीड़ित छन्द

अभ्यस्ताक्षकषायवैरिविजया विध्वस्तलोकक्रियाः ।
बाह्याभ्यंतरसंगमांशविमुखाः कृत्वाऽऽत्मवश्यं मनः ॥
ये श्रेष्ठं भवभोगदेहविषयं वैराग्यमध्यासते ।
ते गच्छन्ति शिवालयं विकलिलाः बुद्ध्वा समाधिं बुधाः ।३६

अन्वयार्थ—(ये) जो (अभ्यस्ताक्षकषायवैरिविजयाः) इन्द्रिय विषय और कषाय वैरियों के जीतने का अभ्यास करने वाले हैं, (विध्वस्तलोकक्रियाः) जिन्होंने लौकिक क्रियाकांड आरंभादिक सब त्याग दिया है (बाह्याभ्यन्तरसंगमांशविमुखाः) जो बाहरी और भीतरी परिग्रहके अंश मात्र से भी वैरागी हैं और जो (मनः आत्मवश्यं कृत्वा) मनको अपने आधीन करके (भवभोगदेहविषयं संसार, भोग व शरीर सम्बन्धी (श्रेष्ठं) उत्तम (वैराग्यं) वैराग्यको (अध्यासते) प्राप्त हुए हैं (ते बुधाः) वे ज्ञानी साधु (समाधि) समाधि या आत्मीक तन्मयता को (बुद्ध्वा) अनुभव करके (विक-

शिला:) सर्व कर्म रहित होकर (शिवालयं) मोक्षधाम को (गच्छन्ति) जाते हैं।

भावार्थ—इस श्लोकमें आचार्यने बता दिया है कि मोक्षका उपाय अभेदरत्नत्रय समाधि या स्वात्मानुभव है या शुक्लध्यान है। जबतक शुक्लध्यानकी अग्नि नहीं जलती है तबतक न मोहका नाश होता है और न घातिया कर्मोका नाश होता है और न यह अघातिया कर्मोंसे छूटकर सिद्धपद पा सकता है। उस शुक्लध्यान की सिद्धि उसी महात्माको हो सकती है जो शरीरके खंड-२ किये जाने पर भी ममता न लावे व वेदना से त्रसित न हो। जिसकी ममता बिलकुल शरीरसे हट गई हो जो सर्दी गर्मी डांस मच्छरकी बाधाएं सह सके। इसलिए ये साधुको वह सबकुछ वस्त्र त्याग देना पड़ता है जो उसने स्वाभाविक शरीरकी अवस्थाको ढकनेके लिए धारण कर रक्खे थे। यहां पर आचार्यने मुक्तिके योग्य जो पात्र हो सकते हैं उन साधुओंका वर्णन किया है। पहली जरूरी बात तो यह बताई है कि उन्होंने इंद्रियोंकी इच्छाओंको जीतनेका व क्रोधादि कषायोंके दमनका भलेप्रकार अभ्यास कर लिया हो, क्योंकि ये इंद्रियही प्राणीको कुमार्गमें डाल देती हैं व कर्मोका बंधकषायों से ही होता है। जिस सम्यग्दृष्टीने आत्माके वीतराग विज्ञानमय स्वभावका निश्चय कर लिया है वही आत्मीक सुखके मुकाबलेमें इन्द्रिय सुखको तुच्छ जानता है, इसलिए वही इंद्रियोंका जीतने वाला हो सकता है जिसने अपने आत्मा का स्वभाव वीतराग है ऐसा समझ लिया है, वही कषायोंके जीतनेका पुरुषार्थ करेगा। दूसरी बात साधुमें यह जरूरी है कि उसने सब लोकव्यवहार छोड़ दिए हों, अनेक प्रकार व्यापारके आरम्भ करके पैसा कमाना मकान मठ बनवाना, खेती कराना, शरीर रक्षार्थ सामान जोड़ना,

रसोई बनाना-बनवाना, व्याह शादीके व जीवनमरणके विकल्पों में पड़ना ग्रहस्थोंके रोग, शोक आदि कष्ट मिटानेको यंत्र मंत्रादि करना आदि कार्यों को आत्मोन्नति में विघ्न कारक व मनको आकुलित रखने के कारण छोड़ दिये हों। तथा आरंभ के कारणभूत जो दश प्रकारके वाहरी परिग्रह हैं उनका भी जिसने त्याग किया हो। अर्थात जिसके स्वामित्वमें न खेत हों, न मकान हो, न चांदी हो न सोना हो, न गोवंश हो न अन्नादि हो, न दासी हो न दास हो, न कपड़े हों न बर्तन हों तथा जिसने मोह जनित सर्व परिणतियों से भी ममता छोड़ दी हो अर्थात १४ प्रकार का अंतरग परिग्रह भी न रखता हो। अर्थात जिसने मिथ्यात्व, क्रोध मान माया लोभ, हास्य, रति, अरति, शोकभय जुगुप्सा, स्त्रीवेद पुंवेद, नपुंसकवेद इन १४ बातों से ममता हटा ली हो। तथा जिसने अपना मन अपने अधीन किया हो, जिसका मन चंचल न हो ऐसा वश में हो कि जब साधु चाहें तब उसे ध्यान व स्वाध्याय में लगाया जा सके तथा मन में यह वैराग्य हो कि संसार असार है मोक्ष ही सार है। इंद्रियों के भोग क्षण भंगुर व अतृप्तिकारक है व आत्मा सुख ही सच्चा भोग है, शरीर नाशवंत व मलीन है, आत्मा अविनाशी व पवित्र है। ऐसे ही साधु जब स्वात्मानुभव का अभ्यास करते २ शुक्ल ध्यान पर पहुंचते हैं तब कर्मों का संहार कर मुक्त हो जाते हैं। श्री पद्मनंदि मुनि यत्याचार धर्म में कहते हैं—

आचारो दशधर्मसंयमतपो मूलोत्तराख्या गुणाः।
मिथ्यामोहमदोज्झनं शमदमध्यानाप्रमादस्थितिः॥
वैराग्यं समयोपबृंहणगुणा रत्नत्रयं निर्मलं।
पर्यन्ते च समाधिरक्षयपदानंदाय धर्मो यतेः ॥३८॥

भावार्थ--अविनाशी मोक्षपदकी प्राप्तिके लिए यतिका धर्म यह है कि वह चारित्रवाले, दशलाक्षणी धर्मके अभ्यासमें संयमी रहे, तपस्वी हो २८ मूलगुण व उत्तम गुणपाले, मिथ्यात्व मोह व मदको त्यागे, समभाव रक्खे इंद्रिय दमन करे, ध्यान करे, प्रमादी न हो, वैराग्य धारण करे, सिद्धान्तशास्त्र का ज्ञाता व दाता रहे, निर्मल रत्नत्रय पाले, अन्तमें समाधि भावसे मरण करे। वास्तव में सच्चे ध्यानी साधु ही मोक्षके पात्र होते हैं—

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जिसने अक्षकषाय शत्रु जीते, व्यवहार लौकिक तजा।
बाह्याभ्यंतरसंग सर्व छोड़ा, मनको स्ववशमें भजा॥
भवतन भोग विराग अंग धरके निजध्यान उत्तम किया।
ते सज्जन सब कर्ममैल हरके शिवधाम वासा लिया॥२६॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि शरीर और आत्मा का भेद ज्ञान ही लाभकारी है—

संघस्तस्य न साधनं न गुरवो नो लोकपूजा परा।
नो योग्यैस्तृणकाष्ठशैलधरणीपृष्ठैः कृतः संस्तरः॥
कर्तात्मैव विबुध्यताममलस्तस्यात्मतत्त्वस्थिरो।
जानानो जलदुग्धयोरिव भिदां देहात्मनोः सर्वदा॥२७॥

अन्वयार्थ—(तस्य) उस आत्मध्यान या आत्मशुद्धि का (साधनं) उपाय (न संघः) न तो मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका का संघ है (न गुरवः) न गुरु आचार्य हैं (नो परा लोकपूजा) न लोकों से बड़ी पूजा पाना है (नो योग्यैः तृणकाष्ठशैलधरणीपृष्ठैः

कृत: संस्तर:) न योग्य तृण काठ पाषाण व भूमितलका बनाया हुआ संथरा है किन्तु (तस्य) उस आत्मध्यान का (कर्ता) करने वाला (अयम्) यह (अमल:) निर्मल व (आत्मतत्वस्थिर:) आत्मतत्वमें स्थिर (आत्मा एव)आत्मा ही है। जो (जलदुग्धयो: इव) जल और दूधके समान (देहात्मनो भिदां) शरीर और आत्मा के भेदको (सर्वदा) सदा (जानान:) जानने वाला है (विबुध्यत) ऐसा समझो।

भावार्थ—यहां आचार्य बतलाते हैं कि भेद विज्ञानसे ही आत्मध्यान को सिद्धि होती है। जो आत्मा ऐसा भले प्रकार समझ गया है कि जैसे दूध और पानीका सम्बंध है ऐसेही आत्मा और कार्मण तैजस व औदारिकादि शरीरोंका सम्बन्ध है, जैसेदूध से पानी अलग है वैसे आत्मासे पुद्‌गलमयी शरीरादि अलग हैं। जो परको पर जानकर पर से ममत्व छोड़ देता है और निर्मल आत्माके शुद्ध चैतन्यमई सिद्ध भगवानके समान जानकर उसी आत्मीक तत्वमें अपने उपयोगको स्थिर कर देता है वह आत्मा आत्मध्यान करके आत्माको सिद्धिकर सकता है। जिस किसीके ऐसा आत्मध्यान तो हो नहीं और वह मुनियोंके संघमें घूमा करे या आचार्यों की पाद पूजा व भक्ति किया करे व संसारी जीवोंमें अपनी विद्याका चमत्कार दिखाकर प्रतिष्ठाको पाया करे व कभी तिनके का कभी काष्ठ का कभी पाषाणका व कभी भूमितल का ही आसन बिछाकर निश्चल बैठा करे तो ये सब कार्य उसके आत्मध्यानके साधक नहीं हैं। इसलिए जो स्वहित करना चाहते हैं उनको उचित है कि इन सब कारणोंको मात्र बाहरी निमित्त कारण जाने, इनके सहारेसे जो सामायिकका अभ्यास करते हुए आत्मध्यानमें लयता प्राप्त करते हैं वे ही सच्चे समाधि भावको

पाते हैं व उनका ही साधन मोक्षका साधन है। बिना शुद्ध निश्चयनयका आलम्बन पाए परसे विराग नहीं होता है परसे विराग बिना स्वात्मारामसें विश्राम नहीं होता। यद्यपि आत्मा अमूर्तीक है तथापि उसको निर्मल जलके समान अपने शरीररूपी घट में देखना चाहिए और जैसे गंगा नदी में गोता लगाया जाता है वैसे अपने आत्माके जल सदृश निर्मल स्वभाव में अपने मनको डुबाना चाहिए। ॐ या सोऽहं मंत्र का आश्रय लेकर बारबार मनको आत्मारूपी नदी में डुबाने से मन का चंचलपना मिटता है और वीतरागताका भाव बढ़ता जाता है। आत्मध्यान ही परमोपकारी जहाज है। इसी पर चढ़के भव्य जीव संसार पार हो जाते हैं। अतएव ज्ञानी को आत्मध्यान का ही अभ्यास करना चाहिए। श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णवमें कहते हैं—

विरज्यकामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम्।
निर्ममत्वं यदि प्राप्तस्तदा ध्यातासि नान्यथा ॥२३॥
भवक्लेशविनाशाय पिब ज्ञानसुधारसम्।
कुरु जन्माब्धिमत्येतुं ध्यानपोतावलम्बनम् ॥१२॥

भावार्थ—कामभोगोंसे वैराग्य प्राप्त करके व शरीरकी भी वांछाको छोड़कर यदि तू ममता रहित हो जायगा तब ही तू ध्यान करने वाला होगा अन्य प्रकारसे नहीं। इसलिए संसारके क्लेशोंको नाश करनेके लिए आत्मज्ञानरूपी अमृतके रसका पान कर तथा ध्यानरूपी जहाज पर चढ़कर संसारसमुद्रसे पार हो जा।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

नहिं होवे मुनिसंग साधन कभी नहि लोक पूजा कभी।
नहि गुरु भक्ति न संस्तरं तृणमयी नहिं काठधरणी कभी॥

जिन जाना निज आत्मतत्वनिर्मल निजमें भये तत्परं ।
जैसे दूध अलग अलग जल सदा तिम देह आतमपरं ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि आत्मज्ञानी ही मोक्ष जा सकते हैं—

विगलितविषयः स्वं प्रस्थितं बुध्यते यः ।
पथिकमिव शरीरे नित्यमात्मानमात्मा ॥
विषमभवपयोधिं लीलया लंघयित्वा ।
पशुपदमिव सद्यो यात्यसौ मोक्षलक्ष्मीम् ॥३८॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (विगलितविषयः) इंद्रियोंके विषयोंकी इच्छाओंका दमन करनेवाला (आत्मा) आत्मा (शरीरे) शरीरमें (पथिकं इव) यात्रीके समान (प्रस्थितं) प्रस्थान करते हुए (स्वं आत्मानं) अपने आत्माको (नित्यम्) अविनाशी (बुध्यते) समझता है (असौ) वही (विषमभवपयोधिं) इस भयानक संसाररूपी समुद्रको (पशुपदं इव) गायके खुरके समान (लीलया) लीला मात्रमें (लंघयित्वा) पार करके (सद्यः) शीघ्रही (मोक्षलक्ष्मीम्) मोक्षरूपी लक्ष्मीको (याति) प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—यहाँ पर भी आचार्यने आत्मज्ञानी को ही मोक्षका अधिकारी बताया है। पहले तो पदार्थोंमें किंचित् भी राग नहीं रखता है, वही आत्मा आत्मध्यानके प्रतापसे बढ़ा चला जाता है उसके लिए यह संसार समुद्र जो महा भयानक व विशाल है वह गायके खुरके समान हो जाता है वह उसको बहुत शीघ्र पार कर लेता है और मुक्तिद्वीपमें जाकर मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त कर लेता है।

श्री पद्मनंद मुनि सद्बोधचन्द्रोदय में कहते हैं—

तत्परः परमयोगसम्पदाम् पात्रमत्र न पुनर्बहिर्गतः।

नापरेण चलितः पथेप्सितः स्थानलाभविभयो विभाव्यते।१०

भावार्थ—जो आत्मध्यान में लीन हैं वही उत्तम योग की संपदा का पात्र होता है। जो आत्मध्यान से बाहर हैं वह योगी नहीं ले सकता है। जो कोई आत्मध्यान के सिवाय अन्य मार्गसे चलता है वह अपने इच्छित मोक्ष स्थान के लाभ को नहीं प्राप्त कर सकता है। अतएव आत्मध्यान ही को उत्तम कार्य मानना व इसीका अभ्यास करना हितकर है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

जो विषय विकारं त्याग निज आत्म जाने।
पथिक सम विहारी देह में नित्य माने॥
विषम भव समुद्रं तुर्त हो पार करता।
पशुपद वत् क्षण में मुक्तितिय आप वरता॥३८॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो संसारिक सुखसे विमुख होता है वही आत्मसुख को पाता है:—

बाह्यं सौख्यं विषयजनितं मुंचते यो दुरन्तं।
स्थेयं स्वस्थं निरुपममसौ सौख्यमाप्नोति पूतम्॥
योऽन्यैर्जन्यं श्रुतिविरतये कर्णयुग्मं विधत्ते।
तस्यच्छन्नो भवति नियतः कर्णमध्येऽपि घोषः॥३९॥

अन्वयार्थ—(यः) जो कोई (दुरन्तं) दुःखदाई (बाह्यं) बाहरी (विषयजनितं) इन्द्रिय जनित (सौख्यं) सुखको (मुंचते) त्याग देता है (असौ) वही (स्वस्थं) अपने आत्मामें स्थित (स्थेयं) अविनाशी व (निरुपमम्) उपमारहित व (पूतम्) पवित्र (सौख्यम्) सुखको (आप्नोति) पा लेता है (यः) जो कोई (अन्यैः जन्यं श्रुति-

विरतये)दूसरोंसे कहे हुए शब्दोंको सुननेसे विरक्त होनेके लिए (कर्णयुग्मं)अपने दोनों कान(विधत्ते) ढक लेता है (तस्य) उसके (कर्णमध्येऽपि)कानोंके मध्य ही(छन्न:) गुप्त(घोष:) शब्दों का उच्चारण (नियत:)सदा(भवति) होता रहता है।

भावार्थ—यहाँ आचार्य कहते हैं कि विषयसुखका व आत्मसुखका विरोध है, जिसको इन्द्रियोंके विषयोंके भोगोंकी लालसा है उसका लक्ष्य नहीं रहेगा, उसको कभी भी आत्मसुखका लाभ नहीं हो सकता है तथा जिसको आत्मसुखका स्वाद आ जाता है वही विषयोंके स्वादको विषके समान जानता है। जिसकी वृत्ति विषयसुखमें विरक्तहो जाती है वही आत्मीक सुखको पालेता है, विषयों का सुख सुखसा दिखता है यह अंत में दु:खोंका कारण है तथा बाहरी पदार्थों के आधीन हैं। जब कि आत्मसुख स्वाधीन है और उपमा रहित है जिसकी मिसाल नहीं दी जा सकती है। इसपर आचार्य दृष्टान्त देते हैं कि जो जगतके लोगोंके शब्दोंको सुनता रहेगा वह अंतरंगके छिपे हुए घोषको नहीं सुन सकता है परन्तु जो अपने दोनों कानोंको ढक लेवे ताकि बाहरी शब्द न सुनाई पड़े उसको अपने कानके भीतर छिपा हुआ शब्द सदा ही सुन पड़ता है। कहनेका प्रयोजन यह है कि जो बाहर से विरक्त होता है वही भीतरकी संपदाको पाता है इसलिए हमें संसारिक सुखसे विराग भजकर निजात्मिक सुखमें रुचि बढ़ाकर उसी के लिए आत्मा में ध्यान लगाना चाहिए और सामायिक के द्वारा समताभाव को बढ़ाना चाहिए। जिस किसीने अमृत फल का स्वाद नहीं पाया है उसी को तुच्छ मीठे फल स्वादिष्ट मालूम

पड़ते हैं, अमृत फल खानेवाले को वे फल स्वादिष्ट नहीं भासते हैं। आत्मीक सुखका स्वाद ही परम विलक्षण है। इंद्रिय सुखका लाभ प्राणीको महान अज्ञानी बना देता है। अमितगति महाराज सुभाषितरत्नसंदोह में कहते हैं—

लोकाचितोऽपि कुलजोपि बहुश्रुतोपि,
धर्मास्थितोपि विरतोपि शमान्वितोपि।
अक्षार्थपन्नगविषाकुलितो मनुष्य-
स्तन्नास्ति कर्म कुरुते न यदत्र निद्यम् ॥१००॥

भावार्थ—कोई मानव लोगोंसे पूज्यनीय हो, अत्यन्त कुलीन हो, बहुत शास्त्रका पारगामी हो, धर्ममें चलने वाला हो, विरक्त हो व शांतभाव सहितभी हो। यदि उसके इन्द्रियविषयरूपी सर्प का विष चढ़ जावे तो वह आकुलित होकर ऐसा बावला हो जाता है कि वह कौनसा निन्दनीय कार्य है जिसे वह नहीं कर डालता है। वास्तवमें इन्द्रिय सुखमें आशक्ति मानवको धर्मभाव से गिराने वाली है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

विषय सुख विकारं दुःखमय छोड़ता जो।
निरुपम थिरपावन आतमसुख वेदता सो॥
जो दोनों कर्ण मूंदता पर न सुनता।
से निज कर्णोमें, घोष प्रच्छन्न सुनता ॥३९॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि पर संपत्तिको अपना मानना अज्ञान है—

शार्दूलविक्रीडित छन्द

संयोगेन विचित्रदुःखकरणे दक्षेण संपादिता-
मात्मीयां सकलत्रपुत्रसुहृदं यो मन्यते संपदम् ।
नानापायसमृद्धिवर्द्धनपरां कर्जं ऋणोपार्जितां ।
लक्ष्मीमेष निराकृतामितगतिर्ज्ञात्वा निजां तुष्यति ।४०।

अन्वयार्थ—(यः) जो कोई (विचित्रदुःखकरणे दक्षेण) नाना प्रकार के दुःख उत्पन्न करने में प्रवीण ऐसे (संयोगेन) शरीर व कर्म के संयोग से (संपदादिताम्) प्राप्त हुई (सकलत्रपुत्रसहृदं) स्त्री, पुत्र, मित्र आदि सहित (संपदम) सम्पत्तिको (आत्मीयां) अपनी ही (मन्यते) मानने लगता है (मन्ये) मैं समझता हूं कि (एषः) यह (निराकृतामितगतिः) विशेष ज्ञान रहित या मिथ्या ज्ञानी (नानापायसमृद्धिवर्द्धनपरां) प्राणी तरह-तरह की आपत्तियों को बढ़ाने वाली (ऋणोपार्जितां) कर्ज से प्राप्त होने वाली (लक्ष्मीम्) लक्ष्मीको (निजां) अपनी लक्ष्मी (ज्ञात्वा) जानकर (तुष्यति) सुखी हो रहा है।

भावार्थ—यहां आचार्य ने बताया है वह मानव महा मूर्ख है जो कर्म संयोग से प्राप्त पदार्थों को अपना मान लेता है। इस जीवके साथ कर्मोंका संयोग नाना प्रकार दुःखोंको उत्पन्न कराने वाला है. कर्मों के उदय से ही रोग, शोक, वियोग होता है। कर्मोंके उदयसे ही क्रोध, मान, माया, लोभ का विकार होता है। कर्मोंके निमित्त से शरीर की प्राप्ति होती है, शरीर में इन्द्रियां होती हैं। इन्द्रियोंसे इच्छापूर्वक विषय ग्रहण करता है। विषयों को पाकर राग करता है उनके चले जाने पर शोक करता है। पुण्यके उदयसे जब इसको मनोज्ञ स्त्री, सुन्दर पुत्र व साताकारी मित्र प्राप्त होते हैं तब उनमें राग करता है, जब यह नहीं रहते

व उनपर कोई आपत्ति आती है तो इसे बड़ा खेद होता है। सांसारिक पदार्थोंका सम्बन्ध व रक्षण आदिकी विधि करते हुए महान संकटों को सहना पड़ता है। जो कोई मूर्ख कर्मोंके उदयसे प्राप्त चेतन व अचेतन सम्पदा को अपनी मानता है वह मानो कर्ज लाकर पर की लक्ष्मीको अपनी मानता है। जो कर्ज लेकर ब्याज सहित धन चुकाता नहीं है वह अन्त में राजदण्ड आदि पाता है। बुद्धिमान कर्ज के धन में कभी ममता नहीं करते हैं। वह उसको परका ही मानते हैं व शीघ्र ही उसको दे डालना चाहते हैं इसी तरह कर्मोंके उदयसे प्राप्त पदार्थोंको ज्ञानी जीव अपना कभी नहीं मानते हैं—वे कर्मोंके छूटने पर छूट जाने वाले हैं। ज्ञानी अपनी आत्मीक ज्ञानदर्शन सुख वीर्यमई सम्पत्ति के सिवाय और किसीको अपनी नहीं मानता है। तत्वज्ञानी को यही भाव अपने मन में रखकर आत्मतत्वका मनन करना चाहिए। ज्ञानी ऐसा विचारते हैं जैसा स्वामी अमितगतिजी ने सुभाषितरत्नसंदोह में कहा है—

किमिहपरमसौख्यं निःस्पृहत्वं यदेत-
त्किमथ परमदुःखं सस्पृहत्वं यदेतत्।
इति मनसि विधाय त्यक्तसंगाः सदा ये,
विदधति जिनधर्मं ते नराः पुण्यवन्तः ॥१४॥

भावार्थ—जो मनुष्य ऐसा मनमें निश्चय करके कि इच्छा रहितपना ही परम सुख है तथा इच्छा सहितपना ही महान दुःख है परिग्रहों को छोड़कर जिनधर्म को धार करके सेवते हैं वह ही पुण्यात्मा हैं।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

नाना दुखकरकर्मसंग वशसे, पाई सकल संपदा।
वनितापुत्रसुमित्र राजलक्ष्मी, बुध नाश करती सदा।

इनको अपनी मानता नर कुधी मोही महा पातकी।
सो ऋणसे धन पाय मग्न रहता नहिं लाज है बातकी ।४०

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि ज्ञानी जीव किसी पदार्थ से रागद्वेष नहीं करते हैं—

यत्पश्यामि कलेवरं बहुविधव्यापारजल्पोद्यतम्।
तन्मे किंचिदचेतनं नकुरुते मित्रस्य वा विद्विषः॥
आत्मा यः सुखदुःखकर्मजनको नासौ मया दृश्यते।
कस्याहं बत सर्वसंगविकलस्तुष्यामि रुष्यामि च ॥४१॥

अन्वयार्थ—(मित्रस्य) मित्र के (वा विद्विषः) या शत्रु के (यत) जिसके (कलेवरं) शरीरको (बहुविधव्यापारजल्पोद्यतम्) नाना प्रकार आरंभ करनेमें व बात करनेमें लगा हुआ (पश्यामि) देखता हूं (तत्) वह शरीर (अचेतनं) चेतनता रहित जड़ है (मे) मेरा (किंचित्) कुछ (न कुरुते) नहीं कर सकता है (यः आत्मा) उनका जो आत्मा (सुखदुःखजनकः) सुख तथा दुःखका स्वरूप कर्मोंको उत्पन्न करनेवाला है (असौ) वह (मया) मेरेसे (न दृश्यते) देखा नहीं जाता है तथा (अहं) मैं (सर्वसंगविकलः) सर्व कर्मादि पर वस्तु के संग से रहित शुद्ध हूं तब (कस्य) किसपर (तुष्यामि) प्रसन्न होऊँ (रुष्यामि च) तथा रोष करूं (बत) यह विचारने की बात है।

भावार्थ—यहां पर आचार्य ने रागद्वेष मिटाने की एक रीति समझाई है। यह संसारी प्राणी उन मित्रोंसे प्रेम करता है जो अपने वचनों से हमारे हितकी बातें करते हैं व अपने आचरणसे हमारी तरफ अपना हित दिखलाते हैं तथा उनको शत्रु समझ

द्वेष करता है जो हमारे अहित की बातें करते हैं तथा अपने व्यवहारसे हमारी कुछ हानि करते हैं। सामायिक करते हुए प्राणीके मनसे रागद्वेष हटानेके लिए आचार्य कहते हैं कि हे भाई! तू किस पर राग व किस पर द्वेष करेगा जरा तुझे विचारना चाहिए। यदि तू मित्रके शरीरसे राग व शत्रुके शरीरसे द्वेष करे तो यह तेरी मूर्खताही होगी क्योंकि शरीर बिचारा जड़ अचेतन है वह न किसीका बिगाड़ करता है न सुधार करता है। शरीर के सिवाय उनका आत्मा है उसको यदि तू सुख तथा दुःखका देने वाला माने तो वह आत्मा बिलकुल नहीं दिखता, उसका भाव यह हो गया है कि इन्द्रियोंके भोगोंसे आत्माको सुख-शांति नहीं होती है। किन्तु उल्टा रागद्वेषकी मात्राएं बढ़कर मोक्षमार्ग में विघ्न आता है। उसकी लालसा खाने-पीने देखने आदिसे हट गई हो। तथा आत्मसुखका अनुभव होने लग गया हो और यह सच्चा ज्ञान हो कि जैसे कोई यात्री अपनी यात्रामें भिन्न-२ स्थानोंसे विश्राम करता हुआ जाता है वैसे यह आत्मा भी एक यात्री है जिसकी यात्राका ध्येय मोक्ष द्वीप है सो जबतक मोक्ष न पहुंचे यह भिन्न-२ शरीरमें वास करता हुआ यात्रा करता रहता है तथा यह अविनाशी है। शरीरके बिगड़ते हुए आत्मा नहीं बिगड़ता है। यह अनादिसे अनंतकाल तक अपनी सत्ता रखने वाला है। इस तरह जिसका लक्ष्य शरीररूपी ठहरनेके स्थान पर नहीं रहता है किन्तु मुक्तिद्वीपमें पहुंचना है यह लक्ष्य रहता है तथा जिस किसी शरीरमें कुछ कालके लिए ठहरता है उसे मात्र एक धर्मशाला जानता है उस शरीरमें व उसके संबंधी चेतन व अचेतन न जाने तबतक उस पर राग व द्वेष किस तरह किया जा सकता है। तथा मेरा स्वभाव भी रागद्वेष करने का नहीं है। मैं सर्व संगसे रहित हूं। न मेरे में कोई ज्ञानावरणादि

द्रव्य कर्म है न शरीरादि नोकर्म हैं न रागद्वेषादि भाव कर्म हैं। मैं निश्चयसे सबसे निराला सिद्धके समान ज्ञातादृष्टा अविनाशी पदार्थ हूँ। इसलिए मुझे उचित है कि समताभावमें रमण कर आत्मीक सुखका अनुभव करूँ। जगतमें न मेरा कोई शत्रु है न मेरा मित्र है। इसी तरह श्रीपूज्यपाद स्वामी ने समाधिशतक में कहा है—

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः॥२६॥

भावार्थ—मेरे को न देखता हुआ यह लोक न मेरा शत्रु है न मेरा मित्र है अर्थात् चर्म की आँखों से मेरे आत्माको कोई देख नहीं सकता है इसलिए मेरे आत्माका न कोई शत्रु है न मित्र है तथा मेरेको अर्थात् मेरे आत्माको देखनेवाला लोक है यह भी मेरा शत्रु व मित्र नहीं हो सकता क्योंकि वीतरागी आत्मा ही आत्माको देख सकता है। इसलिए न मेरा कोई मित्र है न शत्रु है—

श्री शुभचन्द्राचार्य ने भी ज्ञानार्णवमें कहा है :—

अदृष्टमत्स्वरूपोऽयं जनो नारिर्न मे प्रियः।
साक्षात् सुदृष्टरूपोपि जनो नारिः सुहृन्न मे॥३२॥

भावार्थ—जिस मानव ने मेरे आत्माके स्वराजको देखा ही नहीं है वह न मेरा शत्रु है न मित्र है व जिसने प्रत्यक्ष मेरे आत्मा को देख लिया है वह महान मानव भी न मेरा शत्रु हो सकता है न मित्र।

निश्चय नय के द्वारा देखते हुए शत्रु मित्र की कल्पना ही मिट जाती है—

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

या जग में हितकारि मित्र मेरा, वा शत्रु जो दुःख करे।
देखूं देह अचेतनं तिन्होंकी, सो देह मम क्या करे।
सुखदुःखकारी आत्मा यदि कहो, सो दृष्टि पड़ता नहीं।
मैं निश्चय परमात्मा असंगी, रुष तोष करता नहीं ॥४१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मेरा कोई नाश कर नहीं सकता मैं किससे राग व द्वेष करूँ।

क्रोधावद्धधिया शरीरकमिदं यन्नाश्यते शत्रुणा।
सार्धं तेन विचेतनेन मम नो काप्यस्ति संबंधता॥
संबंधो मम येन शश्वदचलो नात्मा स विध्वस्ते।
न क्वापीति विधीयते मतिमता विद्वेषरागोदयः ॥४२॥

अन्वयार्थ—(क्रोधावद्धाधिया) क्रोध से युक्त बुद्धिवाले (शत्रुणा) शत्रु से (यत्) जो (इदं) यह (शरीरकम्) शरीर (नाश्यते) नाश किया जाता है (तेनविचेतनेन सार्धं) उस अचेतन शरीरके साथ (मम) मेरा (कापि) कुछ भी (सम्बन्धता) सम्बन्ध (नोअस्ति) नहीं है (येन) जिसके साथ (मम शश्वत् अचलः संबंधः) मेरा हमेशा निश्चल सम्बन्ध है (सः) वह (आत्मा:) आत्मा (न विध्वस्यते) नहीं नाश किया जा सकता है (इति) ऐसा समझकर (मतिमता) बुद्धिमान पुरुष के द्वारा (क्वापि) किसी में भी (विद्वेषरागोदयः) रागद्वेष का प्रकाश (न विधीयते) नहीं किया जाता है।

भावार्थ—यहाँ आचार्य ने शत्रुभाव को मिटानेकी और एक रीति बताई है। जो कोई किसीका शत्रु बनकर उसको नाश

करता है वह मानव उस क्रोधरूपी पिशाच के वश होकर बावला बन जाता है। वह उन्मत्त पुरुषके समान है जिसने गाढ़ नशा पी लिया हो। बावलेकी चेष्टाका बुरा मानना मूर्खता है। तिस पर भी उस क्रोधी मानवने यदि मेरे इस शरीरको नाश किया तो मेरा क्या बिगड़ा। शरीर तो स्वयं जड़ है, नाशवंत है मेरा और उसका क्या सम्बन्ध ? यह तो मात्र मेरे रहने का घर है घरके जलनेसे व नष्ट होनेसे घर वाला नष्ट नहीं हो सकता। मैं चेतन अमूर्तिक अविनाशी हूं मेरा सम्बन्ध अपने इस स्वरूपसे ऐसा निश्चल है कि वह कभी छूट नहीं सकता। इस मेरे आत्मा को नाश करनेकी किसीकी ताकत नहीं है। जब मेरे आत्माका कोई बिगाड़ या सुधार करही नहीं सकता है तब मैं किस मानव में राग करूं व किस मानवसे द्वेष करूं ? यदि मैं राग-द्वेष करता हूँ तो मैं मूर्ख व बावला हूँ। इसलिए न मुझे किसीसे राग करना चाहिए न द्वेष। मुझे पूर्ण समताभाव में ही रमण करके सुखी रहना चाहिए। निश्चयनय से यहां भी साधकको अपने आत्मा को शुद्ध अविनाशी चेतन धातुमय अमूर्तिक अनुभव कर लेना चाहिए। मेरा कोई शत्रु है व कोई मेरा मित्र है इस कल्पना को बिलकुल मिटा देना चाहिए।

परमार्थविंशति में श्री पद्मनंदि मुनि कहते हैं—

केनाप्यस्ति न कार्यमाश्रितवता मित्रेण चान्येन वा।
प्रेमांगेपि न मेऽस्ति संप्रति सुखी तिष्ठाम्यहं केवलः।
संयोगेन यदत्र काष्ठमभवत्संसारचक्रे चिरं।
निर्विण्णः खलु तेन तेन नितरामेकाकिता रोचते ॥४५॥

भावार्थ—मेरा कोई सम्बन्ध न किसी आश्रय करने वाले इस सेवक से है न किसी मित्रसे है। मेरा प्रेम इस शरीर पर भी नहीं है। मैं अब केवल अकेला ही सुखी हूं इस संसार में अनादि से इस शरीरादि के संग से बहुत कष्ट पाए इसलिए मैं अब इनसे उदास हो गया हूं, मुझे सदा एक अपना निराला रूप ही रुचता है। वास्तवमें ज्ञानीके ऐसा ज्ञानभाव सदा रहता है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

क्रोधांधी यदि शत्रुने तन यही मम नाशकर दुख दिया।
सो जड़ हूं मैं चेतना गुणमई, सम्बंध मुझसे न भया।
मेरा है सम्बन्ध नित्य निजसे सो नाश होवे नहीं।
इम लख बुधजन रागद्वेष कोई, किंचित् जु करता नहीं ॥४२

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि शरीरका मोह ही संकटोंका मूल है—

एकत्रापि कलेवरे स्थितिधिया कर्माणि संकुर्वता।
गुर्वी दुःखपरंपरानुपरता यत्रात्मना लभ्यते॥
तत्र स्थापयता विनष्टममतां विस्तारिणीं संपदम्।
कांशाक्षणनूपेक्षरेण हरिणा न प्राप्यते कथ्यताम् ॥४३

अन्वयार्थ—(यत्र) जिस संसार से (एकत्रापि कलेवरे) इसी एक शरीर में ही (स्थितिधिया) स्थिरतापने की बुद्धि करके (कर्माणि संकुर्वता) नाना प्रकार पाप कर्मों को करते हुए (आत्मना) आत्माने (गुर्वी) बड़ी भारी (दुःखपरम्परानुपरता) दुखों की संतान को बढ़ाने वाली अवस्था (लभ्यते) प्राप्त कर ली है (तत्र) उसी संसारमें (विनष्टममतां) ममतारहितपनेको या वीतरागभावको (स्थापयता) स्थापित करने वाले आत्मासे (का) कौनसी (विस्तारिणी) बड़ी भारी (सम्पदा) सम्पदा (नहीं प्राप्यते) न प्राप्त कर ली जा सकती है कि जिसको

(शक्रेण नृपेश्वरेण हरिणा) इन्द्र चक्रवर्ती या नारायण नहीं प्राप्त कर सकते हैं। अर्थात अवश्य मुक्ति लक्ष्मीकी प्राप्ति की जा सकती है।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्य ने बतलाया है कि ममता ही दुःखोंको बढ़ानेवाली है व ममता का त्याग ही मुक्तिरूपीलक्ष्मी को प्राप्त करानेवाला है। इस संसारमें इस जीवने अनन्तकालसे भ्रमण करते हुए अनन्त शरीर पाये व छोड़े व हर एक शरीरमें रहकर व उसी में लिप्त होकर बहुत से कर्मों का बंधन किया। जिस कर्मबंध के कारण संसार में भ्रमण करता रहा। अब यह मानव जन्म पाया है। यदि फिर भी इस शरीर में व शरीर के इंद्रियोंमें ममता की जावेगी तो ऐसा कर्मों का बंध होगा जिससे इस जीवको नर्कनिगोद आदि गतियोंमें जाकर दुखोंकी परिपाटीको बढ़ा देना होगा, फिर मानव जन्मका मिलनाही दुष्कर हो जायगा और यदि यह मानव बुद्धिमान होकर इस क्षणभंगुर व अपवित्र शरीरपर ममत्व न करे और अपने आत्मा के स्वरूप को पहचान कर उसका ध्यान करे तो यदि शरीर उच्च स्थिति का हो व मोक्षपाने योग्य सामग्री हो तो उसी जन्मसे मोक्ष की अनुपम सम्पदाको पा सकता है और यदि शरीर मोक्षके पुरुषार्थ के योग्य न हो तब भी उत्तम संयोगोंके पाने का पात्र होता हुआ परम्परा मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। मोक्ष की सम्पदा अनुपम है। यह आत्मीक है, पराधीन नहीं है। वह आत्मा का ही अनंत ज्ञान, सुख वीर्य आदि है। इस मुक्ति की सम्पत्ति को इन्द्र चक्रवर्ती व नारायण आदि भी नहीं पा सकते हैं। वास्तव में आत्मज्ञानी ही व आत्मध्यानी ही ऐसे सुखके अधिकारी हैं। जो शरीर के दास हैं वे ही संसार के दास हैं, वे ही अनंतकाल भ्रमण करने वाले हैं। इसलिए ज्ञानी जीवको इस क्षणिक शरीर

में मोह न करके नित्य निरंजन निज आत्मा में ही प्रेम बढ़ाना उचित है।

निश्चयपंचाशत् में पद्मनंदि मुनि कहते हैं—

वपुरादिपरित्यक्ते मज्जत्यानंदसागरे मनसि।
प्रतिभाति यत्तदेकं जयति परं चिन्मयं ज्योतिः ॥३॥

भावार्थ—जब मनका मोह शरीरादि से छूट जाता है और यह मन आनंदसागर में डूब जाता है तब मनमें जो कुछ प्रतिभास होता है वही एक परम चैतन्यमय ज्योति है वह जयवंत रहो।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो कोई इस एक देहको ही, थिर मान अघको करे।
सो सन्तान महान् दुःख लहिके चारों गतीमें फिरे ॥
पर जो ममता टाल आप माहीं, आपो रती धारता।
अनुपम शिव संपत् अपारलहता इत्यादि नहिं पावता ॥४३॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जिन बातोंसे शरीरका लाभ होता है उनसे आत्मा का बुरा होता है इससे उनसे बचना ही हितकर है—

ये भावः परिवर्धिता विदधते कायोपकारं पुन-
स्ते संसारपयोधिमज्जनपरा जीवापकारं सदा ॥
जीवानुग्रहकारिणो विदधते कायापकारं पुन-
र्निश्चित्येति विमुच्यतेऽनघधिया कायोपकारि त्रिधा ॥४४

अन्वयार्थ—(ये) जो (परिवर्धिताः भावाः) धारण किये हुए व बढ़ाए हुए रागादि भाव व स्त्री, पुत्र, मित्र राज्यधन सम्पदा

आदि पदार्थ (कायोपकारं) इस शरीरका भला (विदधते) करते हैं (पुनः) परंतु (ते) वे भाव या पदार्थ (संसारपयोधिमज्जनपराः) संसारसमुद्रमें डुबाने वाले हैं इसलिए (सदाजीवापकारं) हमेशा जीवका बुरा करते हैं। (पुनः) तथा (जीवानुग्रहकारिणः) जो वीतराग भाव या तप, व्रत, संयम आदि जीव के उपकार करने वाले हैं वे (कायापकारं) शरीरका बुरा (विदधते) करते अर्थात् शरीरको संयमी व संकुचित रहने वाला बताते हैं (इति) ऐसा (निश्चित्य) निश्चय करके (अनघधिया) निर्मल बुद्धिवान मानवको (त्रिधा) मन, वचन, काय तीनों प्रकारसे (कायोपकारि) शरीरको लाभ देने वाले और आत्माका बुरा करने वाले पदार्थोंको या भावोंको (विमुच्यते) छोड़ देना उचित है।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्यने बताया है कि शरीरका दासपना करोगे तो आत्माका बुरा होगा और जो आत्मा का हित करोगे तो शरीरका दासपना छूटेगा। वास्तवमें जो मानव स्त्री पुत्र धनादि सम्पदाओंमें मोही हो जाते हैं अथवा अपने आत्माके भीतर कर्मोंके उदयसे पैदा होने वाले रागादि भावोंमें तन्मय रहते हैं वे मोही जीव रातदिन अनादि सामग्रीके एकत्र करनेमें, रक्षण करने में व विषयभोगों में लगे रहते हैं। वे इन कामों से शरीर का रात-दिन चाकरीपन करते हैं, उसको बड़े आराम से रखते हैं। वे किंचित् भी कष्ट सहकर अपने आत्माके हित की तरफ ध्यान नहीं देते, उनसे न जप होता न तप होता न व्रत पाले जाते न वे दर्शन पूजा स्वाध्याय करते न वे पात्रोंको दान देनेका कष्ट उठाते न वे सामायिक करते न संयम पालते न शुद्ध भोजन करते, वे हिंसादि पापोंको स्वच्छन्द वृत्ति से करते हुए व तीव्र विषयवासना में लिप्त होते हुए ऐसे पापकर्मोंको बांध लेते

कि जिनसे इस आत्मा को दुर्गतिमें जाकर घोर संकट भुगतना पड़ता और उसको उद्धारका मार्ग मिलना कठिन हो जाता है तथा जो बुद्धिमान इस मानवदेहको धर्मसाधनमें लगाते जप, तप, शील, संयम पालते ध्यान स्वाध्याय करते वे अपने आत्मा का सच्चा हित करते उसे सच्चे सुखका भोग कराते, उसी मुक्ति के मार्ग पर चलते हैं। यद्यपि इसी तरह वर्तन करते हुए शरीरको काबूमें रहना पड़ता तब शरीर अवश्य पहले की अपेक्षा कुछ सूखता। इतना ही नहीं ये सब कार्य जो मोक्षमार्ग के साधक हैं वे वास्तव में शरीर के नाशके ही उपाय हैं। इन साधनोंसे कुछ कालके पीछे शरीरका सम्बन्ध बिलकुल भी न रहेगा और यह शरीर ऐसा छूट जायगा कि फिर इसको यह आत्मा कभी नहीं ग्रहण करेगी। ऐसी व्यवस्था है तब ज्ञानीको यही करना उचित है कि शरीर जो पर पदार्थ है उसके पीछे अपना बुरा न कर डाले। उसे शरीरके मोह में नहीं पड़ना चाहिए और शरीर का सम्बन्धही न मिले ऐसाही उपाय करना चाहिए अर्थात् आत्मा के हित के लिए तप आदि आत्मध्यान को बड़े भाव से करना चाहिए यही आचार्य का भाव है।

पूज्यपाद स्वामी ने भी इष्टोपदेश में कहा है :—

तज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकम्।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम् ॥१९॥

भावार्थ—जो बातें जीवको लाभकी हैं उनसे शरीरका बुरा होता है तथा जिनसे देहका भला होता है उनसे जीव का उपकार होता है।

इसमें ज्ञानीको यही विचारना चाहिए कि कोईका घर नष्ट हो परन्तु घरमें रहने वाला बच जाय तो वह काम करना अच्छा

है कि घर तो बच जाय व रहने वालेका नाशहो जाय यह काम करना अच्छा है ? वास्तवमें घरसे घरवालेका मूल्य बहुत ज्यादा है। घर तो फिर भी बन सकता है। परन्तु घरवाला मर गया तो फिर जीना कठिन है। इसलिए शरीर के मोह में न पड़कर आत्महित ही करना श्रेष्ठ है।

एकत्वाशीति में श्री पद्मनंदि मुनि कहते हैं—

बहिर्विषयसम्बन्धः सर्वः सर्वस्य सर्वदा।
अतस्तद् भिन्नचैतन्यबोधयोगौ तु दुर्लभौ ॥१॥

भावार्थ—बाहरी शरीर आदि पदार्थों का सम्बन्ध तो सर्व जीवोंके सदा ही होता रहता है वह तो सुलभ है। परन्तु बाहरी पदार्थोंसे भिन्न आत्माका ज्ञान व आत्मा का ध्यान कठिनता से मिलते हैं इसलिए इनका अभ्यास हितकारी है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो धन आदि पदार्थ भाव रागी, या देह को हित करें।
सो संसार समुद्र मांहि पटकें निजको सदा दुख करें॥
हितकर्ता तप आदि भाव जियको सो देहको दुख करें।
निर्मलधी इम जान देह हितकर परिणाम खंडन करें ॥४४॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि आत्मा की आराधना से ही आत्मा के पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होती है :—

शालिनी छन्द

आत्मा ज्ञानी परममलं ज्ञानमासेव्यमानः।
कायोऽज्ञानी वितरति पुनर्घोरमज्ञानमेव॥
सर्वत्रेदं जगति विदितं दीयते विद्यमानं।
कश्चित्त्यागी न हि खकुसुमं क्वापि कस्यापि दत्ते ॥४५॥

अन्वयार्थ—(आत्मा) आत्मा (ज्ञानी) ज्ञान स्वरूप है, (आसेव्यमानः) यदि इसकी सेवा की जावे तो यह (परमम्) उत्कृष्ट, (अमलं) निर्मल (ज्ञानं) ज्ञान को (वितरति) देता है (पुनः) जब कि (कायः) शरीर (अज्ञानी) ज्ञान रहित है (घोरं अज्ञानं एव) यदि इसकी सेवा की जावे घोर अज्ञान को ही देता है (जगति) इस जगत में (इदं) यह बात (सर्वत्र) सर्व स्थानमें (विदितं) प्रसिद्ध है कि (विद्यमानं दीयते) जिसके पास जो होता है वही दिया जाता है (कश्चित्) कोई भी (त्यागी) दानी (खकुसुमं) आकाश के फल को (क्वापि) कहीं भी (कस्यापि) किसी को भी (नहिदत्ते) नहीं दे सकता है।

भावार्थ—यहांपर आचार्य कहते हैं कि पूर्ण ज्ञान और पूर्णानन्दकी प्राप्ति करना चाहें उनको उचित है कि अपने आत्माका ही सेवन करें। क्योंकि आत्मा स्वयं ज्ञान स्वरूप व वीतराग आनन्दमयी है। यदि आत्माका ध्यान किया जायगा तो आत्मा को अवश्य ही जो उसके पास गुण हैं वे स्वयं प्राप्त हो जायेंगे। यदि कोई शरीर की सेवा करे, शरीर के मोह में रहकर उसकी सेवाचाकरीमें लगा रहे, उसके कारण जो राग, द्वेष, मोह होता है उसीको अपना स्वरूप मानता रहे, रातदिन अहंकार ममकार में लीन रहे तो उस अज्ञानी को आत्मीक गुणों को छोड़कर जड़ अचेतन रूप शरीर व कर्मबंध व कर्मोदय रूप रागद्वेष रस इनकी सेवा करते रहने से अज्ञानका ही लाभ होगा, कभी भी शुद्ध ज्ञानकी प्राप्ति न होगी। क्योंकि जगत में यह नियम है कि जो किसीकी सेवा सच्चे भावसे करता है उसको वह वही वस्तु दे सकता है जो उसके पास है। यदि कोई उससे ऐसी वस्तु मांगे जो उसके पास नहीं है तो, वह उसे कभी नहीं दे सकता है।

आकाशका फूल कभी होता नहीं, फूल तो किसी वृक्ष की शाखा में होता है। यदि कोई बड़ा भारी दाता है और उससे कोई याचक यह कहे कि तू मुझे आकाशका फूल दे तो वह कभी उसे दे नहीं सकता क्योंकि उसके पास आकाशका फूल है ही नहीं। तात्पर्य कहनेका यह है कि शरीर जड़ है इसकी पूजासे जड़-मूर्ख ही रहोगे। कभी सम्यग्ज्ञानी व केवलज्ञानी नहीं हो सकते किंतु जब निज आत्मा का ध्यान करोगे तो अवश्य सम्यग्ज्ञान व सुख शांति की प्राप्ति होगी।

इष्टोपदेश में श्री पूज्यपादस्वामीने भी ऐसा ही कहा है—

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः।
ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः ॥२३॥

भावार्थ—अज्ञानकी सेवासे अज्ञान होगा और ज्ञानी आत्मा की सेवासे ज्ञान होगा। यह प्रसिद्ध है कि जिसके पास जो है वही दूसरे को उसी में से कुछ दे सकता है।

एकत्वाशीति में पद्मनंदि मुनि कहते हैं—

अजमेकं परं शांतं सर्वोपाधिविवर्जितम्।
आत्मानमात्मना ज्ञात्वा तिष्ठेदात्मनि यः स्थिरः ॥१८

स एवामृतमार्गस्थः स एवामृतमश्नुते।
स एवार्हन् जगन्नाथः स एव प्रभुरीश्वरः ॥१९॥

भावार्थ—जो कोई स्थिर होकर आत्माके द्वारा अजन्मा, एक रूप, उत्कृष्ट, वीतराग, सर्वरागादि उपाधिरहित अपने आत्माको

जानकर अपने आत्मामें तिष्ठता है व आत्मानुभव करता है वही मोक्षमार्ग में चलने वाला है, वही आत्मानंदरूपी अमृतका भोग करता है, वही अर्हंत वही जगतका स्वामी व वही प्रभु व वही ईश्वर है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो निज आतम स्वच्छ ज्ञानमयको भजता परम प्रेम से।
पाता निर्मलज्ञान और सुखको लहता शिवं नेम से॥
जो सेता निजतन अचेतन महा लहता न ज्ञानं कभी।
बाला वेचे जो कि पास निज हो नभ फूल दे नहिं कभी॥४५॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि लोग सुख की तो इच्छा करते हैं परन्तु उपाय उल्टा करते हैं।

कांक्षन्तः सुखमात्मनोऽनवसितं हिंसा परैः कर्मभिः।
दुःखोद्रेकमपास्तसंगधिषणाः कुर्वन्ति धिक्कामिनः॥
बाधां किं न विवर्धयन्ति विविधैः कंडूयनैः कुष्टिनः।
सर्वांगावयवोपमर्दनपरैः खर्जूकषाकांक्षिणः॥४६॥

अन्वयार्थ—(अनवसितं) निरन्तर (आत्मनः सुखं) अपने को सुख की (कांक्षन्तः) इच्छा करने वाले (अपास्तसंगधिषणाः) विवेक बुद्धि से रहित (कामिनः) कामी पुरुष (धिक) यह बड़े दुःखकी बात है कि (हिंसापरैः कर्मभिः) हिंसामई क्रियाओं के द्वारा (दुःखोद्रेकं) दुःखों के वेगको (कुर्वंति) बढ़ा लेते हैं। जैसे (खर्जूकषाकांक्षिणः) खुजाने की इच्छा करने वाले (कुष्टिनः) कोढ़ी लोग (विविधैः) नाना प्रकार (कंडूयनैः) खुजाने की वस्तुओं से (सर्वांगावयवोपमर्दनपरैः) सारे अंग के भागों को मलने से (किं) किस (बाधां) कष्टको (न विवर्धयंति) नहीं बढ़ा लेते हैं?

अर्थात् अवश्य बढ़ा लेते हैं।

भावार्थ—यहां पर आचार्यने बताया है कि इन्द्रियोंके भोगों को भोगकर सुख की इच्छा करना मूर्खता है। जैसे कोढ़ी लोग जिनको खाज खुजाने की इच्छा इसलिए होती है कि खाज मिट जावे, सारे अंग को खुजाते हैं इससे उनकी खाज मिटती नहीं उल्टी बढ़ जाती है वैसे इंद्रियों के भोगों से जो तृप्ति चाहते हैं उनके कभी तृप्ति व संतोष नहीं होता है, उल्टी तृष्णाकी ज्वाला और बढ़ जाती है। इन्द्रियोंके भोगों में लिप्त होने से उस जन्म में सुख नहीं मिलता, इतना ही नहीं उससे आगामी जीवन को भी नष्ट करता है क्योंकि इन्द्रिय भोग योग्य पदार्थों की इच्छा करके यह प्रचुर धन प्राप्त करना चाहता है या अनेक विषयोंकी सामग्रीको इकट्ठा करना चाहता है जिससे बहुत अधिक हिंसामई आरम्भ करता है, असत्य बोलता है व अनेक परिग्रह कर लेता है। इस कारण तीव्र पापोंको बांध लेता है उस पाप के उदय से परलोक में महान् दुःख की योनियों में पड़ जाता है व वहां भी पाप के उदयसे दुःखी हो जाता है व आपत्ति संकटोंमें पड़ जाता है। खाज खुजाने वाले को खाज जैसे मिटने के स्थान में बढ़ जाती है तैसे इन्द्रियभोगों को भोगकर तृप्ति चाहने वालों की तृष्णा की आग और अधिक बढ़ जाती है। ऐसा समझकर जो सुख की इच्छा हो तो आत्मीक सुख की खोज करनी चाहिए और उस सुख के लिए अपने आत्मा का ध्यान ही उपाय है इसको ग्रहण करना चाहिए।

अमितगति महाराज ने सुभाषितरत्नसंदोह में कहा है कि सच्चा सुख वीतरागी महात्माओं को ही मिलता है—

यदिह भवति सौख्यं वीतकामस्पृहाणां।
न तदमरविभूनां नापि चक्रेश्वराणामें॥

इति मनसि नितान्तं प्रीतिमाधाय धर्मं।
भजत जहित धंसान् कामसन्दुरस्तान् ॥१०॥

भावार्थ—जो सुख इस लोक में उन महात्माओं को होता है जिनके कामभोगों की इच्छा नहीं रही है वह सुख न देवताओं को और न चक्रवर्ती राजाओं को हो सकता है। ऐसा जानकर मनमें गाढ़ प्रीतिको धारण कर धर्म की सेवा कर और कठिनता से छूटने वाले इन भोगों की इच्छारूपी शत्रुओं को त्याग दे।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो चाहें नित सौख्यको परकुधी हिंसामई कृति करें।
करते बुद्धि बिना जु भोग रत हो वे सुख कभी ना भरें।
जो कोढ़ी निज खाज टालन निमित अंगांग खुजलावता।
साता पाता है नहीं वह कुधी बाधा अधिक पावता ॥४६॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं जो अपने आत्माको अपने आत्मामें स्थिर करता है वही अपने आपका मित्र है व जो ऐसा नहीं करता है वह अपने आत्मा का शत्रु है—

व्यापारं परिमुच्य सर्वमपरं रत्नत्रयं निर्मलम्।
कुर्वाणो भृशमात्मनः सुहृदसावात्मप्रवृत्तोऽन्यथा।
वैरी दुःसहजन्मगुप्ति भवने क्षिप्त्वा सदा पातय-
त्यालोच्येति स तत्रजन्मचकितैः कार्यः स्थिरः कोविदैः॥

अन्वयार्थ—जो (सर्वं अपरं व्यापारं) सर्व दूसरे व्यापार को (परिमुच्य) छोड़ करके (निर्मलं) पवित्र (रत्नत्रयं) रत्नत्रय धर्मको भृशं कुर्वाणः) भले प्रकार पालने वाला व (आत्मप्रवृत्तः) अपने आत्माका मित्र है। (अन्यथा) जो ऐसा नहीं करता है वह (वैरी)

अपने आत्माका बैरी है। वह अपने आपको (सदा) सदा (दुःसह-जन्मगुप्तिभवने) न सहने योग्य संसारके भयानक जेलखाने में (क्षिप्त्वा) पटक कर (पातयति) अधोगतिमें पहुंचाता रहता है (इति) ऐसा (आलोच्य) विचार करके (जन्मचकितैः) संसार के जन्मसे भय रखने वाले (कोविदैः) बुद्धिमानोंको (तत्र) इस संसार में (सः स्थिरः कार्यः) वही स्थिर कार्य करना चाहिए अर्थात् अपने आत्मामें स्थिर होनेका उपाय करना चाहिए।

भावार्थ—यहां आचार्य ने बताया है कि वह आत्मा अपने आत्मा का घातक तथा शत्रु है, जो संसार के अनेक व्यापारों में तो उलझता है परन्तु अपने आत्मा के ध्यान को कभी नहीं आचरण करता है क्योंकि वह जीव नाना प्रकार पाप कर्मों को बांधकर अपने आत्मा को नरकनिगोद पशुगति आदि के महान कष्टों में डाल देता है। फिर उसको संसार में सुखी होने का मार्ग कठिनता से मिलता है और वह मोक्षमार्ग से दूर होता जाता है परन्तु जो कोई बुद्धिमान और सब शरीर सम्बन्धी व्यापारों को त्यागकर निर्मल सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र को भले प्रकार पालता हुआ अपने आत्मा के ध्यान में लयता पाता है वह अपने आत्मा का मित्र है। क्योंकि ध्यान के बल से वह कर्मों का नाश करता है आत्मा में सुख-शांति तथा बल को बढ़ाता है और मोक्ष मार्ग को तय करता जाता है, ऐसा जानकर जो कुछ भी बुद्धि रखते हैं उनका कर्तव्य है कि रागद्वेष भूलकर सर्व ही व्यापारों को छोड़कर ऐसा उपाय करें जिससे अपने आत्मा में स्थिरता पावे और फिर मुक्त हो जावे।

बुद्धिमानों को आत्मघाती होना बड़ा भारी पाप है। जो अपने आत्माकी रक्षा करता है वही सच्चा आत्मा का मित्र है।

सुभाषितरत्नसंदोह में स्वामी अमितगतिजी कहते हैं—

यद्वच्चित्तं करोषि स्मरशरनिहतः कामिनीसंग सौख्यं ।
तद्वत्त्वं चेज्जिनेन्द्रप्रणिगदितमते मुक्तिमार्गे विदध्याः ।
किं किं सौख्यं न यासि प्रगतनवजरामृत्युदुःखप्रपंचं ।
संचिन्त्यैवं विधिस्त्वं स्थिरपरमधिया तत्र चित्तस्थिरत्वम् ।४०६

भावार्थ—जिस प्रकार तू कामदेव के बाणसे बींधा हुआ स्त्री भोग के सुख में अपना मन लगाता है उसी तरह यदि तू श्री जिनेन्द्र भगवान से कहे हुए मोक्ष के मार्ग में चित्त को जोड़ दे तो तू जन्म जरा मरण के दुःखोंके प्रपंच से रहित क्या-क्या सुख को न प्राप्त करे? ऐसा विचारकर अपनी बुद्धि को उत्तमपने स्थिर करके उसी धर्म में स्थिरता रखनी चाहिए।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो तजके व्यापार अन्य जगके रत्नत्रयं निर्मलं।
सेवें ध्यावें आत्मको रुचि धरें सो मित्र आतमपरं॥
जो राचें संसार दुःख पावें हैं आत्म वैरी सदा।
बुधजन भवभयधार कार्य निजमें थिरता धरें सर्वदा॥४७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मूढ़ पुरुष धनादि में मग्न होकर मरणादि संकटों का विचार नहीं करता है।

मूढः संपदधिष्ठितो न विपदं संपत्तिविध्वंसिनीं।
दुर्वारां जनमर्दनीमुपयतीमात्मात्मनः पश्यति॥
वृक्षव्याघ्रतरक्षुपन्नगव्याधादिभिः सकुलं।
कक्षं वृक्षगतो हुताशनशिखां प्लोषयन्तीमिव॥४८॥

अन्वयार्थ—(मूढ़ः) मूर्ख (आत्मा) जीव (संपदधिष्ठितः) जो संपत्तिको रखने वाला है सो (आत्मनः) अपने ऊपर (जनमर्दनी)

मानवों को नाश करने वाली (संपत्तिविध्वंसिनी) तथा लक्ष्मी आदि का वियोग करने वाली (दुर्वारां) कठिनता से निवारने योग्य (विपदं) विपदाको (उपयतीं) आते हुए (न पश्यति) नहीं देखता है जैसा (वृक्षगत:) वृक्ष के ऊपर बैठा हुआ कोई मानव या पक्षी (वृक्षव्याघ्रतरक्षुपन्नगमृगव्याधादिभि:) वृक्ष, बाघ, तरक्ष, सर्प, मृग व शिकारी आदि से (संकुलं) भरे हुए (कक्षं) वन को (प्रप्लोषयन्तीं) जलाने वाली (हुताशनशिखां) अग्नि की शिखाके (इव) समान नहीं देखता है। अर्थात् जैसे वह मानव आग जलती तो देखता है परन्तु उठके भागता नहीं है ऐसा यह धनोन्मत्त पुरुष है।

भावार्थ—यहां पर आचार्यने बताया है कि यह संसार रूपी वन महा भयानक है जिसमें मरण की आग जल रही है जो इस वनमें रहते हैं वे मरते रहते हैं। जब प्राणीको मरण आ जाता है उस समय सर्व संपत्ति धन दौलत स्त्री पुत्र मकान राज्य आदि छोड़ जाना पड़ता है। इस मरण की आपत्तिको कोई टाल नहीं सकता है। अज्ञानी लोग यह देखा करते हैं कि आज यह मरा कल वह मरा था, आज यह सब छोड़के चल दिया कल वह छोड़ के गया था। संसार में मरण किसीको छोड़ता नहीं, न बालकको न वृद्ध को न बुद्धिशाली को न मूर्ख को न राजा को न रंकको न इन्द्रको न धर्णेन्द्रको न चक्रवर्तीको न तीर्थंकरको, तो भी लोग अपना ध्यान नहीं करते। जो मूर्ख धनके मदमें उन्मत है, संपदा में लिप्त है वह ऐसा अन्धा हो जाता है कि विषय भोगों को भोगता ही रहता है और मरण पाने वाला है इस बातको अपने लिए नहीं विचारता है, वह मूर्ख अज्ञानसे मरकर संसारमें कष्ट पाता है। यहां पर आचार्यने उस मूर्ख मानव या पक्षीका दृष्टांत दिया है जो किसी भयानक वनके भीतर एक वृक्ष पर बैठा हुआ

हो और उस वनमें आग लग रही हो तथा आगसे जल जावे इस भयसे शेर, हिरण, सर्प आदि पशु भागे आ रहे हैं, अग्नि बढ़ते-२ उस वृक्ष पर भी आने वाली है जिस पर वह बैठा है तथापि वह ऐसा बेखबर है कि आगको बढ़ती हुई देखकर आप उससे बचने का प्रयत्न नहीं करता है, भागता नहीं है। यही दशा अज्ञानी और मिथ्यादृष्टी जीव की है, तात्पर्य कहने का यह है कि संसार में परपदार्थके सम्बन्धको क्षणभंगुर जानकर व शरीरको कालके मुख में बैठा हुआ मानकर हमको सदा ही अपने आत्मोद्धार के प्रयत्नों में दत्तचित्त रहना चाहिए। श्री शुभचन्द्र आचार्य ने ज्ञानार्णव में कहा है—

शरीरं शीर्यते नाशा गलत्यायुर्न पापधीः।
मोहः स्फुरति नात्मार्थः पश्य वृत्तं शरीरिणाम् ॥२३॥

भावार्थ—शरीर तो गलता जाता है परन्तु आशा नहीं गलती है, आयु तो कम होती जाती है परन्तु पाप की बुद्धी नहीं जाती है मोह तो बढ़ता जाता है परन्तु आत्मा का हित नहीं होता है। शरीरधारी प्राणियों का चरित्र देखो कैसा आश्चर्यकारी है। यह मोह का महात्म्य है जिससे अपने नाशको सामने देखकर भी बावला हो रहा है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

मूरख संपत् लीन होय रहता भावी नहीं देखता।
धन नाशक मरणादि संकट बड़े आते नहीं पेखता॥
वृक्षावी मृग बाघ नागपूरित वनमाँहि अग्नी लगी।
बैठा वृक्ष सु देखता वन जले माँहि बुद्धि भागन लगी ॥४७

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि परमात्मा पद की प्राप्ति आत्मध्यान से ही होती है—

आत्मात्मानमशेषबाह्यविकलं व्यालोकयन्नात्मना।
दुष्प्रापां परमात्मतामनुपमामापद्यते निश्चितम् ॥
आत्मानं घनरूढकीचकचयः किं घर्षयन्नात्मना।
वह्नित्वं प्रतिपद्यते न तरसा दुर्वारतेजोमयम् ॥४५॥

अन्वयार्थ—(आत्मा) आत्मा (आत्मानम्) अपने आत्माको (नशेषबाह्यविकलं) सर्व बाहरी पदार्थों से भिन्न(आत्मना)अपने आत्मा के द्वारा (व्यालोकयन्)अनुभव करता हुआ(निश्चितम्) निश्चय से (दुष्प्रापां) कठिनता से प्राप्त होने योग्य (अनुपमां) तथा उपमा रहित (परमात्मतां) परमात्मा पद को (आपद्यते) प्राप्त कर लेता है (किं) क्या (घनरूढकीचकचयः) गाढ़ उठा हुआ बांसके वृक्षका समूह(आत्मना)अपने में (आत्मानं) आपको (घर्षयन्) घिसते-२ (तरसा) शीघ्र ही (दुर्वारतेजोमयं) न बुझाने योग्य तेजस्वी (वह्नित्वं) अग्निपने को (न प्रतिपद्यते) नहीं प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि आत्माको कर्मोंके मैल से छुड़ाने का व इसके गुणों को प्रकाश कर इस परमात्मा पद में पहुंचाने का उपाय इस आत्माके पास ही है। यदि यह आत्मा सर्व पुद्गलादि द्रव्यों से सर्व कर्म बन्धनों से, सर्व रागादि भावों से भिन्न मैं शुद्ध ज्ञाता दृष्टा आनन्दमयी अविनाशी अमूर्तीक एक द्रव्य हूं ऐसा निश्चय करके अपने आपको अपने आप ही से विचार करे, विचारते-२ उसीमें लय हो आत्मानुभव करे तो अवश्य उसके कर्म बन्ध कट जावें और यह शुद्ध परमात्मा हो जावे। इसपर दृष्टांत देते हैं कि जैसे वनमें बांसके वृक्ष के समूह स्वयं रगड़ते-२ अग्नि में बदल जाते हैं और ऐसी प्रचंडता को धारण करते हैं कि फिर कोई भी उसको बुझा नहीं सकता है।

इसलिए जो अपना आत्मकल्याण चाहते हैं उन्हें अपने आत्मा का ध्यान ही करना उचित है।

श्री पद्मनंदि मुनि सद्बोधचन्द्रोदयमें कहते हैं—

बोधरूपमखिलैरुपाधिभिः वर्जितं किमपियत्तदेव नः।
नान्यदल्पमपि तत्त्वमीदृशम् मोक्षहेतुरितियोगनिश्चयः॥२५

हमारा आत्मतत्त्व ज्ञानरूप है, सर्व रागादि की उपाधि से रहित है। इसके सिवाय और कोईभी जरासा भी हमारा तत्त्व नहीं है। ऐसा जो ध्यान का निश्चय है वही मोक्ष का मार्ग है। असल में बात यही है कि मोक्ष अपना ही शुद्ध चैतन्यरूप है, जहाँ अपने आप को सर्व परभावोंसे भिन्न अनुभव किया वहीं मोक्ष का आनन्द आने लगता है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो आतम निज आत्म आप ध्यावे परभावको टालता।
सो निश्चय दुर्लभ अनूपम परम शुद्धात्मा पावता॥
बनमें बाँस समूह आप आपो घर्षण करें आपको।
झटसे दुर्धर तेज धार अग्नी होवे करे तापको॥४९॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो शरीरके कार्यमें मोही है वह आत्मकार्य नहीं कर सकता।

व्यासक्तो निजकायकार्यकरणे यः सर्वदा जायते।
मूढात्मा स कदाचनापि कुरुते नात्मीयकार्योद्यमं॥
दुर्वारेण नरेश्वरेण महति स्वार्थे हठाद्योजिते।
भीतात्मा न कथंचनापि तनुते कार्यं स्वकीयं जनः॥५०

अन्वयार्थ—(यः) जो कोई (सर्वदा) सदा (निजकायकार्यकरणे) अपने शरीर के कार्य के करने में (व्यासक्तः) लगा हुआ (जायते) रहता है (सः) वह (मूढात्मा) मूढ़ बुद्धि (कदाचनापि)

कभी भी (आत्मीयकार्योद्यमं) अपने आत्माके कार्य का उद्यम (न कुरुते) नहीं करता है। (भीतात्मा जनः) भयभीत कायर जन (दुर्वारेण नरेश्वरेण) जिसकी आज्ञा उलंघन करना कठिन है ऐसे राजा द्वारा (हठात्) बलात्कारसे (महति स्वार्थे) किसी महान अपने कार्यमें (योजिते) लगा दिये जाने पर(स्वकीयंकार्यं) अपने स्वयं के कार्यको (कथंचनापि) कुछ भी (न) नहीं (तनुते) करता है।

भावार्थ—यहां पर आचार्य बताते हैं कि जैसे कोई मूर्ख प्राणी किसी राजा के यहां नौकर हो वह राजा उसको किसी कामको पूरा करने की आज्ञा देवे। वह मूर्ख राजासे डरता हुआ दिन-रात राजाके ही काममें लगा रहे, अपना निजका काम करने को समय ही न बचावे तब वह जगतमें मूर्खही कहलाएगा क्योंकि उसने अपने हितका काम करने के लिए कुछ भी समय नहीं निकाला। इसी तरह जो मूर्ख शरीर में अति आशक्ति रखता हुआ इन्द्रियों का दास हो जाता है। वह निरंतर शरीर को पोषा करता है, आराम दिया करता है, शरीर के लिए धन कमाया करता है, रात-दिन शरीरको आराम देनेमें लग जाता है वह अपने आत्मीक हितको बिलकुल भूल जाता है। बुद्धिमान प्राणीको शरीरके मोहमें इतना न पड़ना चाहिए कि वह अपनी आत्मीक उन्नति को भूल जावे। यदि वह गृहस्थ है वह धन कमावे, इन्द्रियों को न्यायपूर्वक भोगों में लगावें परन्तु अपने आत्माके कल्याणके लिए आत्म-धर्म को अवश्य सेवन करता रहे। किसी भी दशामें अपने सच्चे धर्मको भूल जाना बड़ी भारी नादानी है। हरएक गृहस्थी को भी सामायिक व ध्यान का अभ्यास करना चाहिए व नित्य कर्ममें सावधान रहना चाहिए।

धर्मका विस्मरण किसीभी समय न करना चाहिए। श्रीपद्मनंदि मुनि धर्मोपदेशामृतमें कहते हैं—

विहायव्यामोहं धनसदनतन्वादिविषये।
कुरुध्वं तत्तूर्णं किमपि निजकार्यं बतबुधाः॥
नयेनेदं जन्म प्रभवति सुनृत्यादिघटना।
पुनः स्याल्लस्याद्वा किमपरवचोऽडंबरशतैः ॥५२॥

भावार्थ—हे बुद्धिमानो। धन, गृह, शरीरादि के सम्बन्ध में ममताको छोड़कर शीघ्र ही अपने आत्महितके कार्य को करो जिससे यह संसार न बढ़ने पावे क्योंकि फिरसे यह उत्तम मनुष्य जन्म आदि की प्राप्ति हो या न हो व्यर्थ की बातों के बनाने से क्या लाभ होगा।

प्रयोजन यह है कि कैसी भी अवस्थामें हो, धर्म साधन को सदा ध्यानमें रखना चाहिए।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो निज देह मयी कुभोग रत हो निज देहको पालता।
सो मूरख निज आत्मकार्य हित को कुछ भी नहीं साधता॥
जो चाकर भयभीत हो नित रहे निज स्वामि कारज करे।
सो निज हितको भूल त्रास सहता निज जन्म पूरा करे ॥५०

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि धनादि पदार्थों में लीनता मोक्ष के साधनों में बाधक है—

लक्ष्मीकीर्तिकलाकलापललनासौभाग्यभाग्योदया-
स्त्वन्यस्मी स्फुटमात्मनीह सकला एते ततार्णितैः॥

जन्मांभोधिनिमज्जिकर्मजनकैः किं साध्यते कांक्षितं ।
यत्कृत्वा परिमुच्यते न सुधियस्तत्रादरं कुर्वते ॥५१॥

अन्वयार्थ—(इह) इस संसार में (लक्ष्मीकीर्तिकलाकलापललनासौभाग्यभाग्योदयाः) धन, यश, कलाओं का समूह, स्त्री, सौभाग्य, भाग्य का उदय आदि (एते सकलाः) ये सब पदार्थ (आत्मना) आत्मा द्वारा (स्फुटं त्यज्यन्ते) प्रत्यक्ष छोड़ दिये जाते हैं (अर्जितैः) इन पदार्थों को उत्पन्न करने से (जन्मांभोधिः-निमज्जिकर्मजनकैः) संसार समुद्रमें डुबाने वाले कर्मोंका बंध होता है इसलिए इन पदार्थों से (सतां) सज्जन पुरुषों का (किं) क्या (कांक्षितं) चाहा हुआ मोक्ष पुरुषार्थ (साध्यते) साधन किया जा सकता है ? अर्थात् नहीं साधन होता है। (यत्कृत्वा परिमुच्यते) जिस वस्तु व कामको पैदा करके फिर छोड़ना पड़े (तत्र) उस काम में या पदार्थ में (सुधियः) बुद्धिमान लोग (आदरं) आदर (न कुर्वते) नहीं करते हैं।

भावार्थ—यहां पर आचार्यने बताया है कि लक्ष्मी, धन, पुत्र, राज्यपाट, संसारिक यश, कला, चतुराई, स्त्री आदि सर्व पदार्थ मात्र इस देहके साथ हैं। आत्माका और इनका साथ कभी नहीं हो सकता है। एक दिन आत्माको छोड़ना ही पड़ता है। फिर इनके पैदा करने में, इकट्ठा करनेमें, प्रबंध करनेमें, बहुत राग-द्वेष मोह व बहुत पाप का संचय करना पडता है उस पापसे इस आत्माको संसार-समुद्रमें डूबना पड़ता है, दुर्गतिके अनेक कष्टों को सहना पड़ता है तथा जो बुद्धिमानों के लिए इष्ट है अर्थात् मोक्ष व स्वाधीन आत्मीक सुख है वह और दूर होता चला जाता है। इन स्त्री पुत्र धनादि के भीतर मोह करने से आत्मध्यान व वैराग्य नहीं प्राप्त होता जो मोक्षका साधक है।

प्रयोजन कहने का यह है कि धनादि पदार्थों का मोह करना वृथा है, इनको संचय करना भी वृथा है क्योंकि एक तो ये कभी आत्माके साथ-२ जाते नहीं स्वयं छूट जाते हैं, दूसरे इनके मोह में आत्माका उद्धार नहीं होता है, आत्मा पवित्र नहीं हो सकता है। इसलिए ज्ञानी को इसमें राग ही न करना चाहिए। इसको उत्पन्न करने का भी मोह छोड़ देना चाहिए और आत्मकार्य में लगा देना चाहिए। जिस वस्तुको बड़े परिश्रम से कष्ट सह करके एकत्र किया जावे और उसे फिर छोड़ना ही पड़े उस वस्तु की प्राप्तिके लिए बुद्धिमान लोग कभी भी चाह नहीं करते हैं। इसलिए हमको धनादि की चाह को छोड़कर स्वहित ही कर्तव्य है। ऐसा ही भाव श्री पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश के भीतर बताया है—

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः।
स्वशरीरं सपंकेन स्नास्यामिति विलंपति ॥१६॥
आरंभे तापकान्प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान्।
अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं कः सेवते सुधी ॥१७॥

भावार्थ—कोई निर्धन मनुष्य यह विचार करता है कि धन कमाकर दान करूंगा इसलिए धन को इकट्ठा करूं वह ऐसा ही मूर्ख है जो यह विचारे कि मैं अपने शरीरको कीचड़से लिप्तकर फिर स्नान कर लूंगा इसलिए कीचड़ से लीपने लगे। जिस पाप को छुड़ाना ही पड़े उस पाप को लगाना ही अच्छा नहीं है। यदि धन कमाने से पाप संचय होता है तो जो मुक्ति चाहता है उसे इस जंजालमें नहीं पड़ना चाहिए। ये इंद्रियोंके भोग आरंभ में संताप करने वाले हैं। अर्थात् इनके प्राप्त करने के लिए

बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं और जब ये मिल जाते हैं तब इनके भोगों से तृप्ति कभी नहीं होती है फिर ये इतना मोह बढ़ा देते हैं कि इनका छूटना कष्टप्रद हो जाता है । इसलिए बुद्धिमान मानव इन भोगोंकी इच्छा नहीं करता है । यदि गृहस्थमें पुण्योदयसे मिल जाते हैं तो उनमें आसक्त नहीं होता है । उनसे मोह करके अपने आत्मकार्य को नहीं भुलाता है ।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

लक्ष्मीकीर्तिकला समूह ललना सौभाग्य आदिक सभी ।
छुट जाते इस जीव से इक दिन अघ बंधकारी सभी ।
भवदधि डूबन हेतु मुक्तिपथ रिपु नहिं चाह धारें सुधी ।
जो हो तजने योग्य लाभ उसका करते नहीं जो सुधी ॥५१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि बुद्धिमान लोग कभी भी अनर्थ कार्य नहीं करते हैं—

हेयादेयविचारणास्ति न यतो न श्रेयसामागमो ।
न वैराग्यं न कर्मपर्वतभिदा नाप्यात्मतत्वस्थितिः ॥
तत्कार्यं न कदाचनापि सुधियः स्वार्थोद्यताः कुर्वते ।
शीतं जातु ननूत्सवो न शिखिनं विध्यापयंते बुधाः ॥५२॥

अन्वयार्थ—(यतः)जिस कार्यके करने से (हेयादेयविचारणा न अस्ति) ग्रहण करने योग्य व त्याग करने योग्य क्या है ऐसा विचार नहीं पैदा होवे (न श्रेयसामागमः) न मोक्ष आदि जो कल्याणकारक है उसका लाभ होवे (न वैराग्यं) न संसार देह भोगों से वैराग्य पैदा होवे (न कर्मपर्वतभिदा)न कर्मरूपी पर्वतों का चूरा किया जासके(नापि आत्मतत्वस्थितिः)और न आत्मीक तत्व में स्थिति हो अर्थात् आत्मध्यान हो (तत्कार्यं) उस कार्यको (स्वार्थोद्यताः) अपने आत्माके प्रयोजन में उद्यमी (सुधियः)बुद्धि-

मान लोग (कदापनापि) कभी भी नहीं (कुर्वते) करते हैं जैसे (शीतं नुनुत्सवः) शीतको दूर करने की इच्छा करने वाले (बुधाः) बुद्धिमान लोग (जातु) कभी भी (शिखिनं) अग्निको (न विध्यापयंते) नहीं बुझाते हैं।

भावार्थ—यहां पर आचार्य ने बताया है कि बुद्धिमान मानव वे ही हैं जो विचारके साथ इस संसार में काम करते हैं, हरएक मानव को अपना लक्ष्यबिन्दु बना लेना चाहिए और जो लक्ष्य हो उसीके साधन की जो क्रियायें हों उनको मन वचन काय से करना चाहिए। जिसको शीत लग रही है और वह शीत से बचना चाहते हैं तो वह अग्नि को कभी नहीं बुझावेगा क्योंकि अग्नि उसके हितमें साधक है। इसी तरह जो बुद्धिमान लोग अपने आत्माकी उन्नति करना चाहते हैं वे ऐसे ही साधनों को करेंगे जिससे तत्वों का ज्ञान होकर यह विवेक हो जावे कि क्या तो त्यागने योग्य है व क्या ग्रहण करने योग्य है तथा जिस चारित्र से मोक्षका लाभ होगा उसी चारित्र को पालेंगे व जिस तरह मनमें संसार देह भोगोंसे वैराग्य रहे वह उद्यम करेंगे जिस ध्यानसे कर्म पर्वतों का चूरा हो वैसाही ध्यान करेंगे, जिस तरह आत्मा का अनुभव हो जावे ऐसा तप साधेंगे। कभी भी ऐसे प्रपंचोंमें न फसेंगे कि जिनमें फसने से तत्वज्ञान न हो, वैराग्य न हो, कर्मका नाश न हो व मोक्ष की प्राप्ति न हो।

प्रयोजन कहने का यह है कि मानवोंको स्त्री पुत्र, मित्रादि धन परिग्रहमें ममताबुद्धि रखकर अपना अहित न करना चाहिए सर्व पर पदार्थोंको अपने से भिन्न जानकर उनसे मोह निवारण कर आत्महितके लिए स्वाध्याय ध्यान सत्संगति आदि में लगे रहना चाहिए। गृहस्थ में रहे तो जल में कमल के समान भिन्न

रहे। यदि साधु हो तो रात दिन वैराग्य में भीजा रहकर ध्यान की शक्ति बढ़ावे। गृहस्थ में कभी भी ऐसे मिथ्यात्व, अज्ञान, अन्याय आदि के कार्य न करे जिनसे विषयोंमें अन्धा होकर इस नरजन्म के अमूल्य समयको यों ही खो दे और पीछे पछताना पड़े। मानवजन्म का समय बड़ा ही अमूल्य है। जो आत्महितमें दक्ष हैं वे ही सच्चे धर्मात्मा गृहस्थ व साधु हैं—

श्री पद्मनंदि मुनिनें धर्मोपदेशामृत में कहा है कि आत्मध्यान करना ही श्रेष्ठ है।

आत्मामूर्तिविवर्जितोपि वपुषि स्थित्वापि दुर्लक्षतां।
प्राप्तोपि स्फुरसि स्फुटं यदहमित्युल्लेखतः संततं॥
तत्किं मुह्यत शासनादपि गुरोर्भ्रान्तिः समुत्सृज्यता-
मंतः पश्यत निश्चयेन मनसा तं तन्मुखाक्षव्रजाः ॥६५॥

भावार्थ—आत्मा अमूर्तीक है तो भी शरीर में मौजूद है, यद्यपि दिखाई नहीं पड़ता है तथापि 'मैं' इस शब्द से निरन्तर प्रगट है तब क्यों तुम मोहित होते हो, गुरु के उपदेश से भ्रम को छोड़ो और मन के द्वारा निश्चय करके उसी आत्मा की तरफ अपने इन्द्रियसमूह को तन्मयी करके उसी का ही अनुभव करो।

वास्तवमें आत्मध्यान ही आत्माके कल्याण का मार्ग है इसलिए उसीका ही यत्न करना एक बुद्धिमान प्राणी के लिए हितकारी है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीड़ित छन्द

जो बुध आतम काय उद्यममती सो कार्य करते नहीं।
जासे कृत्य अकृत्य बोध नहिं हो निज मोक्ष होवे नहीं।
नहिं होवे वैराग्य कर्म क्षय ना ध्यानात्म होवे नहीं।
जो जन बाधा शीत टालनमती सो अग्नि शमता नहीं ॥५२

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि ध्याता मानव को उचित है कि क्रोधादि भावों को दूर रखें।

काम‌क्रोधविषादमत्सरमदद्वेषप्रमादादिभिः।
शुद्धध्यानविवृद्धिकारिमनसः स्थैर्यं यतः क्षिप्यते।
काठिन्यं परितापदानचतुरैर्हेम्नो हुताशैरिव।
त्याज्या ध्यानविधायिभिस्तत इमे कामादयो दूरतः ॥५३॥

अन्वयार्थ—(यतः) क्योंकि (कामक्रोधविषादमत्सरमदद्वेष-प्रमादादिभिः) कामभाव, क्रोधभाव, शोक, ईर्षा, गर्व, द्वेष व प्रमाद आदि अशुद्ध भावोंके द्वारा (शुद्धध्यानविवृद्धिकारिमनसः) शुद्ध ध्यानको बढ़ाने वाले मन की (स्थैर्यं) स्थिरता (परितापदान-चतुरैः हुताशैः हेम्नः काठिन्यं इव) तीव्र गर्म करने वाली अग्नि के द्वारा सुवर्ण की कठिनता के समान (क्षिप्यते) नष्ट हो जाती है (ततः) इसलिए (ध्यानविधायिभिः) ध्यान करने वालों के द्वारा (इमे कामादयः) ये काम क्रोधादि भाव (दूरतः) दूर से ही (त्याज्याः) छोड़ने योग्य है।

भावार्थ—जैसे सोना कठिन होता है परन्तु यदि उसको अग्नि की ज्वालाओं का ताप लग जावे तो पतला होकर बहने योग्य हो जाता है, सोने की कठिनता नष्ट हो जाती है, इसी तरह जो मानव आत्मध्यान करना चाहते हैं और वीतरागभावों को मन में बढ़ाना चाहते हैं उनके मन की थिरता, काम, क्रोध,

मान, माया, लोभ, भय, प्रमाद आदि भावोंके आक्रमण से नष्ट हो जाते हैं। इसलिए जो ध्यानका अभ्यास करना चाहें उनको इन भावोंसे दूर रहना चाहिए तथा उन निमित्तोंसे बचना चाहिए जिनके द्वारा मन, काम क्रोधादि भावोंमें फँस जावे। इसीलिए उनको आरम्भ परिग्रह का त्याग करना चाहिए। गृहस्थों के प्रपंचजालों से अलग रहना चाहिए। लौकिकजनों की संगति से बचना चाहिए। स्त्रियों के संसर्ग से दूर रहना चाहिए। वनों में व एकांत स्थानों में बैठना, शास्त्र स्वाध्याय करना व ध्यान करना चाहिए, अल्पाहारी होना चाहिए। मिष्ट हितकारी वचन बोलने चाहिए। स्वाध्याय व ज्ञान के विचार में नित्य अनुरक्त होना चाहिए। जिन-जिन कारणों से मनमें चंचलता हो जावे व कषायका वेग उठ जावे उन सब निमित्तों से परे रहकर व बिलकुल मन को निश्चिन्त करके आत्मध्यान का अभ्यास करना चाहिए।

श्री शुभचंद्राचार्य ज्ञानार्णवमें कहते हैं कि वीतरागी को ही आत्मध्यान की सिद्धि होती है—

रागादिपंकविश्लेषात्प्रसन्ने चित्तवारिणि।
परिस्फुरति निःशेषं मुनेर्वस्तुकदम्बकम् ॥१७॥
स कोऽपि परमानन्दो वीतरागस्य जायते।
येन लोकत्रयैश्वर्यमप्यचिन्त्यं तृणायते ॥१८॥

भावार्थ—रागद्वेषादि कीचड़ के हट जाने से मुनि के निर्मल मनरूपी जलमें सम्पूर्ण वस्तु का सर्वस्व प्रकट होता है अर्थात् आत्मा का ध्यान प्रकाशमान होता है। वीतरागी को ही ऐसा कोई परमानंद प्राप्त होता है जिसके सामने तीन लोक का भी अचिंत्य ऐश्वर्य तृण के समान मालूम होता है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

काम क्रोध विषाद मोह मद से द्वेष प्रमादादि से।
जो मन निर्मल ध्यान बीच रत हो थिरता न होवे तिसे॥
जैसे सुवरण अग्नि ताप वश हो काठिन्य तज देत है।
इम लख ध्यानी काम आदि सबको अति दूर कर देत है॥५३

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि ध्यानीजन मुक्तिके लिए ही ध्यान करते हैं—

व्यावृत्त्येन्द्रियगोचरोरुगहने लोलं चरिष्णुं चिरं।
दुर्वारं हृदयोदरे स्थिरतरं कृत्वा मनोमर्कटम्॥
ध्यानं ध्यायति मुक्तये भवततेर्निर्मुक्तभोगस्पृहो।
नोपायेन विना कृता हि विधयः सिद्धिं लभंते ध्रुवं॥५४॥

अन्वयार्थ—(निर्मुक्तभोगस्पृहः) जिस महात्मा ने भोगों की इच्छाको त्याग दिया है वही (दुर्वारं) इस कठिनता से वश में आने योग्य (लोलं) लोलुपी या चंचल (मनोमर्कटम्) मन रूपी बन्दर को (इन्द्रियगोचरोरुगहने) जो पांचों इन्द्रियों के भोगरूपी महान वन में(चिरं)अनादिकाल से (चरिष्णुं) क्रीड़ा कर रहा है (व्यावृत्य) वहां से हटाकर(हृदयोदरे) हृदय के भीतर (स्थिरतरं कृत्वा) पूर्ण स्थिर करके (भवततेः मुक्तये)संसार के फैलाव से छूट जाने के लिए (ध्यानं ध्यायति) ध्यान का अभ्यास करता है। (हि) यह निश्चय है कि (उपायेन बिना) उपाय के बिना (विधयः कृताः) जो रीतियां की जावें तो वे (ध्रुवम्) खातरी से (सिद्धिं) सफलता को (न लभंते) नहीं पाती हैं।

भावार्थ—संसार आठ कर्मों के बंधन से ही चल रहा है, इस लिए इन कर्मोंका नाश होना ही संसारका नाश है और मोक्षका

लाभ है। कर्मोंका नाश वीतराग भाव से होता है क्योंकि उनका बन्धन रागद्वेषादि भावों से हुआ करता है। वीतराग भावों की प्राप्ति तब ही होती है जब आत्मा का ध्यान किया जाता है। आत्मा का ध्यान उसी समय होता है जब मनरूपी बन्दर को वैराग्यके खूंटेसे बांध दिया जावे। यह मन अनादिकाल से पांचों इन्द्रियों के भोगों की इच्छामें उलझा हुआ रहता है और महा चंचल तथा लोलुपी हो रहा है। इस मन को बारह भावना के चिन्तवन से इन्द्रियों की तरफ से हटाकर स्थिर किया जाता है तब ही ध्यान हो सकता है। इसलिए ध्यान के अभ्यासकर्ता को उचित है कि सम्यग्ज्ञान व वैराग्यके द्वारा मनकी दशा को ठीक करे। पुरुषार्थ के बिना किसी भी कार्यकी सिद्धी नहीं हो सकती है। लौकिक कार्य के लिए जैसा दीर्घदर्शीपने के साथ विचार करके परिश्रम करने की जरूरत है ऐसे ही पारमार्थिक कार्यों के लिए विचारपूर्वक परिश्रम करने की जरूरत है। मनके मारने से ही कार्य की सिद्धी हो सकती है।

सुभाषित रत्नसंदोह में स्वयं अमितगति महाराज कहते हैं—

नो शक्यं यन्निषेद्धुं त्रिभुवनभवनप्रांगणे वर्तमानं।
सर्वे नश्यन्ति दोषा भवभयजनका रोधतो यस्य पुंसाम् ॥
जीवाजीवादितत्वप्रकटननिपुणे जैनवाक्ये निवेश्य।
तत्वे चेतो विदध्याः स्ववशसुखप्रदं स्वं तदा त्वं प्रयासि।४०८

भावार्थ—जो तीन लोक के बीच में मारा-मारा फिरता है उस मन का रोकना बड़ा कठिन है तथापि इसके रुक जाने से मनुष्यों के सर्व ही संसार में भयको देने वाले दोष नष्ट हो जाते हैं। इसलिए तुम मन को जीव अजीव आदि तत्वोंके प्रगट करने में निपुण ऐसे जैन वचन में लगाकर तत्व के विचार में इसे अमा

दो तब तुम आत्मीक सुखको देनेवाले अपने आत्मा के स्वभाव को प्राप्त कर लेवे।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो इन्द्रिय वन गहन मध्य रमता चिरकाल लोलुपमहा।
दुर्जन मन कपि थांभ आप वशकर कर ध्यान आतम महा॥
इच्छा तजकर भोग होय निस्पृह भवजाल काटो महा।
बिन पुरुषार्थ प्रधान काज कोई नहि सिद्ध होता महा॥५४॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि योगी को एक आत्मतत्वका ही ध्यान करना चाहिए—

चंद्रार्कग्रहतारकाप्रभृतयो यस्य व्यपायेऽखिलाः।
जायंते भुवनप्रकाशकुशला ध्वांतप्रतानोपमाः॥
यद्विज्ञानमयप्रकाशविशदं यद्ध्यायते योगिभिः।
तत्तत्वं परिचिंतनीयममलं देहस्थितं निश्चलं॥५५॥

अन्वयार्थ—(यस्य) जिस तत्वके(व्यपाये) अभाव में(भुवनप्रकाशकुशलाः) लोक को प्रकाश करने में कुशल ऐसे(अखिलाः) सर्व (चंद्रार्कग्रहतारकाप्रभृतयः) चंद्रमा, सूर्य, ग्रह तारे आदिक (ध्वांतप्रतानोपमाः)अंधेरे के समूह के समान(जायंते)हो जाते हैं (यत्विज्ञानमयप्रकाशविशदं)जो ज्ञानमई प्रकाशको बहुत निर्मल रखने वाला है व (यत् योगिभिः ध्यायते) जो योगियोंके द्वारा ध्याया जाता है (तत्) उस (अमलं) निर्मल (निश्चलं) व निश्चल (तत्वं) आत्मतत्व को (देहस्थितं) अपने ही शरीर में विराजमान (परिचिंतनीयम्) ध्याना चाहिए।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्य ने आत्मा की तरफ ध्यान खिंचाया है। वह आत्मा जिसका ज्ञान हमको प्राप्त करना

चाहिए और ज्ञान प्राप्त करके जिसको हमें ध्याना चाहिए यह आतमराम कहीं दूर नहीं है आपही है अपने शरीरभरमें संपूर्णपने व्यापक या फैला हुआ है। जैसे घड़े में जल भरा होता है ऐसेही अपने शरीररूप घटमें सर्व स्थानमें फैला हुआ है। वह पूर्ण ज्ञान मय है—उसका ज्ञान ऐसा निर्मल है कि उसमें सर्व ही जानने योग्य पदार्थ दर्पण के समान झलकते हैं, इस आत्मा का जब तक संबंध शरीरसे रहता है तबतक ही हम अपनी आंखोंसे चंद्रमा, सूर्य ग्रह, तारे आदि पदार्थों को देख सकते हैं। यद्यपि वे लोक में प्रकाशमान हैं और जगतके बाहरी पदार्थोंको झलकाते हैं तथापि यदि हमारे भीतर आत्मतत्व न हो तो हम उनको देख नहीं सकते तब तो वे हमारे लिए मानो अंधकार के समूह ही हैं। जिस आत्मा के होते हुए हम बाहर भीतर सब कुछ देख सकते हैं व जान सकते हैं तथा यही वह आत्मतत्व है जिसका योगीगण ध्यान करते हैं। तीर्थंकर भी इसीका हो अनुभव करते हैं। वही आत्मतत्व हमारी देह में है वह बिलकुल निर्मल है, कर्मोंके मध्य पड़ा है तो भी स्वभाव से उनसे भिन्न है। यह ऐसा निश्चय है कि कभी भी अपने स्वभाव को त्यागता नही है ऐसे ही आत्मतत्व का चिन्तवन हरएक गृहस्थ या मुनि को करना उचित है। यहां पर आचार्य ने बता दिया है कि जिस तत्व पर पहुंचना है व जिस तत्व का ध्यान करना है वह तत्व आप ही हैं, वह तत्व बिलकुल हमको प्रगट है। यदि वह शरीरमें न होवे तो इंद्रियां कुछ जान नहीं सकती हैं। वह तत्व ज्ञानस्वरूप है सो भी अच्छी तरह प्रगट है। यह निर्मल जलके समान परमशांत, परम पवित्र व परम आनन्दमई है, इस तरह जो ज्ञानके चिह्नसे उसे पकड़ेगा उसे अवश्य वह तत्व मिल जाएगा। बड़े-२ साधुजनों को वही तत्व प्यारा है, हमें भी उसे ही ध्याना चाहिए। श्री पद्मनंदि

मुनि सद्बोध चंद्रोदय में कहते हैं—

यः कषायपवनैरचुम्बितो बोधवह्निरमलोल्लसद्दशः ।
किं न मोहतिमिरं विखण्डयन् भासते जगति चित्प्रदीपकः ॥१७॥

भावार्थ—जो क्रोधादि कषायों की हवासे स्पर्शित नहीं होता है, जो ज्ञानरूपी अग्नि को धारने वाला है, जो निर्मलपने उद्योतमान है ऐसा चैतन्यरूपी दीपक जगतमें प्रकाशमान है तो क्या वह मोहरूपी अंधेरेको नहीं खंडन करेगा ? वास्तवमें वह दीपक मैं आत्मा ही हूँ। वही मुनि एकत्वाशीति में कहते हैं—

संयोगेन यदायातं मत्तस्तत्सकलं परम् ।
तत्परित्यागयोगेन मुक्तोऽहमिति मे मतिः ॥२७॥

भावार्थ—जो कुछ शरीरादि का संयोग मेरे साथ चला आ रहा है वह सब मुझसे पर है—भिन्न है। जब मैं उनसे मोह त्याग देता हूं मैं मानो मुक्तरूप ही हूं ऐसी मेरी बुद्धि है।

इस तरह के आत्मतत्वको ध्याना परम सुखका कारण है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

शशि सूरजग्रह तारकादि ये सब लोग प्रकाशी रहें।
पर आतमबिन तन समूह जैसे कुछ भी न कीमत लहें ॥
जो विज्ञानमई सुनिर्मल महा यतिजन जिसे ध्यावते।
वह निश्चल है आत्मतत्व बुधजन निज देह में पावते ॥५५॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि अज्ञानी मन मरण आनेवाला है इसको नहीं देखता हुआ अधर्म में फंसा रहता है—

भज्येतेत्य शरीरमंदिरमिदं मृत्युद्विपेन्द्रः क्षणा-
दित्युच्छ्वासमिषेण मानसबहिर्निर्गत्य किं ॥
पश्यंस्त्वं न निरीक्षसेऽतिचकितं तस्यागतिं चेतनां ।
वै येनामरचेष्टितानि कुरुषे निर्धर्मकर्मोद्यमम् ॥५६॥

अन्वयार्थ—(मानस) हे मन ! (मृत्युद्विपेन्द्रः) मरण रूपी हाथी (एत्य) आकर (क्षणात्) क्षणभर में (इदं शरीरमंदिरम्) इस शरीररूपी घरको (भज्येत) तोड़ डालेगा (इति) ऐसा जानकर (त्वं) तू (उच्छ्वासमिषेण) श्वासोच्छ्वास के बहाने (बहिः) बाहर (निर्गत्य निर्गत्य) आ-आकर (अतिचकितं) अति भयभीतपने से (पश्यन्) देखता हुआ (वै) बड़े खेदकी बात है (तस्य आगतिं) उस मरण के आने की (चेतनां) चेतना को (न निरीक्षसे) नहीं देखता है अर्थात मरण आने वाला है ऐसी बुद्धि अपने भीतर नहीं जमाता है (येन) यही कारण है जिससे तू (अमरचेष्टानि)अपने को अजर अमर मानके व्यवहार करता हुआ (निर्धर्मकर्मोद्यमम्)धर्म रहित कर्मोका उद्यम(कुरुषे)करता रहता है ।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्य ने संसारी जीवके मनकी मूर्खता को बताया है कि यह मन मरणसे दिनरात डरता रहता है इसके डरके दृष्टांतको आचार्यने अलंकार देकर बताया है—कि प्राणी के जो श्वांस चला करता है सो यह श्वांस नहीं है किन्तु मन बाहर आकर बार-बार डरते हुए देखता है कि कहीं मरणरूपी हाथी आ तो नहीं गया । जैसे किसीको कोई कह दे कि तुझे मारने को कोई शत्रु आनेवाला है तो वह उस शत्रु से बचने का उपाय तो न करें, बार-बार घरके बाहर आकर देखा करे कि कहीं शत्रु आ तो नहीं गया ।

ऐसी मूर्खता यह मन कर रहा है कि बारबार शंका किया करता है कि कहीं मरण न आ जावे परन्तु इस बातमें अपना मन नहीं जमाता है कि मरण तो एक दिन जरूर आवेगा ही मुझको सावधान हो जाना चाहिए और ऐसा उद्यम करना चाहिए जिस से मेरे आत्माका कल्याण हो, मैं मरकर दुर्गतिमें न जाऊँ। यह ऐसी मूर्खता करता है कि फिरभी अपनेको अजर अमर समझता है और मनचाहा अधर्म कार्य करता रहता है. यही बड़े खेद की बात है। प्रयोजन यह है। कि हे भव्य जीव ! मरणरूपी हाथी किस समय इस शरीररूपी घरको तोड़ डाले इसका कोई समय नियत नहीं है। वह जब अचानक आ जाता है उस समय कुछ उपाय नहीं बन सकता। इसलिए मरणके आनेके पहले ही तुझे अपना आत्महित कर लेना चाहिए और वह उत्तम कार्य एक आत्मध्यान है। उसकी तरफ पूर्ण लक्ष्य देना चाहिए, यह तात्पर्य है।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

मृत्युव्याघ्रभयंकराननगतं भीतं जराव्याधत--
रोगव्याधिदुरन्तदुःखतरुमत्संसारकांतारगम् ॥
कः शक्नोति शरीरिणं त्रिभुवने पातुं नितान्तातुरं।
त्यक्त्वा जातिजरामृतिक्षतिकरं जैनेन्द्रधर्मामृतम् ॥३१७॥

भावार्थ—यह शरीरधारी प्राणी ऐसे भयानक संसाररूपी वनमें पड़ा हुआ है जहां तीव्र रोग व दुःसह दुःखमई वृक्ष भरे हैं व जहां बुढ़ापारूपी शिकारी है जिससे यह डरता रहता है व जहां मरणरूपी सिंह है और यह प्राणी उसके भयंकर मुख के बीचमें आ गया है। अब इस महान् व्याकुल प्राणीको तीन भुवन में ऐसा कौन है जो बचा सके? यदि कोई है तो जन्मजरा मरण

को क्षयकारी श्री जिनेन्द्रका धर्मरूपी अमृत है, इसके बिना कोई बचा नहीं सकता है। वास्तवमें वही मानव बुद्धिमान है जो इस मानव देह को अत्यन्त दुर्लभ व छूटने वाला मानकर इसको आत्म धर्म में लगाकर सफल करते हैं।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीड़ित छन्द

क्षण में नाशे घर शरीर तेरा है मृत्यु हाथों बढ़ा।
भय से श्वासें बारं बार लेके क्यों है तु बाहर खड़ा॥
ऐसा नाहिं करता कि होय मरणा मानें अमर मैं रहूं।
रे मन! मूरख पापकर्म उद्यम करता तुझे क्या कहूं॥५६॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो परिग्रहवान हैं वे सदा आरम्भ के विकल्प किया करते हैं और जैनधर्म में प्रीति नहीं करते।

शिखरिणी वृत्तम्

करिष्यामीदं वा कृतमिदमिदं कृत्यमधुना।
करोमीति व्यग्रं नयसि सकलं कालमफलम्॥
सदा रागद्वेषप्रचयनपरं स्वार्थविमुखं।
न जैने शुचितत्वे रमसि निर्वृतिकरे॥५७॥

अन्वयार्थ—(इदं) यह (करिष्यामि) मैं करूंगा (वा) अथवा (इदं कृतं) यह मैंने किया था (अधुना इदं कृत्यं करोमि) या अब मैं यह काम करता हूं (इति) इस तरह (व्यग्रं) घबड़ाया हुआ (सदा) हमेशा (रागद्वेषप्रचयनपरं) रागद्वेष के करने में लगा हुआ (स्वार्थविमुखं) अपने आत्माके हितमें विमुख होता हुआ तू (सकलं कालं) अपने सम्पूर्ण जीवके समय को (अफलं) निष्फल (नयसि) गमा रहा है परन्तु (शुचितत्वे) पवित्र तत्व को बताने

वाले व (निर्वृतिकरे) मोक्षको प्राप्त कराने वाले (जैने वचसि) जिन वचन में (न रमसे) रमण नहीं करता है।

भावार्थ—यहां पर आचार्य इस मूर्ख मनको समझाते हैं कि तू ऐसा शरीर स्त्री, धन, पुत्र, कुटुम्ब आदि के मोह में पड़ा हुआ है कि रात-दिन तेरे यही विचार रहा करता है कि मैंने यह काम तो कर लिया है और यह काम मैं इस समय कर रहा हूं व ऐसा ऐसा काम मुझे भविष्यमें करना है, यह तेरी विचारोंकी शृंखला तेरी जिन्दगी भर चलती रहती है। जैसे तू विचार करता है कि अब इतना धन कमा लिया है, अब यह धन कमा रहा हूं, अभी इतना धन कमाना है। एक पुत्रको विवाह कर चुका हूं दूसरेका विवाह करना है। एक पुत्रको व्यापार में लगा चुका हूं दूसरेको व्यापार में लगाना है। पुत्रके पुत्रका अर्थात् पोते का मुंह देखना है। पोता होवे तो शीघ्र बड़ा करके उसका विवाह करके उसकी वधू को भी देखना है। उसने मेरा बड़ा बिगाड़ किया है उसे इसका बदला पहुंचाना है। मेरी स्त्री बहुत वस्त्राभूषण चाहती है इसके लिए गहना बनवाना है। आज अमुक व्यापारी का दिवाला निकल गया। रकम डूब गई क्या करूं। उस पर किसी तरह मुकद्दमा चलाना है। इस तरह करोड़ों कामोंको तू विचार करता है। सबेरे से शाम होती है, शाम से सवेरा होता है, तू तो संसारी काम धंधोंकी ही चिंतामें फंसा रहता है, कभी उन कामों की डोरी नहीं टूटती। उधर मरण निकट आ जाता है, तू बावला अपने आत्मा के हितके लिए कुछ भी समय नहीं निकालता है—ममता मोहमें और रागद्वेष में फंसा हुआ सारा जीवन बिताकर इस अमूल्य नरजन्म को खो देता है। परमोपकारी जैनधर्म में रुचि नहीं लगाता है न जिनवाणी को पढ़ता है जिससे

सच्चे आत्मतत्व का ज्ञान होवे और इस मोक्षमार्ग को प्राप्तकर सके। अतएव आचार्य कहते हैं कि बुद्धिमान प्राणी को उचित है कि गृहस्थ के जंजालमें बावला न होवे और जिनवाणीको शरण लेकर अपना सच्चा हित कर डाले।

वास्तव में जो इंद्रियों के विषयों में उलझ जाता है उसका जन्म यों ही चला जाता है। सुभाषितरत्नसंदोह में स्वामी अमितगति जी कहते हैं—

> **एकैकमक्षविषयं भजतामभीषां**
> **संपद्यते यदि कृतान्तगृहातिथित्वम्।**
> **पंचाक्षगोचररतस्य किमस्ति वाच्य—**
> **मत्वार्थमित्थममलधीरधियस्त्यजन्ति ॥८८॥**

भावार्थ—एक एक इंद्रियों के वश में रहने वाले जीवों को यदि यमराज के घर का अतिथि होना पड़ता है तब जो जीव पाँचों इंद्रियों के विषय में रत होता है उसके लिए क्या कहा जावे ऐसा जानकर निर्मल और धीर बुद्धि रखने वाले पुरुष इंद्रिय विषयों को छोड़ देते हैं।

मूल श्लोकानुसार शिखरिणी छन्द

> **करूँगा यह कारज अर कर चुका कार्य यह मैं।**
> **अभी यह करता हूं रत नित प्रीति मोह तन्मय ॥**
> **गमावे सब जीवन विफल कर निज हित न देवे।**
> **शिवंकर जिन वच में ध्यान कुछ भी न देवे ॥५७॥**

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि धर्मही प्राणीका रक्षक है—

> **कुर्वाणोऽपि निरंतरामनुदिनं बाधां विरुद्धक्रियां।**
> **धर्मारोपितमानसैनं रुचिभिर्व्यापाद्यते कश्चन ॥**

धर्मापोढधियः परस्परमिमे निघ्नंति निष्कारणम् ।
यत्तद्धर्ममपास्य नास्ति भुवने रक्षाकरं देहिनां ॥५८॥

अन्वयार्थ—(कश्चन) कोई मानव (अनुदिनं) प्रतिदिन (निरंतरां) बहुलभी (बाधां) बाधा कारक (विरुद्धक्रियां) विरुद्ध क्रिया को (कुर्वाणः अपि) करता रहता है तो भी (धर्मारोपित मानसैः रुचिभिः) धर्म में मन को जमाये रखने वाले रुचिवान प्राणियोंके द्वारा (न) नहीं (व्यापाद्यते) पीड़ित किया जाता है, (धर्मापोढधियः) धर्ममें जिनकी बुद्धि नहीं है ऐसे मानव (परस्परम्) परस्पर (निष्कारणम्) बिना कारण (निघ्नंति) घात करते रहते हैं (यत् तत् धर्मम्) ऐसा धर्म है उसको (अपास्य) छोड़कर (भुवने) इस जगतमें (देहिनां) शरीर धारियों को (रक्षाकरं) रक्षा करने वाला और (नास्ति) नहीं है ।

भावार्थ—यहां पर आचार्य ने धर्म की महिमा बताई है कि जिनके चित्तमें धर्मभाव है, जो दयालु है व क्षमावान हैं वे किसी को पीड़ा नहीं देते । यदि कोई उनको बाधा देता है व उनके विरुद्ध क्रिया करता है तो भी उस पर क्षमा भाव रखके उनको कष्ट नहीं देते । वीतरागी जैन साधुओंमें धर्म भाव पूर्ण रीति से भरा रहता है इसलिए वे किसी को सताते नहीं हैं कोई उपसर्ग करे तोभी क्रोध नहीं लाते हैं । यह महिमा उनके भीतर शांत भावरूपी धर्मही की है परन्तु जिनके हृदयमें दया, क्षमा, शांति आदि धर्म नहीं होते हैं व बिना कारण ही एक दूसरे से लड़ते झगड़ते रहते हैं व कष्ट देते रहते हैं व प्राण तक लेते रहते हैं । वास्तवमें तीन लोकमें जीवोंकी रक्षा करने वाला एक धर्मही है । धर्म जिसके मन में है वह प्राणियों का रक्षक है । धर्म जिसके मन नहीं वह प्राणियों का हिंसक है । यदि कष्ट दूंगा तो इसको

वैसा ही कष्ट होगा जैसा मेरेको होता है यह भाव जिनके दिल में होता है वे ही धर्मात्मा हैं। धर्म जिसमें नहीं है वह वास्तवमें मनुष्य ही नहीं है। स्वामी अमितगति सुभाषित रत्नसंदोह में कहते हैं—

हरतिजननदुःखं मुक्तिसौख्यं विधत्ते।
रचयति शुभबुद्धि पापबुद्धि धुनीते॥
अवतिसकलजन्तून् कर्मशत्रून्निहन्ति।
प्रशमयति मनोयस्तं बुधा धर्ममाहुः॥७०८॥

भावार्थ—जो संसार के दुःखोंको हरता है, मुक्तिके सुख को देता है, सच्ची बुद्धि बनाता है, पाप की बुद्धिको मिटाता है, सर्व प्राणियों की रक्षा करता है, तन तथा मनको शांत रखता है उसे ही बुद्धिमानों ने धर्म कहा है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द
जो करता दिन रात कार्य उल्टे बाधा करे सर्वथा।
जो धर्मी धनिवान आरंचित हो वाको न मारे कथा॥
आपसमें कारण बिना हि हिंसक जो धर्म पावे नहीं।
प्राणोरक्षक धर्म बिन जगत में को और भावे नहीं॥५८॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जिस परिग्रह को एक दिन छोड़ना पड़ेगा उसको तू अपने आप ही क्यों नहीं छोड़ता है—

नानारंभपरायणैर्नरवरैरावर्ज्य यस्त्यज्यते।
दुःप्राप्योऽपि परिग्रहस्तृणमिव प्राणप्रयाणे पुनः॥
आदावेव विमुंच दुःखजनकं तं त्वं त्रिधा दूरत—
श्चेतो मस्करिमोदकव्यतिकरं हास्यास्पदं मा कृथाः॥५९

[illegible]
(निरवरैः) बड़े-२ मनुष्योंके द्वारा (आवर्ज्य) एकत्र करके (दुःप्राप्यः अपि) कठिनतासे प्राप्त करने योग्य ऐसाभी (यः परिग्रहः) जो परिग्रह (प्राणप्रयाणे) प्राणोंके वियोग होने पर (तृणं इव) तिनके के समान (त्यज्यते) छोड़ देना पड़ता है (पुनः) परन्तु (त्वं) तू (दुःखजनकं तं) दुःखोंको उत्पन्न करने वाले उस परिग्रह को (आदौ एव) पहले ही (दूरतः) दूरसे (त्रिधा) मन, वचन, काय तीनोंसे (विमुंच) छोड़ दे (चेतः मस्करिमोदकव्यतिकरं) तू अपने चित्तको भिष्टामें पड़े हुए लाडूको उठाकर फिर फेंककर (हास्यास्पदं) मा कृथाः) हँसी का स्थान मत बन।

भावार्थ—यहां पर आचार्य कहते हैं कि राज्य लक्ष्मी आदि परिग्रह बड़ी-२ मिहनतोंसे एकत्रित किये जाते हैं। ऐसीभी वस्तुएँ संग्रह की जाती हैं जो हरएकको मिलना दुर्लभ है। परंतु करोड़ों की संपत्ति क्यों न हो व कैसी भी कठिनता से क्यों न एकत्र की गई हो वह सब परिग्रह बिलकुल छोड़ देना पड़ता है जब मरण का समय आ जाता है। जैसे हाथ से तिनका गिर पड़े ऐसे ही सब छूट जाता है। जब परिग्रह आत्मा के साथ जाने वाला नहीं है तब ज्ञानवान प्राणीको उचित है कि पहले वह परिग्रह स्वयं छूटे, ज्ञानीको स्वयं मोह त्यागकर छोड़ देना चाहिए और यदि परिग्रह नहीं हो तो नया परिग्रह एकत्र करने की लालसा न करनी चाहिए। परिग्रहको ग्रहण कर फिर छोड़ना वास्तव में हँसी का स्थान है। जैसे एक फकीरको किसीने बहुतसे लड्डू दिये उसमें से एक लड्डू विष्टा में गिर पड़ा, उस लोभी ने उसे उठा लिया तब किसी ने कहा कि ऐसे अशुद्ध लड्डू को तुमने क्यों उठाया ? तब वह कहने लगा कि मैंने उठा लिया है परन्तु घर

जाकर इसे छोड़ दूंगा। तब उसने बड़ी हँसी उड़ाई कि अरे जिसको फेंकना ही है उसको उठाने की क्या जरूरत थी ? इसी दृष्टांतसे आचार्य ने समझाया है कि यह परिग्रह त्यागने योग्य है, इसे ग्रहण करना बुद्धिमानी नहीं है—यह आत्मकार्यमें बाधक है वास्तव में चेतन अचेतन परिग्रह का मोह आत्माको करोड़ों संकल्प विकल्पों में पटक देने वाला है। इससे जो निर्विकल्प समाधि को चाहते हैं और आत्मीक आनंद के भोगने के इच्छुक हैं उनको यह परिग्रह त्यागना ही श्रेयस्कर है।

श्री शुभचन्द्र आचार्य ने ज्ञानार्णव में कहा है—

दश्यते विषयव्यालैर्भिद्यते मारमार्गणैः ।
रुध्यते वनिताव्याधैर्नरः संगैरभिद्रुतः ॥१८॥

भावार्थ—यह मानव परिग्रहों से पीड़ित होता हुआ इंद्रियों के विषयरूपी सर्पोंसे काटा जाता है, कामके बाणोंसे भेदा जाता है तथा स्त्रीरूपी शिकारीसे पकड़ लिया जाता है।

यः संगपंकनिर्मग्नोऽप्यपवर्गाय चेष्टते ।
स मूढः पुष्पनाराचैर्विभिन्द्यात् त्रिदशाचलम् ॥१९॥

भावार्थ—जो मूर्ख परिग्रहकी कीचड़ में डूबा हुआ भी मोक्ष के लिए चेष्टा करता है वह मानों फूलों के बाणोंसे सुमेरु पर्वत को तोड़ना चाहता है।

अणुमात्रादपि ग्रन्थान्मोहग्रन्थिर्दृढीभवेत् ।
विसर्पति ततस्तृष्णा यस्यां विश्वं न शान्तये ॥२०॥

भावार्थ— जरासे भी परिग्रह से मोहकी गांठ दृढ़ हो जाती है। इससे तृष्णा की वृद्धि ऐसी होती है कि उनकी शांतिके लिए सर्व जगत भी समर्थ नहीं होता।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

नाना उद्यम बांध-बांध दुष्कर संचय परिग्रह किया।
आया अब कहिं मरण बल नहिं चला तृणवत् सु त्याग जु दिया॥
दुःखकारी तिहुजान बुधजन तिसे पहले हि त्यागनकरी।
मूरख मतगति मोदक सु गहके क्यों त्याग लज्जाहरी॥५६॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो मानव भाई, पुत्र, मित्रादि में मोह करता है वह वृथा शोक करके कष्ट पाता है।

स्वाभिप्रायवशाद्विभिन्नगतयो ये भ्रातृपुत्रादयः।
तांस्त्वं मीलयितुं करोषि सततं चित्त प्रयासं वृथा॥
गच्छन्तः परिमाणवो दश दिशः कल्पान्तवातेरिताः।
शक्यंते न कदाचनापि पुरुषैरेकत्र कर्तुं ध्रुवम्॥६०॥

अन्वयार्थ—(भ्रातृपुत्रादयः) जो भाई व पुत्र आदि कुटुम्बी (स्वभिप्रायवशात्) अपने-अपने आशयरूप भावोंके द्वारा कर्म बांधकर (विभिन्नगतयः) भिन्न-२ गतिको चले गए हैं (तान्) उनसे (मीलयितुं) मिलने के लिए (चित्त) रे मन (त्वं) तू (सततं) निरन्तर (प्रयासं) प्रयत्न (वृथा) बेमतलब (करोषि) करता है (कल्पांतवातेरिताः) कल्पकालकी पवनकी प्रेरणासे (परिमाणवः) जो परमाणु (दश दिशः) दस दिशाओं में (गच्छन्तः) चले गए हैं उनको (एकत्र कर्तुं) इकट्ठा करना (ध्रुवं) निश्चयसे (कदाचनापि) कभी भी (पुरुषैः) पुरुषों के द्वारा (न शक्यन्ते) नहीं शक्य हो सकता है।

भावार्थ—यहां आचार्य अज्ञानी जीव की चेष्टा बताते हैं कि यह जीव स्त्री, पुत्र, मित्र, भाई आदिकों को अपना मान लेता है। जब उनमेंसे किसीका मरण हो जाता है तब उनके मिलनेके लिए शोक किया करता है। वे कभी फिर उसी शरीरमें आकर मिल नहीं सकते, क्योंकि उनमें से हरएक का जीव अपने-अपने शुभ या अशुभ भावोंके अनुसार जैसा आयु कर्म बांध चुका था उस ही गति में चला गया है। किसीने देवआयु बांधी थी तो वह देव हो गया, किसीने नरक आयु बांधी थी वह नारकी हो गया, किसीने पशु आयु बांधी थी सो पशु हो गया, किसीने मनुष्य आयु बांधी थी सो फिर कोई अन्य प्रकार का मनुष्य हो गया। उनके शरीरों को उनके कुटुम्बी अपने सामने दग्ध हो कर चुके हैं। इस लिए अपने मरे हुए पुत्रादि का सोच करना कि वे किसी तरह मिल जावें, महान बावलापना है। यह ऐसा ही असंभव है जैसे उन परमाणुओंको फिर इकट्ठा करना असम्भव है जो कल्पकाल की पवन की प्रेरणासे दस दिशाओंमें उड़ गए हैं। किसी मानव को शक्ति नहीं है कि उनको संचय कर सके। इसी तरह किसी मानव की शक्ति नहीं है कि मरे हुओंको जिला सके व उनसे मिल सके। इससे हमें व्यर्थकी चिंता छोड़कर अपने निज कार्यमें तत्पर रहना चाहिए।

श्री पद्मनंदि स्वामी ने अनित्य पंचाशत् में बहुत अच्छा कहा है—

एकद्रुमे निशि वसंति यथा शकुंताः।
प्रातः प्रयांति सहसा सकलासु दिक्षु ॥
स्थित्वाकुले बत तथान्यकुलानि मृत्वा।
लोकाः श्रयंति विदुषा खलु शोच्यते कः ॥१६॥

भावार्थ—जैसे एक वृक्ष पर रात्रिको बसेरा करनेवाले पक्षी सवेरा होते ही सर्व दिशाओं में यकायक भाग जाते हैं। इसी तरह प्राणी एक कुलमें आयुपर्यंत ठहरकर फिर मरकर अपने-२ कर्मानुसार अन्य कुलोंमें आश्रयकर लेते हैं विद्वान किस किसका सोच करे? सोच करना वृथा है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

भाई पुत्र कलत्र मित्र आदि निज भाव अनुसार थे।
गतिको बांधत जात भिन्न गतिको मिलते न को काल थे।
तिनका सोच वृथा न बुद्ध करते परमाणु मिलना कठिन।
ज्यों भागे दसदिशा पवन सेती कल्पांत के अशुभ दिन ॥६०॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि भोगोपभोग पदार्थोंकी इच्छा करना वृथा है क्योंकि उनसे तृप्ति नहीं होती है।

भोजं भोजमपाकृता हृदय ये भोगस्त्वयानेकधा।
तांस्त्वं कांक्षसि किं पुनः पुनरहो तत्राग्निनिक्षेपिणः॥
तृप्तिस्तेषु कदाचिदस्ति तव नो तृष्णोदयं बिभ्रतः।
देशे चित्रमरौ चिसंचयचिते वल्ली कुतो जायते ॥६१॥

अन्वयार्थ—(हृदय) हे मन (त्वया) तेरे द्वारा (ये अनेकधा भोगाः) जो अनेक प्रकार के भोग (भोजं भोजं) भोग-भोग करके (अपाकृता) छोड़े जा चुके हैं (अहो) अहो बड़े खेद की बात है कि (त्वं) तू (पुनः पुनः) बारबार (तान्) उन ही की (कांक्षसि) इच्छा करता है वे भोग (तत्र अग्निनिक्षेपिणः) तेरी इच्छा में अग्नि डालने के समान है अर्थात तृष्णाको बढ़ाने वाले हैं (तृष्णोदयं बिभ्रतः तव) तृष्णा की वृद्धिको रखने वाला ऐसा तू जो है सो तेरी (तृप्तिः) तृप्ति (तेषु) उन भोगोंके भीतर (कदाचित्) कभीभी

(न अस्ति)नहीं हो सकती है। जैसे(चित्रमरीचिसंचयिते देशे) कड़ी धूप से तप्तायमान स्थान में या आग में तपाए हुए स्थानमें (कुत:)किस तरह (वल्ली) बेल (जायते) उग सकती है।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्य ने भोगा सकता मानवकी भोगों की वांछाको धिक्कारा है। इस जीवने अनंतकाल हो गया। चारों ही गतिके भीतर भ्रमण करते हुए अनेक शरीर धारण करके उनमें अनेक प्रकार इंद्रियों के भोग भोगे और छोड़े, उनके अनतकाल भोग लेने से भी जब एक भी इंद्रिय तृप्त नहीं हुई तब अब भोगोंके भोगने से इन्द्रियां कैसे तृप्त होंगी ? वास्तवमें जैसे अग्निमें इन्धन डालने से अग्नि बढ़ती चली जाती है वैसे इन्द्रियों के भोगोंके भोगने से तृष्णाकी आग और बढ़ती चली जाती है। तृष्णावान प्राणी कितना भी भोग करे परन्तु उसको इन भोगों से कभी भी तृप्ति नहीं हो सकी है जैसे अग्नि से या धूप से तपे हुए जलते स्थानमें कोई भी बेलका वृक्ष नहीं उग सकता है। इसलिए बुद्धिमानोंको बारबार भोगोंको भोगकर छोड़े हुए भोगों की फिर इच्छा न करनी चाहिए। क्योंकि जो तृष्णारूपी रोग भोगोंके भोगनेरूप औषधि सेवन से मिट जावे तब तो भोग को चाहना मिलाना व भोगना उचित है, परन्तु भोगों के कारण तृष्णाका रोग और अधिक बढ़ जावे तब भोगोंकी दवाई मिथ्या है यह समझकर इस दवाका राग छोड़ देना चाहिए। वह सच्ची दवा ढूंढनी चाहिए जिससे तृष्णाका रोग मिट जावे। वह दवा एक शांत रसमय निजआत्माका ध्यान है जिससे स्वाधीन आनंद जितना मिलता जाता है उतना-उतना ही विषय भोगोंका राज घटता जाता है स्वाधीन सुख के विलास से ही विषयभोग की वांछा मिट जाती है। अतएव इन्द्रिय सुख की आशा छोड़कर

अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति का उद्यम करना चाहिए।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोह में कहते हैं—

सौख्यं यदत्र विजितेन्द्रियशत्रुदर्पः।
प्राप्नोति पापरहितं विगतान्तरायम् ॥
स्वस्थं तदात्मकमनात्मधिया विलभ्यं।
किं तद्दुरन्तविषयानलतप्तचित्तः ॥६४॥

भावार्थ—जिस महात्मा ने इन्द्रियरूपी शत्रु के घमंड को मर्दन कर दिया है वह जैसा पाप रहित तथा अपने आत्मामें ही स्थित अनात्मज्ञानी जीवोंसे न अनुभव करने योग्य आत्मीक सुख को पाता है वैसे सुख को वह मनुष्य कदापि नहीं पा सकता है जिसका चित्त भयानक विषयों की अग्नि से जलता रहता है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

रे मन ! तूने भोग भोग छोड़े इन्द्रिय विषय बहु तरह।
क्यों तू चाहे बारबार उनको तृष्णाग्नि वृद्धि करे ॥
जो तृष्णातुर होय भोग करते तृप्ति न होवे कभी।
अग्नि से जलते कुखेत माहीं नहि बेल उगती कभी ॥६१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इस जीवको पर पदार्थ में अहंकार छोड़कर आत्मध्यान करना योग्य है।

शूरोऽहं शुभधीरहं पटुरहं सर्वाधिकश्रीरहं।
मान्योऽहं गुणवानहं विभुरहं पुंसामहं चाग्रणीः ॥
इत्यात्मन्नपहाय दुष्कृतकरीं त्वं सर्वथा कल्पनाम्।
शश्वद्ध्याय तदात्मतत्त्वममलं नैःश्रेयसी श्रीर्यतः ॥६२॥

अन्वयार्थ—(आत्मन) हे आत्मा (अहं शूरः) मैं वीर हूँ (अहं शुभधीः) मैं शुभ बुद्धिधारी हूँ (अहं मान्यः) मैं माननीय हूँ (अहं गुणवान्) मैं गुणवान् हूँ (अहं विभुः) मैं समर्थवान हूँ (अहं पुंसाम् अग्रणीः) तथा मैं पुरुषों में मुखिया हूँ (इति) इस तरह की (दुष्कृतकरीं) पापको बांधनेवाली (कल्पनाम्) कल्पना को व मान्यताको (सर्वथा) सब तरह से (अपहाय) दूर करके (त्वं) तू (शश्वत्) निरन्तर(तत् अमलं आत्मतत्त्वं) उस निर्मल आत्मतत्वको (ध्याय)ध्यान कर (यतः) जिससे (नैःश्रेयसीश्रीः) मुक्तिरूपी लक्ष्मी प्राप्त होती है।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्य ने बताया है कि आत्मध्यान के लिए आत्मा के यथार्थ ज्ञान होने की आवश्यकता है। अज्ञानी लोग शरीर, धन, कुटुम्ब, प्रतिष्ठा, बल, बुद्धि आदि पाकर ऐसा अहंकार कर लेतेहैं कि मैं सुन्दर हूँ, मैं धनवान हूँ, मैं बहुकुटुम्बी हूँ, मैं प्रतिष्ठावान हूँ, मैं बलवान हूं मैं धनवान हूँ यह उनका मानना बिलकुल मिथ्या है क्योंकि एक दिन वह आएगा जिस दिन ये सब परपदार्थ व परभाव जो कर्मों के निमित्त से हुए हैं छूट जाएंगे और यह जीव अपने बांधे पुण्य पापको लेकर चला जाएगा। ज्ञानी जीव अपना आत्मपना अपने आत्मामें ही रखते हैं वे निश्चय नयके द्वारा अपने आत्मा के असली स्वभाव पर निश्चय रखते हैं कि यह आत्मा सर्व रागादि विभावों से रहित है सर्व कर्म के बंधनों से रहित है। सर्व प्रकार के शरीरसे रहित है। आत्माका सम्बन्ध किसी चेतन व अचेतन पदार्थसे नहीं है। ये सब शरीरसे सम्बन्ध रखते हैं जो मात्र इस आत्माका क्षणिक घर है इसलिए उन ज्ञानी जीवों की अहं बुद्धि अपने ही शुद्ध स्वरूप पर रहती है। व्यवहार में काम करते हुए गृहस्थ ज्ञानी चाहे यह कह दें कि मैं राजा हूं, वैद्य हूं, शूर हूँ, चतुर हूं, समर्थ

हूँ परन्तु वह अपने भीतर जानते हैं कि यह मुझे व्यवहार के चलाने के लिए व्यवहार नय से ऐसा कहना पड़ता है परन्तु मैं इन स्वरूप असलमें नहीं हूं। मैं तो वास्तव में सिद्ध भगवान के समान ज्ञाता दृष्टा आनंदमई पदार्थ हूँ। ऐसा श्रद्धान रखता हुआ ज्ञानी जीव सर्व ही व्यवहारिक कल्पना जालको जो पाप बंधकारक हैं छोड़कर एक अपने आत्माको ही निश्चल मन करके ध्याता है। आत्माके ध्यानसे ही वीतरागता की अग्नि जलती है जो कर्मोंके ईन्धनको जला देती है और आत्माको स्वर्णके समान शुद्ध करती चली जाती है। इसलिए ज्ञानीको आत्मध्यान ही करना योग्य है जिससे मुक्ति की लक्ष्मी स्वयं आकर मिल जावे और संसारके चक्र का फिरन मिट जावे।

एकत्वाशीति में श्री पद्मनंदि मुनि कहते हैं—

शुद्धं यदेव चैतन्यं तदेवाहं न संशयः।
यथा कल्पनया येतद्धीनमानन्दमंदिरम् ॥५२॥

भावार्थ—"जो कोई शुद्ध चैतन्यमयी पदार्थ है वही मैं हूं इसमें कोई संशय नहीं है।" ये वचनरूप व विचाररूप कल्पना भी जिसमें नहीं है ऐसा मैं एक आनन्द का घर हूँ।

अहं चैतन्यमेवैकं नान्यत्किमपि जातुचित्।
सं 'धोपि न केनापि दृढ़ पक्षो ममेदृशः ॥५४॥

भावार्थ—मैं एक चैतन्यमयी हूँ और कुछ अन्य रूप कभी नहीं होता हूं। मेरा किसी भी पदार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है यह मेरा पक्ष परम मजबूत ऐसा ही है।

इस तरह जो दृढ़ता से आत्मज्ञानी हैं वे ही आत्मध्यान करने को समर्थ हो सकते हैं—

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

मैं हूं शूर सुबुद्धि चतुर महा धनवान सबसे बड़ा।
मैं गुणवान समर्थ मान्य जगमें मैं लोक में हूं बड़ा।
हे आत्मन्! यह कल्पना दुःखकरी तू सर्वथा दूर कर।
नित निज आतमतत्त्व ध्याय निर्मल श्रीमोक्ष आवेसकर ॥६२॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि क्रोधादि कषायोंके त्याग बिना मोक्ष होना कठिन है।

मालिनी वृत्तम्

धृतविविधकषायग्रंथलिंगव्यवस्थम्।
यदि यतिनिकुरम्बं जायते कर्मरिक्तम्॥
भवति ननु तदानीं सिंहपोताविदार्य-
शशकनलकरंध्रे हस्तियूथं प्रविष्टम् ॥६३॥

अन्वयार्थ—(यदि)यदि(धृतविविधकषायग्रंथलिंगव्यवस्थम्) नाना प्रकार क्रोध मानादि कषायोंको, परिग्रह को तथा भेषको व्यवस्था को पकड़कर रहने वाले (यतिनिकुरम्बं) साधुओं का समूह (कर्मरिक्तम्) कर्मों से खाली (जायते) हो जावे अर्थात मुक्त हो जावे तो (ननु)मैं ऐसा मानता हूँ कि(तदानीं) तब तो (सिंहपोताविदार्य शशकनलकरंध्रे)सिंह के बच्चे के द्वारा विदारण करने को अशक्य खरगोश की हड्डी के महीन छेद में(हस्तियूथं) हाथियों का समुदाय (प्रविष्टम् भवति) प्रवेश कर जावे।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्यने दिखलाया है कि जो यथाजात मुनि भेष,परिग्रह रहितपना व कषायोंकी उपसमताको ध्यानमें न

लेकर तथा मनमानी परिग्रह व मनमाने तरह-२ के भेषोंको रख लें तथा क्रोध मान माया लोभादि कषायों को भी न छोड़ें और यह मान लें कि हम मुनि हैं, हम तो जरूर कर्मों से छूटकर मुक्त हो जावेंगे तो उनका यह मानना एक असंभव बात को सम्भव करनेकी इच्छा करना है। जैसे यह असंभव है कि अलोध की हड्डी के भीतर ऐसा महीन कोई छेद हो जिसको सिंहका बच्चा भी नहीं फाड़ सके उस छेदके भीतर कोई मान ले कि हाथियों के समूह घुसे चले जावेंगे तो यह मानना बिलकुल असंभव है उसी तरह यह मानना असंभव है कि अंतरंग व बहिरंग को परिग्रहको त्यागे बिना कोई मुक्तहो जायगा। परिग्रह और क्रोधादि कषाय ही तो संसारके बढ़ाने वाले हैं बंधको नित्यप्रति करानें वाले हैं उनके रहते हुए मानना कि मैं मुक्त हो जाऊँगा बिलकुल उन्मत्तका भाव है। प्रयोजन कहनेका यह है कि यदि मुक्ति के परमानन्द को भोगना चाहते हो तो सर्व परिग्रहको व कषायादि भावोंको त्यागो। पूर्ण साम्यभाव रूपी चारित्रका आश्रय लो। तब ही वीतरागता झलकेगी, यही परिणति कर्मोंकी निर्जरा कराने वाली है तथा मोक्षकी प्राप्ति कराने वाली है।

परिग्रह मोक्षमार्ग में बाधक है ऐसा श्री शुभचन्द्र आचार्य ज्ञानार्णव में कहते हैं—

अपि सूर्यस्त्यजेद्धाम स्थिरत्वं वा सुराचलः।
न पुनः संगसंकीर्णो मुनिः स्यात्संवृतेन्द्रियः ॥२६॥

भावार्थ—यदि कदाचित् सूर्य तो अपना तेज छोड़ दें और सुमेरु पर्वत अपनी स्थिरता छोड़ दे तो भी अंतरंग-बहिरंग परिग्रह सहित मुनि कभी जितेन्द्रिय नहीं हो सकता है।

न स्यात् ध्यातुं प्रवृत्तस्य चेतः स्वप्नेपि निश्चलं ।
मुनेः परिग्रहग्राहैर्भिद्यमानमनेकधा ॥३६॥

भावार्थ—जिस मुनि का मन परिग्रहरूपी पिशाच से अनेक तरह से पीड़ित है उसका चित्त ध्यान करते समय स्वप्न में भी निश्चल नहीं रह सकता है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

धर विविध कषाये ग्रंथ कर भेष नाना।
यदि यति गण चाहें कर्म से छूट जाना।
शशक हाड़ छिद्रं शिशु सिंह नहिं छेद पावे।
किम हस्ती यूथं यामें प्रवेश पावे ॥६३॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो स्त्रियों के सुख को सुख जानते हैं उनकी समझ ठीक नहीं है।

कष्टं वंचनकारिणीष्वपि सदा नारीषु तृष्णापराः।
शर्माशां न कदाचनापि कुधियो मर्त्या विपर्याशया॥
मुंचंते मृगतृष्णिकास्विव मृगाः पानीयकांक्षां यतो।
धिक्तं मोहमनर्थदानकुशलं पुंसामवार्योदयम् ॥६४॥

अन्वयार्थ—(कष्टं) यह बड़े दुःखकी बात है कि (विपर्याशयाः) विरुद्ध अभिप्राय रखने वाले मिथ्यादृष्टि (कुधियाः) और मिथ्यात्व बुद्धिधारी (मर्त्याः) मनुष्य (वंचनकारिणीषु अपि नारीषु) मानवके मनको फँसाने वाली स्त्रियोंमें भी (सदा तृष्णापराः) सदा तृष्णाको रखते हुए (कदाचनापि) कभी भी (शर्माशां) सुख की आशा को (न मुंचंते) नहीं छोड़ते हैं (मृगाः मृगतृष्णिकासु पानीयकांक्षां इव) जैसे हिरण मृग जलमें अर्थात् पानी जैसे

चमकने वाले रेत में पानी की इच्छा को कभी नहीं छोड़ते हैं (यतः) इसीलिए यह कहना पड़ता है कि (पुंसाम्) जीवों को (अनर्थदानकुशलं) संकटों के देने में कुशल (अवार्योदयम्) व जिसके प्रभाव को दूर करना कठिन है (तं मोहं) ऐसे मोह को (धिक्) धिक्कार हो।

भावार्थ—यहाँ आचार्यने बताया है कि स्त्रियों की तरफ का मोह ऐसा भुलाने वाला है कि यह मोहित प्राणी मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानसे वासित हो बारबार स्त्रियोंके फंदेमें फंसता है और बारबार दुःख उठाता है अपनी तृष्णा को बुझाने के स्थान में अधिक बढ़ा लेता है। फिर भी स्त्रियों के भीतर सुख की वांछा से मोह करता है। दुःख सह करके भी दुःखके कारणको बार-२ ग्रहण करता है इस मोही प्राणी का हाल ठीक उस हिरण के समान है जो रेतीके जंगल में प्यासा होकर पानीको न पाता हुआ दूरसे चमकती हुई रेतको पानीके भ्रम में फँसकर पीने को जाता है। वहां पानी न पाकर प्यासको अधिक बढ़ा लेता है फिर भी नहीं समझता है बारबार रेती में जा-जाकर व कष्ट उठा-उठाकर आकुलित होता है। आचार्य कहते हैं कि इस मोहके नशे को धिक्कार हो जिसके कारणसे यह प्राणी व्यर्थ महान कष्ट पाता है व जिस मोहको दूर करना भी बड़ा कठिन है। तात्पर्य यह है कि हे मन ! तू सावधान रह किसी भी तरह स्त्रियों के मोहमें न फंस नहीं तो महान आपत्तियों में फंस जायगा और निरन्तर तृष्णावान रहकर व्याकुल रहेगा। आत्मीक सुख का प्रेमी होना योग्य है जो स्वाधीन है, पराधीन सुखमें लिप्त होकर संसारमें कष्ट पाना उचित नहीं है। स्त्री विषय का सुख सदा प्राणीको कष्टमें पटकने वाला है। जैसा सुभाषितरत्नसंदोह में श्री अमितगति आचार्य कहते हैं—

एकभवे रिपुन्नगदुःखं जन्मशतेषु मनोभवदुःखम् ।
चारुधियेति विचिन्त्य महान्तः कामरिपुं क्षणतः क्षपयंति ।५६४
संयमधर्मविबद्धशरीराः साधुभटाः स्मरवैरिणमुग्रम् ।
शीलतपःशितशस्त्रनिपातैर्दर्शनबोधबलाद्विधुनन्ति ।।५६५

भावार्थ शत्रु या सर्प एक जन्ममें दुःख देते हैं। परन्तु काम देवके द्वारा सैकड़ों जन्मोंमें दुःख प्राप्त होता है इसलिए महान पुरुष बुद्धि द्वारा विचार करके इस कामरूपी शत्रु को क्षण में नाश कर देते हैं। जो वीर साधु संयम और धर्म के पालने में अपने शरीरको लगाने वाले हैं वे शील व तपरूपी तीक्ष्ण बाणों को मारकर अपने सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बलसे इस भयानक कामरूपी वैरीका संहार कर डालते हैं।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

मिथ्याती अज्ञान भावधारी नारीन में कर रती।
पुन पुन लह भव कष्ट आश सुखको तजता नहीं दुर्मती।।
जिम मृगतृष्णा बीच चाह जलको तजता नहीं मृग कभी।
धिक् धिक् प्राणी कष्टकार मोहं जीता न जाता कभी ।।६४

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि भव्य जीवोंको उचित है कि आत्माके बैरी जो विषय कषाय हैं उनको नाश करें।

पापानोकहसंकुले भववने दुःखादिभिर्दुर्गमे।
यैरज्ञानवशः कषायविषयैस्त्वं पोडितोऽनेकधा।।
रे तान् ज्ञानमुपेत्य पूतमधुना विध्वंसयाशेषतो।
विद्वांसो न परित्यजंति समये शत्रूनहत्वा स्फुटं।।

अन्वयार्थ—(पापानोकहसंकुले) हिंसादि पापरूपी वृक्षों से गाढ़भरे हुए तथा (दुःखादिभिः दुर्गमे) दुःख शोक आदि कष्टोंसे

कठिनतासे बचने योग्य ऐसे (भववने) संसाररूपी वन में (यैः-कषायविषयैः) जिन इन्द्रियों के विषय और क्रोधादि कषायों के द्वारा (त्वं अज्ञानवशः) तू अज्ञानके फंदेमें पड़ा हुआ (अनेकधा) अनेक तरहसे (पीड़ितः) दुःखी किया गया है (रे) रे चतुर पुरुष तू (अधुना) अब तो (पूतं) पवित्र (ज्ञानं) ज्ञानको (उपेत्य) पा कर (तान्) इन विषय कषायोंको (अशेषतः) सम्पूर्णपने (विध्वंसय) नाश कर। (स्फुट) यह बात साफ है कि (विद्वांसः) विद्वान पुरुष (समये) अवसर पाकर (शत्रून्) शत्रुओं को (अहत्वा) बिना मारे (न परित्यजंति) नहीं छोड़ते हैं।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि इस संसार वनमें कषाय और विषय बड़े भारी लुटेरे हैं। अज्ञानी प्राणी इनके मोहमें फँसकर वनमें घूमता फिरता है हिंसादि क्रूर कर्मोंको करता है फिर उन पापोंके फलसे अनेक प्रकारके दुःखोंको उठाता है। इनके फंदसे बचना चाहिए। उपाय यह है कि इन शत्रुओंको इसने अज्ञान से मित्र मान लिया है सो अब यह उस अज्ञानको छोड़े और यह ठीक-२ समझे कि ये मित्र नहीं हैं किन्तु बड़े प्रबल शत्रु हैं। इनके मोह में पड़कर मैं दिनरात अपनी ज्ञानानन्दमई संपदा को लुटा रहा हूँ। जिस समय यह पवित्र ज्ञान हो जायगा कि मैं मोक्ष महलका रहने वाला त्रिलोकज्ञ, त्रिकालज्ञ, अविनाशी, परम वीतरागी, स्वाधीन आनन्दका भोगी परमात्मा हूं मेरा और इन पौद्गलिक रागादि भावोंका क्या सम्बन्ध है। ये कलुषता लिए हुए हैं मैं शान्त रूप हूँ—ये दुःखदाई हैं मैं सुखरूप हूँ—ये जड़ हैं व ज्ञान के निरोधक हैं मैं चेतन हूं—ये अनित्य हैं मैं अविनाशी हूं—ये आकुलताकारी हैं मैं आकुलता रहित हूं। जिस समय यह भेदविज्ञान उत्पन्न होगा और यह सम्यक्दृष्टि होकर अपने आत्मसम्पदा को देखता हुआ वहां से ज्ञान वैराग्य शस्त्रों

को उठायेगा और अपने आत्मानुभवरूपी वीर्यको सम्हारेगा तो यह इन शत्रुओं को अवश्य भगा देगा। आचार्य कहते हैं कि मनुष्य जन्म, उत्तम बुद्धि, जिनधर्म का समागम आदि सामग्री बहुत दुर्लभ है इन सबको पाकर यही अवसर है जो इस अनादि काल शत्रुओंका संहार किया जावे यदि इस अवसर को चूका जायगा तो फिर इनके नाशका अवसर मिलना कठिनहो जायगा। बुद्धिमानोंका कर्त्तव्य यही है कि जब मौका आ जाय और शत्रु अपने वशमें आजावे तब उसको बिना मारे या बिना अधिकार में किए हुए न जाने दें। नहीं तो शत्रुसे सदा ही कष्ट मिलता रहेगा। इसलिए यही उचित है कि भेदविज्ञान के द्वारा आत्म-ध्यानका अभ्यास करके विषयकषायोंको जीता जावे।

स्वामी अमितगतिजी सुभाषित रत्नसंदोहमें कहते हैं—

यदि कथमपि नश्येद् भोगलेशेन नृत्वं।
पुनरपि तदवाप्तिर्दुःखतो देहिनां स्यात्॥
इति हतविषयाशा धर्मकृत्ये यतध्वं।
यदि भवमृतिमुक्ते मुक्तिसौख्येऽस्ति वांछा॥११॥

भावार्थ—यदि किसी भी तरह इस मनुष्य जन्म को अल्प भोगोंमें फँसकर नाश कर डाला जायगा तो फिर प्राणियों को बड़े कष्टसे इस मनुष्य जन्मका लाभ होगा इसलिए इस अपूर्व अवसर को पाकर इंद्रियोंके विषयों की आशा को छोड़कर धर्म कार्योंमें यतन कर यदि तेरी यह इच्छा है कि तू जन्म-मरण से रहित मुक्ति के सुख को पा ले।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

हिंसादिक तरवार कष्टकारी भयवन महा दुर्गमं।
इंद्रिय विषय कषाय दुःख देते तू मूर्ख सहतापरं ॥
अब तो निर्मल आत्मज्ञान लहिके इन सर्वका नाशकर।
अवसर पा निज शत्रु मार देते छोड़े नहीं ज्ञानधर ॥६५

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जितना परिश्रम यह संसारी प्राणी धनादिके लिए करता है उतना यदि मोक्षके लिए करें तो अनन्त सुखको पावे।

मालिनी वृत्तम्

असिमसिकृषिविद्याशिल्पवाणिज्ययोगैः।
तनुधनसुतहेतोः कर्म यादृक्करोषि ॥
सकृदपि यदि तादृक् संयमार्थं विधत्से।
सुखममलमनंतं किं तदा नाश्नुषेऽलम् ॥६६॥

अन्वयार्थ—(असिमसिकृषिविद्याशिल्पवाणिज्ययोगैः) शास्त्र-कर्म, लेखनकर्म, कृषिकर्म, विद्याकला, सुदर्शन कर्म व्यापार कर्म व शिल्प इन छः प्रकार आजीविकाके साधनोंके द्वारा (तनु-धनसुतहेतोः) शरीर धन व पुत्रके लाभ के लिए (यादृक् कर्म) जिस तरहका परिश्रम (करोषि) तू करता है (यदि) यदि (संय-मार्थं) संयम के लिए (सकृदपि) एक दफे भी (तादृक्) वैसा परिश्रम (विधत्से) करे (तदा) तो (किं) क्या (अमलं) निर्दोष (अनंतसुखं) अनंत सुखको (न अश्नुषे) नहीं भोग सके ? (अलं) अवश्य तू भोग सकेगा।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि गृहस्थजन इस शरीरमें मोही होकर इस शरीरको रक्षा व धन व संतानकी प्राप्तिके लिए दिन

रात उद्यम किया करते हैं कोई शस्त्रविद्या द्वारा सिपाही बन कर, कोई लिखने के काम से, कोई किसानी को, कोई कारीगरी को, कोई व्यापार को, कोई कला चतुराई को ऐसे नाना प्रकार के द्रव्य की प्राप्तिके उपायोंको करते हुए आकुल व्याकुल रहते हैं। द्रव्यके लिए देश-परदेश जाकर बहुत कष्ट उठाते हैं। तौ भी उससे क्षणिक सुख प्राप्त होता है जिससे प्राणीको सन्तोष नहीं होता। तथा संसारका भ्रमण बढ़ता जाता है। इसलिए जो बुद्धिमान अविनाशी आत्मीक सुख प्राप्त करना चाहें उनको उचित है कि जितना परिश्रम वे लौकिक उन्नतिके लिए करते हैं उतनी मेहनत वे अनन्त सुख के लिए मोक्षमार्ग पर चलनेके लिए व आत्मध्यान के लिए करें तो अवश्य उनको ऐसी तृप्ति प्राप्त हो कि वे फिर कभी भी संसारमें दुःखी न हों। भवसागरसे पार ही हो जावें। इसलिए संसारके पदार्थों को नाशवंत समझकर उनसे मोह न करना चाहिए।

सुभाषित रत्नसंदोहमें अमितगति महाराज कहते हैं—

इमा रूपस्थानस्वजनतनयद्रव्यवनिता ।
सुता लक्ष्मीकीर्तिद्युतिरतिमतिप्रीतिधृतयः ॥
मदान्धस्त्रीनेत्रप्रकृतिचपलाः सर्वभविना—
महो कष्टं मर्त्यस्तदपि विषयान्सेवितुमनाः ॥३२४॥

भावार्थ—सर्व प्राणियों के ये रूप, स्थान, स्वजन, पुत्र, सामान, स्त्री, कन्या, लक्ष्मी, कीर्ति, चमक, रति, बुद्धि, प्रीति, धैर्य आदि सब ही मद में अन्ध स्त्री के नेत्र के समान चंचल हैं तब भी यह बड़े कष्ट की बात है कि यह मानव इन इंद्रियों के विषयों के सेवने का मन किया करता है।

अर्थात स्वयं चंचल व अनिष्ट पदार्थों में लुभाने से दुःख ही प्राप्त होगा।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

असि मसि कृषि विद्या शिल्प वाणिज्य करके।
वपु धन सुत अर्थं श्रम करे मोह करके॥
असश्रम इक बारं संयमार्थं करे तू॥
शुचि सौख्य अनंतं भोग कर ही रहे तू॥६६॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं जो संयम का साधन करते हैं वे अवश्य मोक्ष प्राप्त करते हैं।

सुख जननपटूनां पावनानां गुणानां।
भवति सपदि कर्ता सर्वलोकोपरिस्थः॥
त्रिदशशिखरिमूर्धाधिष्ठितस्येह पुंसः।
स्वयमवनिरधस्ताज्जायते नाखिला किं॥६७॥

अन्वयार्थ—जो संयम पालन करता है वह (सपदि) शीघ्र (सर्वलोकोपरिस्थः) सर्व लोक के ऊपर सिद्ध क्षेत्रमें विराजमान होता हुआ (सुखजननपटूनां) आत्मीक आनन्द को पैदा करने में कुशल ऐसे (पावनानां गुणानां) पवित्र गुणों का (कर्ता) करनेवाला अर्थात अपने अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि गुणोंमें परिणमन करने वाला (भवति) रहता है (इह) इस जगतमें (त्रिदशशिखरिमूर्धाधिष्ठितस्य पुंसः) सुमेरु पर्वतके मस्तक पर बैठे हुए पुरुषके लिये (किं) क्या (अखिला अवनिः) यह सकल पृथ्वी (स्वयं) अपने आप ही (अधस्तात्) नीची (न जायते) नहीं हो जाती है? अर्थात् अवश्य हो जाती है।

भावार्थ—यहां आचार्य ने दिखलाया है जो मुनि संयम का भले प्रकार अभ्यास करते हैं वे शुक्लध्यान के प्रताप से सर्व कर्म बंधनों को नाश कर व शरीर से रहित होकर मात्र एक अपने आत्मीक सत्ताको स्थिर रखते हुए स्वभाव से ऊपर जाकर तीन लोक के ऊपर सिद्ध क्षेत्र में अनंतकाल के लिए ठहर जाते हैं। वहांपर सर्व आत्माके गुण पवित्र हो जाते हैं और सर्व गुण अपने स्वभावमें सदृश परिणमन किया करते हैं। वहां न कोई ज्ञानमें बाधा होती है न वीतरागता में बाधा होती है न वीर्य में बाधा होती है। इसलिए यह आत्मा परम स्वतन्त्रता से अपनी सम्पूर्ण सम्पत्तिको भोग करता हुआ अपने आनन्द में तृप्त रहता है तथा त्रिलोक पूज्य हो जाता है। तीन लोक के प्राणी उसकी पूजा करते हैं उसीको परमात्मा, परब्रह्म व परमेश्वर मानते हैं। यहां पर आचार्य ने दृष्टांत दिया है कि जो पुरुष परिश्रम करके पर्वत की चोटी पर चढ़ जाता है वह स्वयं ही सर्व जगतके प्राणियों से ऊँचा हो जाता है। उस पुरुषके लिए सारी पृथ्वी नीचे हो जाती है। यहां यह भी भाव है कि जैसे उद्यमी पुरुष सुमेरु पर्वत पर चढ़नेसे सर्वोच्च हो जाता है इसी तरह जो मोक्षमार्ग पर चढ़ता चला जाता है और गुणस्थानों के क्रम से उन्नति करता जाता है वह स्वयं ही अपने गुणों की वृद्धिके कारण औरों से ऊँचा होता है। इसी तरह जब वह चलते-२ मुक्त हो जाता है तब वह परमात्मा होकर लोकाग्र में विराजमान हो जाता है। तात्पर्य यह है कि बुद्धिमान प्राणीको उचित है कि क्षणिक संसार की संपदा के लिए अपना नर जन्म न खो देवें किंतु इस देहमें संयम पालन के लिए खूब परिश्रम करे तो यह श्रम ऐसा सफल होगा कि इसे परमात्मा बना देगा और अधिक क्या चाहिए।

श्री पद्मनंदि मुनि यतिभावनाष्टक में कहते हैं—

लब्ध्वा जन्म कुले शुचौ वरवपुर्बुध्वा श्रुतं पुण्यतो।
वैराग्यं च करोति यः शुचितपो लोके स एकः कृती॥
तेनैवोज्झितगौरवेण यदि वा ध्यानामृतं पीयते।
प्रसादे कलशस्तदा मणिमयो हैमे समारोपितः॥५॥

भावार्थ—पुण्य के उदयसे पवित्र कुलमें जन्म पाकर व उत्तम शरीर का लाभकर जो कोई शास्त्र को समझकर व वैराग्य को पाकर पवित्र तप करता है वही इस लोकमें एक कृतार्थ पुरुष है यदि वह तपस्वी होकर मदको छोड़कर ध्यानरूपी अमृतका पान करता रहे तो मानो उसने सुवर्णमई महल के ऊपर मणिमई कलश चढ़ा दिया है। अर्थात् आत्मध्यानी ही सच्चे तपस्वी हैं और वे ही कर्मों को काटकर मोक्ष के अधिकारी होते हैं।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

जो संयम पाले लोकके अग्र जावे।
सुखकृत शुचि गुणका, परिणमन नित्य पावे॥
जो जन श्रम करके मेरु ऊपर सिधारे।
सब ही पृथ्वीको आप ही निम्न धारे॥६७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इस संसारचक्रमें सच्चा सुख नहीं मिल सकता।

मालिनी वृत्तम्

विमकरकरजाले शैत्यमुष्णत्वमिन्दोः।
सुरशिखरिणि जातु प्राप्यते जंगमत्वम्॥

न पुनरिह कदाचिद्घोरसंसारचक्रे।
स्फुटमसुखनिधाने भ्राम्यता शर्म पुंसा ॥६८॥

अन्वयार्थ—यदि (दिनकरकरजाले) सूर्य की किरण समूह में कदाचित् (शैत्यम्) ठंडकपना हो जावे तथा (इंदोः) चन्द्रमा के (उष्णत्वं) गर्मी हो जावे व (जातु) कदाचित् (सुरशिखरिणि) सुमेरु पर्वत में (जंगमत्वं) जंगमपना या हलन चलनपना (प्राप्यते) प्राप्त हो जावे तो हो जावो (पुनः) परन्तु (कदाचित्) कभी भी (असुखनिधाने) दुःखों की खान (इह घोर संसारचक्रे) इस भयानक संसार के चक्रमें (भ्राम्यता) भ्रमण करते हुए (पुंसा) पुरुष को (स्फुटम्) प्रगटपने (शर्म) सुख (न) नहीं प्राप्त हो सकता है।

भावार्थ—यहां पर आचार्य ने दिखलाया है कि मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा आत्मज्ञान रहित ही जीव चारों गतिमई संसार के चक्कर में नित्य भ्रमण किया करता है। अज्ञानी को संसार ही प्यारा है। वह संसारके भोगों का ही लोलुपी होता है। इसलिए वह गाढ़े कर्मों को बांधकर कभी दुःख कभी कुछ सांसारिक सुख उठाया करता है। उसको स्वप्नमें भी आत्मीक सच्चे सुख का लाभ नहीं होता है। आचार्य ने यहां तक कह दिया है कि असंभव बातें यदि हो जावें अर्थात सूर्य को किरणें गरम होती हैं वे ठंडी हो जावें व चन्द्रमा में ठंडक होती है सो गरमी मिलने लगे तथा सुमेरु पर्वत सदा स्थिर रहता है सो कदाचित् चलने लग जावे परन्तु मिथ्यादृष्टि जीवको कभी भी आत्म सुख नहीं मिल सकता है। इसलिए हमें उचित है कि मिथ्यात्वरूपी विष को उगलने का उद्यम करें और सम्यग्दर्शन को प्राप्त करें। भेद विज्ञान को हासिल करें व आत्मा के विचार करने वाले हो जावें इसी ही उपाय से मुक्ति के अनन्त सुखका लाभ होता है। श्री पद्मनंदि मुनि परमार्थविंशति में कहते हैं—

दुःखव्यालसमाकुले भववने हिंसादिदोषद्रुमे ।
नित्यं दुर्गतिपल्लिपातिकुपथे भ्राम्यंति सर्वेंगिनः ।।
तन्मध्ये सुगुरुप्रकाशितपथे प्रारब्धयानो जनो ।
यात्यानंदकरं परं स्थिरतरं निर्वाणमेकं पुरं ।।१०।।

भावार्थ—इन दुःखोंरूपी हाथियोंसे भरे हुए व हिंसादि पापों के वृक्षों को रखने वाले तथा खोटी गतिरूपी भीलों को पल्लियों के खोटे मार्ग में नित्य पटकने वाले संसार वन में सर्व ही प्राणी भटका करते हैं। इस वन के बीच में जो चतुर पुरुष सुगुरु के दिखाए हुए मार्ग में चलना शुरू कर देता है वह परमानन्दमई उत्कृष्ट व स्थिर एक निर्वाणरूपी नगर में पहुंच जाता है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

सूर्य किरण ठंडी उष्ण हो चन्द्र बिम्बं।
यदि सुरगिरि थिर भी हो या अथिर और कम्बं ।।
पर कभी न पावे आत्म सुख मूढ़ जीवा।
दुःखमय भववन में जो भटकता अतीवा ।।६८।।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि आत्मा का स्वभाव शुद्ध है इसका सम्बन्ध संसार वासनाओं से नहीं है।

शार्दूलविक्रीडितं

कार्यैः कर्मविनिर्मितैर्बहुविधैः स्थूलाणुदीर्घादिभिः ।
नात्मा याति कथाचनापि विकृतिं संबध्यमानः स्फुटं ।।
रक्तारक्तसितासितादिवसनैरावेष्टयमानोऽपि किं ।
रक्तारक्तसितासितागुणितामापद्यते विग्रहः ।।६९।।

अन्वयार्थ—(कर्मविनिर्मितैः) कर्मों के उदय से रची हुई (बहुविधैः) नाना प्रकार की (स्थूलाणुदीर्घादिभिः) मोटी, पतली ऊँची, छोटी आदि (कायैः) देहों के द्वारा (स्फुटं संबध्यमानः) प्रगटपने सम्बन्ध रखता हुआ (आत्मा) यह जीव (कदाचनापि) कभी भी (विकृतिं न याति) विकारी नहीं हो जाता है अर्थात अपने स्वभाव को नहीं त्यागता है (किं) क्या (विग्रहः) यह शरीर (रक्तारक्तसितासितादिवसनैः) लाल पीले, सफेद, काले वस्त्रों से (आवेष्ट्यमानोऽपि) ढका हुआ भी (रक्तारक्तसितादि-गुणिताम्) लाल, पीले, सफेद, काले रंग पाने को (आपद्यते) प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—यहां आचार्य यह दिखलाते हैं कि निश्चयनय से अर्थात् वास्तव में यह आत्मा शुद्ध है। इसने अज्ञान से जो कर्म बांधे हैं उन कर्मोंके उदय से इसके साथ कार्मण, औदारिक और तैजस शरीरों का सम्बन्ध है। ये शरीर भी पुद्गल द्रव्य के रचे हुए हैं। इनमें मोह कर्म के उदय से रागद्वेष, मोह भाव होते हैं, तथा नाम कर्म के उदयसे शरीर मोटा, पतला, लम्बा व छोटा होता है। शरीर के सम्बन्ध से आत्माको दुबला, मोटा, बलवान, निर्बल व क्रोधी, मानी, लोभी आदि के नाम से पुकारते हैं। असल में देखो तो आत्मा अपने स्वभावसे असंख्यात प्रदेशी ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय अविनाशी है। आत्मा पुद्गल के संबंध होने पर भी आत्मा ही रहता है कभी भी पुद्गलमई नहीं हो जाता है। यहां दृष्टांत देते हैं कि जैसे शरीर पर लाल, पीले, नीले, सफेद कैसे भी रंग के कपड़े पहनो वे कपड़े शरीर के ऊपर ही ऊपर हैं। शरीर लाल, पीला, काला, सफेद नहीं होता है। इसी तरह कर्मों के नाना प्रकार के संयोग होने पर भी आत्मा

वास्तव में किसी भी कर्मकृत विकारों से विकारी नहीं हो जाता है। निश्चय से आत्मा शुद्ध स्वभाव में ही रहने वाला है। ऐसा विचारवान को विचारना चाहिए।

ऐसा ही श्री पद्मनंदि मुनि ने एकत्वाशीतिमें कहा है—

क्रोधादिकर्मयोगेऽपि निर्विकारं परं महः।
विकारकारिभिर्मेघैर्न विकारि नभो भवेत् ॥३५॥
नाम हि परं तस्मान्निरक्षरात्तवनात्मकम्।
जन्ममृत्यादि चाशेषं वपुधर्मं विदुर्बुधाः॥

भावार्थ—जैसे विकारी होनेवाले मेघोंसे आकाशका स्वभाव विकारी नहीं होता है वैसे क्रोधादिक कर्मों का संयोग होने पर भी उत्कृष्ट तेज वाला आत्मा भी क्रोधी मानी आदि रूप नहीं होता। इस आत्मा के स्वभाव से तो नाम भी भिन्न हैं क्योंकि चैतन्यप्रभुका कोई नाम नहीं है। जन्म-मरण रोग आदि ये सर्व स्वभाव शरीर के हैं ऐसा ज्ञानी लोग मानते हैं।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

मोटे सूक्ष्म दीर्घ देह बहुविध हैं कर्मने जो रचे।
इनमें बसता आत्म हो न उनसा निजभाव आतम नचे॥
काला पीला लाल श्वेत कपड़ा जो देह को ढाकता।
काला पीला लाल श्वेत तनको, कबहू न कर डालता॥६९

उत्थानिका—आचार्य और भी आत्माका स्वरूप कहते हैं—

गौरो रूपधरो दृढः परिदृढः स्थूलः कृशः कर्कशः।
गीर्वाणो मनुजः पशुर्नरकभूः षंढः पुमानंगना॥
मिथ्या त्वं विदधासि कल्पनमिदं मूढो विबुध्यात्मनो।
नित्यं ज्ञानमयस्वभावममलं सर्वव्यापायच्युतम् ॥७०॥

अन्वयार्थ—(त्वं) तू (आत्मानः)आत्माके(नित्यं)अविनाशी (अमलं) निर्मल (सर्वव्यपाप्युत्तम्) सर्व संसारिक दुःख जालों से रहित (ज्ञानमयस्वभावं) ज्ञानमई स्वभाव को (विबुध्य)जान करके भी (मूढ़:) मूर्ख होकर(इदं)इस(मिथ्या)झूठी (कल्पनम्) कल्पनाको(विदधासि) किया करता है कि मैं (गौर:) गोरा हूँ (रूपधर:) मैं सुन्दर हूँ (दृढ़:)मैं मजबूत हूँ(परिवृढ़:)मैं श्रीमान् हूं (स्थूल:)मैं मोटा हूँ (कृश:)मैं दुर्बल हूँ(कर्कश:)मैं कठोर हूँ (गीर्वाण:) मैं देव हूँ (मनुज:)मैं मनुष्य हूँ (पशु:) मैं पशु हूँ (नरकभू:) मैं नारकी हूं (षंढ:)मैं नपुंसक हूँ (पुमान्) मैं पुरुष हूँ (अंगना) तथा मैं स्त्री हूँ।

भावार्थ—यहां आचार्यने दिखलाया है कि आत्माका स्वभाव अविनाशी है जब शरीरादि पदार्थ नाशवंत है,आत्मा ज्ञानमई है जब शरीरादि जड़ हैं, आत्मा निर्मल वीतराग है, जब क्रोधादि कर्म विकाररूप जड़ है, आत्मा सर्व आकुलता व दुःखों से रहित परमानन्दमई है जब कि शरीरादि व क्रोधादि संबंध जीव को आकुलित व दुःखी करनेवाला है। इस तरह आत्मा व अनात्मा का सच्चा स्वरूप जानकर भी मोही जीव मिथ्यादृष्टि होता हुआ मिथ्याश्रद्धानके नशेमें अपनेको नाना भेषरूप माना करता है। जो अवस्थाएँ कर्मके निमित्तसे हुई हैं उनकोही अपना माना करता है अपने आत्मा के असली स्वभाव से गिर जाता है। देव मनुष्य, नारकी, पशु, स्त्री, पुरुष, नपुंसक, गोरा, सुन्दर बलिष्ट मोटा, दुबला, कठोर आदि सब पुद्‌गल की अवस्थाएँ हैं। जिस घर में आत्मा रहता है उस घर की अवस्थाएँ हैं। तौ भी मोही जीव अपने को उस रूप मान लेता है उसे आत्मज्ञान का श्रद्धान नहीं है।

तात्पर्य कहने का यह है कि जो मानव आत्मोन्नति चाहता है उसका यह कर्तव्य है कि भेद विज्ञान के द्वारा अपने शुद्ध स्वरूप को अलग छांट ले और जो अनात्मा है उसको अलग कर दे। इसी प्रकार के विचार से स्वानुभव की प्राप्ति होती है। यही स्वानुभव का बीज है।

पद्मनंदि मुनि एकत्वाशीति में कहते हैं—

एकमेव हि चैतन्यं शुद्धनिश्चयतोऽथवा।
नावकाशो विकल्पानां तत्राखंडैकवस्तुनि ॥१५॥

भावार्थ—शुद्ध निश्चय से देखा जावे तो यह आत्मा एक ही चैतन्यरूप है तथा इस अखंड पदार्थ में अनेक दूसरे विकल्पों के उठाने की जगह ही नहीं है कि मैं देव हूं या नारकी हूं। इत्यादि।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

गोरा सुन्दर वीर और श्रीमान हूं थूल पतला कड़ा।
हूं पशु नारक देव और मानव नारी पुरुष षंढ या ॥
मूरख मिथ्या कल्पना जु करता निज आत्म नहिं वेदता।
जो है नित्य पवित्र ज्ञानरूपी जहं कष्टकी शून्यता ॥७०॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मुमुक्षु जीव को नित्य ही परमात्मा का स्वरूप चिन्तवन करना चाहिए—

सर्वारंभकषायसंगरहितं शुद्धोपयोगोद्यतम्।
तद्रूपं परमात्मनो विकलिलं बाह्यव्यपेक्षातिगं ॥
तन्निःश्रेयसकारणाय हृदये कार्यं सदा नापरम्।
कृत्यं क्वापि चिकीर्षवो न सुधियः कुर्वन्ति तद्ध्वंसकं ॥७१

अन्वयार्थ—(सर्वारम्भकषायसंगरहितम्) जो सर्व आरम्भ,

क्रोधादि कषाय, तथा परिग्रह से रहित है (शुद्धोपयोगोद्यतम्) जो शुद्ध ज्ञानदर्शनमई उपयोग से पूर्ण है (विकलिलं) जो सर्व कर्म मैल से रहित है (बाह्यव्यपेक्षातिगं) जिसको किसी भी बाहरी पदार्थ की अपेक्षा या गरज नहीं है (तत्) वही (परमात्मन:) इस उत्कृष्ट आत्मा का (रूपं) स्वभाव है। (तत्) इसी स्वरूप को (नि:श्रेयस-कारणाय) मोक्ष प्राप्ति के लिए (हृदये) मन में (सदा) हमेशा (कार्यं) ध्याना चाहिए (न अपरां) इसके सिवाय अन्य किसी स्वभावको न ध्याना चाहिए। (कृत्यं) करने योग्य काम को (चिकीर्षव:) पूरा करने की इच्छा करने वाले (सुधिय:) बुद्धिमान लोग (तद्ध्वंसकं) उद्देश्य के नाश करने वाले कार्यको (क्व अपि) कहींभी व कभी भी (न कुर्वंति) नहीं करते हैं।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्य ने दिखाया है कि जो भव्य जीव अपने आत्माको स्वाधीन करना चाहते हैं उनका यह पवित्र कर्तव्य है कि वह अपने ही आत्मा को परमात्मा के समान जाने, श्रद्धामें लावें तथा अनुभव करें। आत्माका स्वभाव किसी शुभ व अशुभ आरंभ करने का नहीं है। जितने भी काम होते हैं वे इस जगतमें मन, वचन कायके हिलनेसे होते हैं। आत्मा के जब मन वचन काय ही नहीं है तब उनके द्वारा वर्तन या आरंभ किस तरह हो सकते हैं। इस आत्मा में क्रोधादि कषाय की कलुषता भी नहीं है क्योंकि यह चारित्र मोहनीय कर्म का रस है, जैसे नीमका स्वाद कड़वा, ईख का स्वाद मीठा। यह आत्मा सर्व पर पदार्थों के संगसे शून्य है। इसके पास न किसी शरीर का परिग्रह है, न धनधान्य का है न क्षेत्र मकान है न रुपये पैसे का है न स्त्री पुत्रादि का है। यह आत्मा सर्व प्रकार के पौद्गलिक मैल से शून्य है यह अमूर्तीक है। इसके गुण इसके

भीतर स्वतंत्र हैं उनके विकासके लिए किसी बाहरी प्रकाश की व अन्य किसीकी सहायताकी जरूरत नहीं है। यह आत्मा पूर्णपने शुद्ध अनंतज्ञान व अनंतदर्शन से भरा हुआ है। मैं ऐसा ही हूँ इस प्रकारका अनुभव सदा करना योग्य है। यह स्वात्मानुभव ही आत्माको परमात्मा पद में ले जाने वाला है। जो बुद्धिमान भेदविज्ञानी निपुण पुरुष हैं वे आत्मचितवन को छोड़कर और कोई रागद्वेषवर्धक चितवन नहीं करते हैं, क्योंकि पर की चिंता बन्धन को करने वाली है, जो आत्मा को मुक्तिमार्ग में विघ्नकारक है। लौकिक में भी बुद्धिमान लोग अपना जो उद्देश्य स्थिर कर लेते हैं उसके अनुकूल ही कार्य करते हैं उसके विरुद्ध कार्य से सदा बचते रहते हैं।

श्री पद्मनंदि मुनि निश्चय पंचाशत् में कहते हैं—

अहमेवचित्स्वरूपश्चिद्रूपस्याश्रयो मम स एव।

नान्यत्किमपि जड़त्वात् प्रीतिः सदृशेषु कल्याणी ।।४२।।

स्वपरविभागावगमे जाते सम्यक्परे परित्यक्ते।

सहजैकबोधरूपे तिष्ठत्यात्मा स्वयं सिद्धः ।।४२।।

भावार्थ—मैं ही चैतन्य स्वरूप हूँ तथा मेरेको चैतन्य का ही आश्रय है मैं और किसी का आश्रय नहीं लेता हूं क्योंकि मेरे सिवाय अन्य पदार्थ सब जड़ हैं तथा यह भी न्याय है कि समान स्वभाव वालों में ही प्रीति करनी योग्य है। जिस समय इस आत्मा को अपना और पर का स्वरूप अलग-२ भले प्रकार समझ में आ जाता है तब यह स्वयं सिद्ध आत्मा पर पदार्थ को छोड़कर अपने ही स्वाभाविक एक ज्ञान स्वभाव में लवलीन हो जाता है।

वास्तव में आत्मलीनता ही सच्ची सामायिक है—

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

परमात्मा है सर्व मल दूरं नहिं चाह परकी करैं ।
शुद्धपयोगमई कषाय रहितं नारंभ परिग्रह धरैं ।।
सो ही शिवके हेतु निज चितमें ध्यावो नहीं और कुछ ।
बुधजन निज उद्देश्य घातकारक करते नहीं कार्य कुछ ।।७१

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि शरीरसे प्रीति करना है सो आत्मा की उन्नति से बाहर रहना है।

यो जागर्ति शरीरकार्यकरणे वृत्तिं विधत्ते यतो ।
हेयादेयविचारशून्य हृदयो नात्मक्रियायामसौ ।।
स्वार्थं लब्धुमना विमुंचतु ततः शश्वच्छरीरादरम् ।
कार्यस्य प्रतिबंधके न यतते निष्पत्तिकामः सुधीः ।।७२।।

अन्वयार्थ—(यतः) क्योंकि (यः) जो कोई (शरीरकार्यकरणे) शरीरके कामके करनेमें (जागर्ति) जाग रहा है (असौ) वह (हेयादेयविचारशून्यहृदयः) त्यागने योग्य व करने योग्य के विचार से शून्य मन वाला होता हुआ (आत्मक्रियायाम्) आत्मा के कार्य में (वृत्ति न विधत्ते) अपना वर्तन नहीं रखता है। (ततः) इसीलिए (स्वार्थं लब्धुमना) अपने आत्मा के प्रयोजन को जो सिद्ध करना चाहता है उसको (शश्वत्) सदा ही (शरीरादरम्) शरीर का मोह (विमुंचतु) छोड़ देना चाहिए (निष्पत्तिकामः) अपनी इच्छाको पूर्ण करने वाला (सुधीः) बुद्धिमान पुरुष (कार्यस्य) अपने काम के (प्रतिबंधके) रोकने वाले कार्य में (न यतते) उद्यम नहीं करता है।

भावार्थ—यहां आचार्य कहते हैं कि शरीर और आत्मा दो भिन्न २ पदार्थ हैं। जिसको शरीरका मोह है वह रातदिन शरीर

की शोभा करने में उसको पुष्ट करने में व उसको आराम देनेमें अपना समय व बल नष्ट किया करता है उसको आत्मोन्नति की तरफ ध्यान नहीं रहता है। उसका हृदय विषयभोगों में ऐसा अन्धा हो जाता है कि उसको कर्तव्य अकर्तव्यका व त्यागने योग्य व ग्रहण करने योग्यका विवेक नहीं रहता है। इसलिए जो अपने आत्माकी उन्नति करना चाहे उसको उचित है कि वे शरीर का मोह छोड़े उसका आदर न करें उसको चाकर के समान रखकर उससे तपादि का साधन करे और अपना कार्य बना लें। जो बुद्धिमान पुरुष होते हैं वे सदा इस बातकी सम्हाल रखते हैं। कि जो कार्य करना निश्चय किया गया है उसकी सफलता का ही उद्योग करे तथा उस कार्यके विरोधी किसी उद्यम को न करें। जब यह निश्चय है कि शरीर का मोह मन को आत्मकार्य से हटाने वाला है तो विवेकी को आत्मा के काम बनाने का ही ध्यान रखना चाहिए और इसलिए आत्म मनन करके स्वानुभव प्राप्त करना चाहिए, बिना आत्मध्यान के कभी भी आत्मा की शुद्धि नहीं हो सकती है।

जब तक शरीर सम्बन्धी मोह नहीं छूटता तब तक आत्म-हित नहीं हो सकता। श्री अमितगति आचार्य सुभाषित रत्न-संदोह में कहते हैं—

मदमदनकषायारातयो नोपशान्ता।
न च विषयविमुक्तिर्जन्मदुःखान्न भीतिः॥
न तनुसुखविरागो विद्यते यस्य जन्तो—
र्भवति जगति दीक्षा तस्य भुक्त्यै न मुक्त्यै॥१७॥

भावार्थ—जिस मानवके घमंड व कामभाव व क्रोधादि शत्रु शांत नहीं हैं व जिसका मन विषयों से विरक्त नहीं हुआ है व

जिसको संसार के दुखोंसे भय नहीं है तथा जिसके चित्तमें शरीर के सुख से वैराग्य नहीं भया है उसकी दीक्षा भी इस जगत में भोगों के लिए है मुक्ति पाने के लिए नहीं है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो आगे निज तन विलासपथ में सो मूर्ख जाने नहीं।
क्या हितकर क्या नाशकर सुकर्तव निजआत्म करता नहीं॥
जो चाहे परमात्म धाम अपना तन मोह करता नहीं।
बुध निज कारण सिद्धकाज उल्टा कब ही जु चलता नहीं॥७२

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि बुद्धिमान को व्यर्थ कार्य न करना चाहिए।

भीतं मुंचति नांतको गतघृणो भैषीर्वृथा मा ततः।
सौख्यं जातु न लभ्यतेऽभिलषितं त्वं माभिलाषीरिदं॥
प्रत्यागच्छति शोचितं न विगतं शोकं वृथा मा कृथाः।
प्रेक्षापूर्वविधायिनो विदधते कृत्यं निरर्थं कथम्॥७२॥

अन्वयार्थ—(गतघृणः) दया रहित (अंतकः)यमराज(भीतं) जो मरणसे डरता है उसको (न मुंचति) छोड़ता नहीं है (ततः) इसलिए (वृथा) बेमतलब(मा भैषीः)डर न कर (अभिलषितं) अपना चाहा हुआ (सौख्यं) सुख (जातु) कभी (न लभ्यते) नहीं प्राप्त होता है इसलिए (त्वं) तू (इदं) इस सुख की (मा अभिलाषीः) इच्छा न कर (विगतं) जो मर गया नष्ट हो गया (शोचितं) उसका शोच करने पर (न प्रत्यागच्छति) लौट कर नहीं आता है इसलिए (वृथा) बेमतलब (शोकं मा कृथाः) शोक न कर (प्रेक्षापूर्वविधायिनः) समझकर काम करने वाले विद्वान (निरर्थम्) बेमतलब (कृत्यं) काम (कथम्) किस लिए (विदधते) करेंगे ?

भावार्थ—यहाँ आचार्यने बड़ी ही सुन्दर युक्तिसे यह समझा दिया है कि बुद्धिमान प्राणी को न तो मरनेसे डरना चाहिए, न भोगोंकी इच्छा करनी चाहिए और न वियोग हुई वस्तु का शोक करना चाहिए। जगत के प्राणी इन्हीं भूलों में फँसे रहते हैं। यह बात जब निर्णय की हुई है कि जब आयुकर्म समाप्त हो जायगा तब इस शरीर को आत्मा अवश्य छोड़ जायगा तब यह भय करना कि कहीं मरण न हो बड़ी भारी मूर्खता है। व कायरपना है। बुद्धिमान प्राणी कभी भी बेमतलब मौतसे डरता नहीं किन्तु वीर पुरुष की तरह जब मरण आवे तब मरने को तैयार रहता है। जब यह देखा जाता है कि संसारमें अधिकतर चाहे हुए इंद्रियोंके विषय नहीं प्राप्त होते हैं किन्तु जैसा न चाहो वैसा पदार्थ प्राप्त हो जाता है तब फिर वृथा पदार्थों के लिए तृषातुर व अभिलाषावान रहना अपने मनको क्लेषित रखना है। बुद्धिमान मनुष्य आगामी भोगों की तृष्णा से क्लेशित नहीं होता है जो पुण्यके उदयसे पदार्थ प्राप्त होता है उसी में सन्तोष कर लेता है। यह जब पक्का निश्चय है कि जो प्राणी मर गया वह फिर उसी शरीरमें आ नहीं सकता तब बुद्धिमान कभी भी अपने मरण प्राप्त माता, पिता, पुत्र, पुत्री, स्त्री, मित्र आदि का शोक नहीं करता है। शोक करने से परिणामों में क्लेश होता है वह क्लेश यहाँ भी दुःखी करता है व आगामी के लिए असाता-वेदनीय का बंध करा देता है। इत्यादि बातोंको विचारकर जो चतुर मानव हैं वे कभी भी निरर्थक काम नहीं करते हैं वे जिस काम को करते हैं उसका फल पहले ही विचार लेते हैं जिसका फल पहले ही विचार लेते हैं। जिसका फल होना निश्चय है उस ही काम को करते हैं।

सज्जन पुरुष सदा उत्तम फलदायी कार्यों को ही करते हैं। जैसा अमितगति महाराज ने सुभाषित रत्नसंदोह में कहा है—

चित्ताल्हादि व्यसनविमुखः शोकतापापनोदि।
प्रज्ञोत्पादि श्रवणसुभगं न्यायमार्गानुयायि॥
तथ्यं पथ्यं व्यपगतमलं सार्थकं मुक्तबाधं।
यो निर्दोषं रचयति वचस्तं बुधाः सन्तमाहुः॥४६१॥

भावार्थ—जो कोई बुरी आदतों से अलग रहता हुआ ऐसा वचन कहता है जो चित्तको प्रसन्न करने वाला हो, शोक संताप को हटाने वाला हो, बुद्धि से उत्पन्न हुआ हो, कानों को प्रिय मालूम हो, न्यायमार्ग पर ले जाने वाला हो, सत्य हो, हजम होने योग्य हो, दोषरहित हो, अर्थसे भरा हो व बाधाकारक न हो उसी को बुद्धिमानों ने सन्तपुरुष कहा है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

निर्दय यम नयमति जन्तु मारे इससे जु डरना वृथा।
इच्छित सुखन प्राप्त होय कब ही अभिलाष करना वृथा॥
मृतगत शोच किये न लौट आता है शोक करना वृथा।
विद्वजन सुविचार कार्य निष्फल करते नहीं सर्वथा॥७३॥

उत्थानिका—आगे आचार्य कहते हैं कि आत्मीक सुख के लिए प्रयत्न कर, संसारिक सुख के लिए वृथा क्यों इच्छा करता है।

स्वस्थेऽकर्मणि शाश्वते विकलिले विद्वज्जनप्रार्थिते।
संप्राप्ये रहसात्मना स्थिरधिया त्वं विद्यमाने सति॥
बाह्यं सौख्यमवाप्तुमंतविरसं किं खिद्यसे नश्वरम्।
रे सिद्धे शिवमन्दिरे सति चरी मा मूढ भिक्षां भ्रमः॥७४

अन्वयार्थ— (स्वस्थे) जो सुख अपने आत्मा में ही स्थित है (अकर्मणि) जो कर्मोंके उदयसे प्राप्त नहीं होता अथवा जो कर्मों के नाशसे प्रगट होता है (शाश्वते) जो अविनाशी है (विकलिले व जो मल रहित निर्मल है (विद्वज्जनप्रार्थिते) जिस सुखको विद्वान लोग सदा इच्छा किया करते हैं तथा जो (स्थिरधिया आत्मना) स्थिरभाव करनेवाले आत्माके द्वारा (रहसा ह्रंप्राप्ये) सहजहीमें प्राप्त होने योग्य है (विद्यमाने सति) ऐसा सुख अपने पास होते हुए (त्वं) तू (अंतविरसं) जो अंत में रस रहित है (नश्वर) व नाशवंत है ऐसे(बाह्यं सौख्यम्) बाहरी इंद्रियजनित सुखको (अवाप्तं) प्राप्त करने के लिए (किं) क्यों (खिद्यसे) खेद उठाता है (रे मूढ़) रे मूर्ख (शिवमंदिरे चरौ सिद्धे सति) महादेवजी के मंदिरमें खाने को नैवेद्य मिलते हुए (भिक्षां मा भ्रम:) भिक्षा के लिए मत भ्रमण कर।

भावार्थ—यहां पर आचार्य कैसा सुन्दर कहते हैं कि जो वस्तु अपने पास ही हो उसको न जानकर उस वस्तु के लिए बाहर ढूंढते हुए खेद उठाना नितान्त मूर्खता है। कोई साधु महादेव जीके मंदिरमें रहता था वहीं जब उसको पेटभर खानेको मिष्टा न्न आदि मिल जावे तब उसको भिक्षा के लिए भ्रमण करना वृथा ही कष्ट उठाना है। आत्मा का स्वभाव आनन्द है यह अविनाशी है। पापरहित है। कर्मों के नाश से प्रगट होता है। इसी आनन्द को सदा साधुजन चाहा करते हैं तथा यह आनन्द मात्र अपने उपयोग को अपनेमें स्थिर करनेसे ही अपनेको प्राप्त हो जाता है। जो अपने ही पास है व जिसके लिए किसी दूसरे पदार्थकी जरूरत नहीं है व जो सदा ही तृप्तिकारक है, जो ऐसे सच्चे सुखको मूर्ख जन नहीं पहचानते हैं और उस सच्चे सुख के

लाभ के लिए अपने आत्मा के भीतर प्रवेश नहीं करते हैं तथा बाहरी इंद्रियजनित नीरस और अतृप्तिकारी सुखकी प्राप्ति के लिए चेष्टा करते हैं वे वृथा ही कष्ट उठाते हैं, क्यों कि यदि परिश्रम करने से कदाचित इच्छित बाहरी सुख प्राप्त भी हो जावे तौभी उससे तृप्ति नहीं होती तथा वह ठहरता नहीं है, वह शीघ्र नाश हो जाता है। जिस किसी को अपने स्थान में ही मनमोहन खाने को मिले और वह उसको तो न खावे किन्तु भीख माँगता फिरे उसे भीख में तो पूरा भोजन भी मिलना कठिन होगा और वह भूखाही बैठ रहेगा। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी जीवको अपने ही भीतर भरे हुए सुख समुद्रकी खोजकरके उसमें ही स्नान करना चाहिए व उसीके जलको पीना चाहिए। उसी से ही तृप्ति होगी और वही सदा पीने में भी आयगा उसे जलका कभी वियोग नहीं होगा क्योंकि वह सुखसमुद्र अपने ही पास है और अपनेको अपनेसे मिल जाता है। इसलिए इंद्रियोंके सुख की वांछा छोड़ आत्मिक सुख के लिए अपने आप में रहना ही हितकर है।

श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णव में कहते हैं—

> अतृप्तिजनकं मोहदावबह्नेर्महेन्धनम्।
> असातसन्ततेर्बीजमक्षसौख्यं जगुर्जिनाः ॥१२॥
> अध्यात्मजं यवत्यक्षं स्वसंवेद्यमनश्वरम्।
> आत्माधीनं निराबाधमनन्तं योगिना मतम् ॥२३॥

भावार्थ—जिनेन्द्रोंने कहा है कि जो सुख इंद्रियोंसे पैदा होता है वह तृप्त करनेवाला नहीं है तथा वह सुख मोहरूपी दावानलको बढ़ानेके लिए महा ईंधन के समान है तथा दुःखोंकी परिपाटीका बीज है, जब कि अध्यात्मिक सुख इंद्रियोंकी पराधीनता से रहित

है। मात्र अपने ही अनुभव गोचर है, अविनाशी है, स्वाधीन है, बाधारहित है तथा अनन्त है, योगियोंके द्वारा माननीय है।

वास्तव में आत्मीक सुख जब अमृत है तब इंद्रियसुख खारे पानी के समान है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो सुख अपने आत्म बीच बसता है मलरहित शाश्वता।
थिरभावोंसे आपमें सु मिलता विद्वान नित चाहता॥
फिर क्यों नीरस बाहरी क्षणिक सुख अर्थ जु कष्ट सहे।
शिवमंदिरमें मोख्य सहज मिलते भिक्षार्थ भ्रम दुख सहे॥७४

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो थिर सुख पाना तो चाहे पर उपाय उल्टा करे उसको वह सुख कैसे मिल सकता है?

मालिनी वृत्तम्

अभिलषति पवित्रं स्थावरं शर्म लब्धुं।
धनपरिजनलक्ष्मीं यः स्थिरीकृत्य मूढः॥
जिगमिषति पयोधेरेव पारं दुरापं।
प्रलयसमयवीचिं निश्चलीकृत्य शंके॥७५॥

अन्वयार्थ—(यः मूढः) जो मूर्ख (धनपरिजनलक्ष्मीं) धन, बंधुजन व सम्पत्तिको (स्थिरीकृत्य) स्थिर रख करके (पवित्रं) निर्मल (स्थावरं) अविनाशी (शर्म) सुख (लब्धु) पानेकी (अभिलषति) इच्छा करता है (शंके) मैं ऐसी आशंका करता हूँ कि (एषः) यह मूर्खजन (प्रलयसमयवीचिं) प्रलयकालकी उठने वाली तरंगों को (निश्चलीकृत्य) निश्चल करके (पयोधेः) समुद्रके (दुरापं पारं) न पार होने योग्य पारको (जिगमिषति) जाना चाहता है।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि वह मानव महा मूर्ख है जो

अविनाशी, पवित्र सुख तो चाहे परंतु उसके लिए अपने आत्मा में ध्यान करना छोड़कर धन परिवार परिग्रह को संचय करे और इन चंचल वस्तुओंको थिर रखना चाहे और यह भी चाहे कि थिर सुख मिल जावे। यह ऐसीही मूर्खताकी बात है कि जैसे कोई प्रलयकालकी पवनसे उद्धत समुद्रको उसकी न निश्चल रहनेवाली तरंगों को स्थिर करके उसे पार करना चाहे। थिर पवित्र सुख कभी भी इंद्रियोंके भोगों से प्राप्त नहीं हो सकता इंद्रियभोग से जो कुछ सुख होगा वह मात्र क्षणिक होगा व तृप्तिकारी न होगा तथा मैला होगा। क्योंकि जिस धन परिवार व परिग्रह के आश्रय से यह इंद्रियसुख होता है वे सब पदार्थ चंचल हैं व नाशवंत हैं इसलिए इंद्रियसुख भी चंचल व नाशवंत है। तृप्तिकारी अविनाशी सुख तो मात्र अपने आत्मा के स्वभावमें है, वह तब ही प्राप्त होगा जब जगतके पदार्थोंसे मोह छोड़ के निज आत्मा का अनुभव किया जायगा। इंद्रियोंको भोगते हुए कभी भी थिर व पवित्र सुख नहीं मिल सकता है, वह तो आत्मसन्मुख होने ही पर मिलेगा। तात्पर्य यह है कि सच्चे सुखके लिए अपने आप में ही खोज करनी चाहिए। ऐसा ही श्री शुभचन्द्र मुनिने श्री ज्ञानार्णव में कहा है—

अपास्य करणग्रामं यदात्मन्यात्मना स्वयम्।
सेव्यते योगिभिस्तद्धि सुखमाध्यात्मिकं मतम् ॥२४॥

भावार्थ—इन्द्रियों के विषयों को रोककर जो सुख स्वयम् आत्मामें ही आत्माके ही द्वारा योगियोंको प्राप्त होता है वही आत्मीक सुख है। इन्द्रियों का सुख तृष्णा के दुःखों को बढ़ाने वाला है जैसा वहीं कहा है—

अपि संकलिताः कामाः संभवन्ति यथा यथा ।
तथा तथा मनुष्याणां तृष्णा विश्वं विसर्पति ॥३०॥

भावार्थ—जैसे-२ इच्छित भोग मिलते जाते हैं वैसे-२ मनुष्यों के चित्त को तृष्णा अपार में फैलती जाती है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

शुचि थिर सुख पाऊं चाह ऐसा करे है।
धन सुत तिय पृथ्वी भोगमें मति धरे है॥
मानूं मूरख सो उदधिका पार चाहे।
प्रलय समय लहरें थिर करूँ बुद्धि गाहे॥७५॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि बुद्धिमान पुरुष इन्द्रिय-विषयों से दूर रहते हैं।

शार्दूलविक्रीडित छन्द

ये दुःखं वितरन्ति घोरमनिशं लोकद्वये पोषिताः।
दुर्वारा विषयारयो: निकरुणाः सर्वांगशर्माश्रयाः॥
प्रोच्यंते शिवकांक्षिभिः कथममी जन्मावलीवर्द्धिनो।
दःखोद्रेकविवर्धनं न सुधियः कुर्वन्ति शर्मार्थिनः॥७६॥

अन्वयार्थ—(ये) जब ये (दुर्वाराः) कठिनता से दूर होने योग्य (निकरुणाः) और निर्दयी (विषयारयः) इन्द्रिय विषयरूपी शत्रु (पोषिताः) पुष्ट किये जाने पर (लोकद्वये) इस लोक व परलोक दोनों में (अनिशं) रातदिन (घोरं दुखं) भयानक कष्टों को (वितरंति) विस्तारते हैं तब (शिवकांक्षिभिः) मोक्ष के आनन्द को चाहने वाले (कथं) किस तरह (जन्मावलीवर्द्धिनः) संसार की परिपाटी को बढ़ाने वाले अभी इन विषयरूपी शत्रुओं को (सर्वांगशर्माश्रयः) सर्व प्रकार शरीर को सुख

देने वाले हैं ऐसा (प्रोच्यन्ते) कह सकते हैं। (शर्मार्थिन:) जो सुख के अर्थी हैं वे (सुधिय:) बुद्धिमान प्राणी (दु:खोद्रेकविवर्धनं) दु:ख के वेग को बढ़ाने वाले कार्य को (न कुर्वन्ति) नहीं करते हैं।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि इंद्रियों के भोगोंकी चाहनाएँ इस जीव के लिए महान शत्रुता का काम करती हैं। ये चाहनाएँ ऐसी प्रबल होती हैं कि इनको दूर करना कठिन होता है। तथा इनको जरा भी दया नहीं होती है, इनके कारण रात्रिदिन इस लोकमें भी आकुलता व शोक आदि के दु:ख सहने पड़ते हैं। व तीव्र कर्म बांधकर परलोकमें दुर्गति के कष्ट भोगने पड़ते हैं। जो इनको पुष्ट करते हैं उनको अधिक-२ दु:ख देती हैं। ये विषयरूपी शत्रु वास्तव में इस जीव की जन्म मरणरूपी परिपाटी को बढ़ाने वाले हैं तब मोक्षके आनन्द को चाहने वाले इन इंद्रियों के विषयों को किस तरह ऐसे कह सकते हैं कि ये सर्व प्राणियों को सुखके देने वाले हैं ?। इनको सुखदायी कहना नितान्त भूल है। जिनसे उभयलोक कष्ट मिले उनको कोई भी बुद्धिमान सुखदायी नहीं मान सकता है। इसीलिए जो सुख के अर्थी बुद्धिमान हैं वे कभी भी ऐसा काम नहीं करते जिससे उल्टा दु:ख बढ़ जावे। अर्थात् वे इन इंद्रिय विषयों को बिल्कुल मुंह नहीं लगाते हैं। किन्तु इनसे विरक्त हो आत्मसुख के लिए आत्मानुभव का ही प्रयत्न करते हैं।

सुभाषित रत्नसंदोहमें स्वामी अमितगति कहते हैं—

आपातमात्ररमणीयमतृप्तिहेतुं।
किंपाकपाकफलतुल्यमथो विपाके॥
नो शाश्वतं प्रचुरदोषकरं विदित्वा।
पंचेन्द्रियार्थसुखमर्थधियस्त्यजंति॥९८॥

भावार्थ—यों पांचों इंद्रियों के सुख भोगते समय तो सुन्दर भासते हैं परन्तु ये अतृप्तिके ही बढ़ाने वाले हैं। जैसे इन्द्रायण का फल खाते समय मीठा होता है परन्तु उसका फल प्राणों का हरने वाला है। ये इन्द्रियसुख नित्य नहीं रहते तथा अनेक दोषोंको पैदा करने वाले हैं ऐसा जानकर बुद्धिमान लोग इन इन्द्रियों के सुखोंकी इच्छाको ही छोड़ देते हैं।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो नित दुस्सह दुःख लोकद्वयमें पोषण किये देत हैं।
निर्दय हैं दुर्वार अरि विषय ये मनवृद्धि कर देत हैं॥
शिव सुख इच्छुक किस प्रकार इनको सेवें सुधी प्राणि रे
सुखअर्थी बुधजन न कार्य करते जो कष्ट देते नये॥७६॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि निर्मल भावों का और मलीन भावों का क्या क्या फल होता है—

कुर्वाणः परिणाममेति विमलं स्वर्गापवर्गश्रियं।
प्राणी कश्मलमुग्रदुःखजनिकां श्वभ्रादिरीतिं यतः॥
गृह्णानाः परिणाममाद्यमपरं मुंचंति सन्तस्ततः।
कुर्वन्तीह कुतः कदाचिदहितं हित्वा हितं धीधनाः॥७७॥

अन्वयार्थ—(यतः) क्योंकि (प्राणी) यह प्राणी (विमलं परिणाम) निर्मल भावको (कुर्वाणः) करता हुआ (स्वर्गापवर्गश्रियं) स्वर्ग व मोक्ष की लक्ष्मी को (एति) प्राप्त कर लेता है तथा (कश्मलं) मलीन भावको करता हुआ (उग्रदुःखजनिकां) भयानक दुखोंको पैदा करने वाली (श्वभ्रादिरीतिं) नर्क आदि की अवस्था को पाता है (ततः) इसलिए (सन्तः) सन्तजन (आद्यं) पहले (परिणामं) भावको (गृह्णानाः) ग्रहण करते हुए (अपरं) दूसरे अशुभ भावों को (मुंचंति) त्याग देते हैं (इह) इस लोक

में (धीधनाः) बुद्धिमान प्राणी (हितं हित्वा) अपने हित को छोड़कर (कुतः) किस तरह (कदाचित्) कभी भी (अहितं) दुःखदाई काम को (कुर्वन्ति) करेंगे।

भावार्थ—यहां आचार्य कहते हैं कि यह जीव अपने भावों से ही अपना कल्याण कर लेता है तथा भावोंसे ही अपना बिगाड़ कर लेता है। जैसे भाव होते हैं वैसा कार्य होता है। शुद्ध भावों से कर्मों की निर्जरा होकर मोक्ष हो जाता है तथा शुभ भावोंसे पुण्यबंध होकर स्वर्गादिक शुभ गति प्राप्त होती है तथा अशुभ भावोंसे पाप बंधता है जिससे नरक आदिकी खोटी गति प्राप्त होती है ऐसा जानकर सन्त पुरुष सदा ही शुद्ध भावों में रहने का उद्यम करते हैं। जब शुद्ध भावों में परिणाम नहीं ठहरता है तब शुभ भावोंमें जम जाते हैं परन्तु वे अशुभ मलीन भावोंको कभी नहीं ग्रहण करते हैं। उनको तो दूरसे ही त्यागते हैं। बुद्धिमान मानव वे ही हैं जो अपने हित अहित का विचार करें। जिन कार्योंसे अपना बुरा होता जाने उनको तो छोड़ दें व जिनसे अपना भला होता जाने उनको साधन करें। तात्पर्य यह है कि सुख शांतिकी प्राप्ति अपने आत्मानुभव से ही होगी इसलिए विषयों की खोटी वासना को त्यागकर बुद्धिमान को सदा आत्म मननमें ही उद्योगी रहना योग्य है।

सारसमुच्चय में श्री कुलभद्र मुनि कहते हैं—

आत्मकार्यं परित्यज्य परकार्येषु यो रतः।
ममत्वरतचेतस्कः स्वहितं भ्रंशमेष्यति ॥१५७॥
स्वहितं तु भवेज्ज्ञानं चारित्रं दर्शनं तथा।
तपः संरक्षणं चैव सर्वविद्भिस्तदुच्यते ॥१५८॥

यथा स जायते चेतः सम्यक्शुद्धिं सुनिर्मलाम् ।
तथा ज्ञानविदा कार्यं प्रयत्नेनापि भूरिणा ॥१६१॥

भावार्थ—जो अपने आत्माके कामको छोड़कर शरीरादि पर के कार्यमें लीन है वह ममता सहित चित्त वाला होकर अपने आत्महितका नाश कर डालता है। अपने आत्माका हित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रका साधन तथा तपका भले प्रकार रक्षण है ऐसा सर्वज्ञों ने कहा है। जिस तरह यह मन भले प्रकार ऊँची शुद्धताको प्राप्त कर ले उसी तरह ज्ञानियों को बहुत प्रयत्न करके उद्यम करना चाहिए।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीड़ित छन्द

जो करता शुचि भाव प्राप्त करता शिव स्वर्ग लक्ष्मी सही ।
जो करता मलभाव सोहि लहता नरकादि दुखकर मही ॥
सज्जन निर्मल भाव नित्य ग्रहते मल भावको त्यागते ।
बुधजन हितकर कार्य छोड़ कबहूं दुखकर नहीं साधते ॥७७

उत्थानिका—आगे इस परिणाम की महिमा को और भी बताते हैं—

नरकगतिमशुद्धैः सुंदरैः स्वर्गवासं ।
शिवपदमनवद्यं याति शुद्धैरकर्मा ॥
स्फुटमिह परिणामैश्चेतनः पोष्यमाणै—
रिति शिवपदकामैस्ते विधेया विशुद्धाः ॥७८॥

अन्वयार्थ—(अशुद्धैः) अशुद्ध (परिणामैः) भावों से (नरकगतिं) नरकगति को (सुंदरैः) शुभ भावोंसे (स्वर्गवासं) स्वर्ग निवासको तथा (चेतनः पोष्यमाणैः शुद्धैः) चेतन को पुष्ट करने वाले शुद्ध भावों से (अकर्मा) यह जीव कर्म रहित होकर

(अनवद्यं) निर्दोष (शिवपदम्) मोक्षपदको (याति) प्राप्त करता है (इति) ऐसा समझकर (शिवपदकामैः) जो मोक्ष की इच्छा रखते हैं उनको (ते विशुद्धाः) उन विशुद्ध भावों को (विधेयाः) करना योग्य है।

भावार्थ—संसारी जीवोंके भाव तीन प्रकारके होते हैं एक शुद्ध, एक शुभ, एक अशुभ। जहां वीतरागभाव, समताभाव व शुद्ध आत्माकी तरफ सन्मुख भाव होता है वहां शुद्ध भाव होता है। यह भाव रागद्वेषके मैलसे शून्य होता है इसलिए कर्मों की निर्जराका कारण है इसलिए यही वास्तवमें मोक्ष मार्ग है। यहीं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की एकता होती है। मोक्ष पुरुषार्थकी सिद्धिके लिए यही भाव ग्रहण करने योग्य है। अशुद्ध भाव वे कहलाते हैं जहां कषायों का उदय होकर कषाय-सहित भाव हों। कषायसहित भाव आत्मस्थ नहीं होते किन्तु परपदार्थके सन्मुख होते हैं। इन्हीं अशुद्ध भावों के दो भेद हैं एक शुभ दूसरे अशुभ। जहां कषाय मंद होती है व भावोंमें प्रशमता, धर्मानुराग, भक्ति, सेवाधर्म, दयाभाव, परोपकार, सन्तोष, शील, सत्य वचनमें प्रेम, स्वार्थ त्याग आदि मंद कषायरूप भाव होते हैं उनको शुभ भाव कहते हैं। इन शुभ भावोंसे मुख्यतासे पुण्यकर्मों का बंध होता है। जहां कषाय तीव्र होती है वहां भावोंमें दुष्टभाव, अपकारके भाव, हिंसकभाव, असत्यपना, चोरीपना, कुशीलपना, असन्तोष, इन्द्रियविषय की लम्पटता, मायाचार, अति लोभ, व्यसनोंमें लीनता, परनिन्दा में प्रसन्नता, आदि भाव होते हैं उनको अशुभ भाव कहते हैं। इनसे पापकर्मों का ही बंध होता है। अशुभ भावोंके फलसे नरक व पशुगतिमें जाता है, शुभ भावोंसे मनुष्य व देवगतिमें जाता है। ये दोनों ही भाव जीवको संसारचक्रमें फंसाने वाले हैं, मोक्षके कारण नहीं

है मात्र शुद्ध भाव ही मुक्तिके हेतु हैं। इसलिए आचार्यका उपदेश है कि मोक्षके इच्छुक प्राणीको उचित है कि शुद्ध भावोंकी प्राप्तिका उद्यम करे और इस हेतुसे वह अपने आत्माके अनुभव करनेका अभ्यास करे यह तात्पर्य है। श्री पद्मनंद मुनि निश्चय पंचाशत् में कहते हैं—

शुद्धाच्छुद्धमशुद्धं ध्यायन्नाप्नोत्यशुद्धमेव स्वम्।
जनयति हेम्नो हैमं लोहाल्लोहं नरः कटकम् ॥१८॥

भावार्थ—शुद्ध भाव से शुद्ध आत्मा का लाभ होता है तथा अशुद्धरूप ध्यान से अशुद्ध भावका ही लाभ होता है। जैसे सुवर्ण से सोनेका कड़ा व लोहेसे लोहे का कड़ा ही मनुष्य बना सकता है।

यह सिद्ध है शुद्ध भाव ही आनंद का हेतु है—

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

अशुभ करे नरकं स्वर्ग शुभ भाव लावे।
शिवपद सुखकारी शुद्ध परिणाम पावे॥
आतम बलकारी प्रगट हैं शुद्ध भावा।
इम लख शिवकामी नित करें शुद्धभावा॥७८॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि चारों ही गति दुःखरूप हैं इसलिए सुखके लिए मोक्षका प्रयत्न हितकर है।

शार्दूलविक्रीडित छन्द

श्वभ्राणां अविसह्यमंतरहितं दुर्जल्पमन्योन्यजम्।
दाहच्छेदविभेदनादिजनितं दुःखं तिरश्चां परम्॥
नृणां रोगवियोगजन्ममरणं स्वर्गौकसां मानसम्।
विश्वं वीक्ष्य सदेति कष्टकलितं कार्या मतिर्मुक्तये॥७९॥

अन्वयार्थ -- (श्वभ्राणां) नरकगतिवासी प्राणियों को (अविसह्यम्) न सहने योग्य (दुर्जल्पम्) वचनों से न कहने योग्य (अन्योन्यजम्) परस्पर किया हुआ (अंतरहितं) अनंत बार (परं दुःखं) उत्कृष्ट दुःख होता है (तिरश्चां) पशु गति में रहने वाले प्राणियोंको (दाहच्छेदविभेदनादिजनितम्)अग्निमें डालनेका छेदे जानेका, भेदे जानेका, भूख, प्यास आदिके द्वारा होने वाला कष्ट होता है। (नृणां) मानवोंको(रोगवियोगजन्ममरणं)रोग, वियोग तथा जन्म मरण आदिका दुःख रहा करता है (स्वर्गौकसां) स्वर्गवासी देवोंको (मानसं) मन संबंधी बाधा रहती है (इति) इस प्रकार (विश्वं) इस गति को (कष्टकलितं) दुःखोंसे भरा हुआ (सदा) हमेशा (वीक्ष्य) देखकर (मुक्तये) मुक्त होने के लिए (मतिः) अपनी बुद्धि (कार्या) करनी योग्य है।

भावार्थ—इस श्लोकसे आचार्य ने दिखला दिया है कि चारों ही गतियोंमें इस जीवको कहीं संतोष व सुख शांति नहीं मिलती है। सर्व ही में शारीरिक व मानसिक दुःख कम व अधिक पाये जाते हैं। हम यदि नरकगतिको लेवें तो जिनवाणी बताती है कि वहाँ के कष्ट अपार हैं। भूमि दुर्गंधमय, हवा शरीर भेदने वाली, वृक्षोंके पत्ते तलवारकी धारके समान, पानी खारा, शरीर रोगों से भरा व भयानक, परस्पर एक दूसरेको मारते, सताते व दुखी करते हैं वहाँ के प्राणियों की कभी भूख, प्यास मिटती नहीं। क्रोधकी अग्निमें जलते रहते हैं, दीर्घकाल रो-रोकर बड़े भारी कष्टसे अपने दिन पूरे करते हैं। पशु गति के दुःख तो हमारी आँखों के सामने ही हैं। एकेन्द्रिय पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक प्राणियोंके कष्टोंका

पार नहीं है। मानवों के आरम्भ द्वारा उनको सदा ही कष्ट मिला ही करता है। दबके, कुटके जलके, उबलके, धक्कों से, घुमाए जानेसे, रौंदे जानेसे, काटे, छीले जाने से आदि अनेक तरहसे ये कष्ट पाते हैं। द्वेन्द्रियादि कोड़े मकोड़े, चींटी, चींटे मक्खी, पतंग, भुनगे आदि मानवोंके नाना प्रकारके आरम्भों के द्वारा दबके, छिलके, भिदके, जलके, गर्मी, सर्दी, वर्षा, भूख, प्यास आदिकी बाधासे व सबल पशुओंसे नाशहोकर घोर त्रास उठाते हैं। पंचेन्द्रिय पशु पक्षी, मच्छादि मानवोंके द्वारा सताए जाने, मारे जाने, सबल पशुओंसे खाये जाने, अधिक बोझा लादे जाने, भूख, प्यास, गर्मी, सर्दी, आदिके दुखोंसे पीड़ित रहते हैं।

मानवोंकी अवस्था यह है कि बहुत से तो पेटभर अन्न नहीं पाते, अनेक रोगोंसे पीड़ित रहते हैं, पर्याप्त धनके विना आतुर रहते हैं, इष्टवियोग व अनिष्ट संयोगसे कष्ट पाते हैं। इच्छित पदार्थ के न मिलनेसे अधिक सम्पत्तिवान देखकर ईर्ष्या करते हैं, दूसरोंको हानि पहुंचानेके लिए अनेकषड्यंत्र रचते हैं, जब पकड़े जाते हैं कारावासके घोर दुःख सहते हैं। बहुतोंको पराधीन रहने का घोर कष्ट होता है, बड़े-२ संकटों के उठाने पर आजीविका लगती है। धन परिश्रमसे संचय हुआ जब किसी आकस्मात से जाता रहता है तो बड़ा भारी कष्ट होता है। अपने जीते जी प्रिय स्त्री, प्रियपुत्र, प्रिय मित्र आदिका मरण शोक सागर में पटक देता है। मानवों का शरीर तो पुराना पड़ता जाता है। इंद्रियें दुबली होती जाती हैं परन्तु पांचों इंद्रियों के भोगों की तृष्णा दिनपर दिन बढ़ती जाती है। तृष्णाकी पूर्ति न कर सकने के कारण यह मानव महान आतुर रहता है। यकायक मरण आ जाता है। तब बड़े कष्ट से मरता है।

चक्रवर्ती सम्राट भी जो इंद्रिय भोगोंके दास होते हुए आत्म-ज्ञान रहित होते हैं। वे भी जिन्दगी भर चिन्ता और आकुलता में ही काटते हैं अन्य साधारण मानवों की तो बात ही क्या है ? जिन-२ परपदार्थोंके संयोगसे यह मानव सुख मानता है वे पदार्थ इसके आधीन नहीं रहते उनका परिणमन अन्य प्रकार हो जाता है व उनका य ायक वियोग हो जाता है। बस यह मानव उनके वियोगसे महान दुखित होता है। देवगति में यद्यपि शारीरिक कष्ट नहीं है क्योंकि वहाँ शरीर वैक्रियक होता है जिसमें हाड़ चमड़ा, माँस, नहीं होता है उनको मानवों के समान खाने पीने की जरूरत नहीं होती है जब कभी भूख लगती है तब कंठ में अमृत झड़ जाता है, तुर्त भूख मिट जाती है। रोग शरीर में नहीं होते, कोई खेती व व्यापार करना नहीं पड़ता। शरीर के लिए किसी वस्तु की चाह करनी नहीं पड़ती मनोरंजन करने वाली देवियाँ होती हैं जो अपने हाव भाव, विलास, गान आदि से मनको प्रसन्न करती रहती हैं। तथापि मानसिक कष्ट सब जगह से अधिक होता है जो आत्मज्ञानी देव हैं उनको छोड़कर जो अज्ञानी देव हैं वे एक दूसरेको अपनेसे अधिक सम्पत्ति वाला देखकर मनमें ईर्ष्याभाव रखते हैं सदा जलते रहते हैं। भोगनेके लिए पदार्थ अनेक चाहते हैं उनके भोगने की आकुलतासे आतुर रहते हैं। देवी की आयु कम होती है देवकी आयु बड़ी होती है, बस जब कोई देवी मर जाती है तो उसके वियोगका दुःख सहते हैं, अपना शरीर छूटने लगता है तब बहुत विलाप करते हैं कि ये भोग छूटे जाते हैं क्या करें।

इस कारण देवभी मानसिक कष्टसे पीड़ित हैं। जब चारों ही गति में दुख है तब सुख कहाँ है तो आचार्य कहते हैं कि सुख अपने आत्मा में है। जो अपने आत्माको समझते हैं और उसकी शुद्ध स्वाधीन अवस्था व मोक्षके प्रेमी होकर आत्मा के अनुभव में मग्न होते हैं उनको सच्चा सुख होता है। ऐसे महात्मा चाहे जिस गति में हों सुखी रहते हैं। परन्तु ये सब महात्मा संसारी नहीं रहते हैं, वे सब मोक्षमार्गी हो जाते हैं। उनका लक्ष्यबिंदु मोक्ष होता है। वे आत्मध्यान करते हुए शुद्ध भावों का लाभ पाते हैं जिससे कर्म झरते जाते हैं और यही शुद्ध भाव उन्नति करते करते मोक्ष के भाव में हो जाते हैं। इसलिए आचार्य का उपदेश है कि आत्मीक शुद्ध भावोंकी पहचान करो जिससे यहाँ भी सच्चा सुख पाओगे व आगामी भी सुखी होगे।

श्री अमितिगति महाराज सुभाषित रत्नसंदोहमें कहते हैं—

त्यजतु युवति सौख्यं क्षान्तिसौख्यं श्रयध्वं,
विरमत भवमार्गान्मुक्तिमार्गे रमध्वम्।
जहित विषय संगं ज्ञानसंगं कुरुध्वं,
अमितिगतिनिवासं येन नित्यं लभध्वम् ॥१९॥

भावार्थ—स्त्रियोंके सुखको छोड़ो क्षमाभाव सहित शांतिमय सुखका आश्रय करो, संसारके भोगोंसे विरक्त हो मोक्षके मार्गमें रमण करो, इंद्रियोंके विषयोंका रस छोड़ो आत्मज्ञानकी संगति करो जिससे तुमनित्य अनंतज्ञान के नवमोक्षको प्राप्तकर सको—

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

आपस में ये जीव नर्क भूके दुःसह महा दुख सहें,
पशुगति में हो बाह छिदभिदमारे विश्वास पीड़ित रहैं।

नरगतिमें हो रोग इष्टबिछुड़न सुरमन जनित दुखलहै,
दुधबहुंगनि दुखजान बुद्धि अपनी शिवहेतुकर अघ दहै ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जगतके क्षणभंगुर पदार्थोंके लिए यत्न करना वृथा है।

सर्वं नश्यति यत्नतोऽपि रचितं कृत्वा श्रमं दुष्करं।
कार्यंरूपमिव क्षणेन सलिले सांसारिकं सर्वथा ॥
यत्तत्रापि विधीयते बत कुतः मूढ प्रवृत्तिस्त्वया।
कृत्ये क्वापि हि केवल श्रम करे न व्याप्रियंते बुधाः ॥८०॥

अन्वयार्थ--(सलिल) पानीमें (रूप इव) मट्टीकी पुतलीके समान (दुष्करं) कठिन (श्रमं) परिश्रम (कृत्वा) करके (यत्नतः अपि रचितं) यत्न से भी बनाया गया (सर्वं) सब (सांसारिक कार्यं) संसारका काम (क्षणेन) क्षणभर में (सर्वथा नश्यति) बिलकुल नाशहो जाता है। (यत: जब ऐसा है तब(मूढ़) हे मूर्ख (त्वया) तेरे द्वारा (तत्रापि) उसी संसारी कार्यमें ही (बत) बड़े खेद की बात है (कुतः) क्यों (प्रवृत्तिः) प्रवृत्ति (विधीयते) की जाती है ? (बुधाः) बुद्धिमान प्राणी (केवलश्रमकरे) खाली बेमतलब परिश्रम करानेवाले (कृत्ये) कार्य में (क्वापि) कभी भी (हि) निश्चय करके (न व्याप्रियन्ते) व्यापार नहीं करते हैं।

भावार्थ—जैसे मिट्टी की मूर्ति पानीमें रखने से गल जाती है वैसे संसार के जितने काम हैं वे सब क्षणभंगुर हैं। जब अपना शरीरही एक दिन नष्ट होने वाला है तब अन्य बनी हुई वस्तुओं के रहने का क्या ठिकाना ? असल बात यह है कि जगतका यह नियम है कि मूल द्रव्य तो नष्ट नहीं होते न नये पैदा होते हैं परंतु

इन द्रव्यों की जो अवस्थाएं होती हैं वे उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं। अवस्थाएँ कभी भी थिर नहीं रह सकती हैं। हम सबको अवस्थायें ही दीखती हैं तब ही यह रात-दिन जानने में आता है कि अमुक मरा व अमुक पैदा हुआ, अमुक मकान बना व अमुक गिर पड़ा, अमुक वस्तु नई बनी व अमुक टूट गई। राज्यपाट, धन, धान्य, मकान, वस्त्र, आभूषण आदि सर्व ही पदार्थ नाश होने वाले हैं। करोड़ों की सम्पत्ति क्षणभर में नष्ट हो जाती है। बड़ा भारी कुटुम्ब क्षणभरमें कालके गाल में समा जाता है, यौवन देखते-२ विलय हो जाता है, बल जरा सी देर में जाता रहता है। संसार के सर्व ही कार्य थिर नहीं रह सकते हैं। जब ऐसा है तब ज्ञानी इन अथिर कार्यों के लिए उद्यम नहीं करता है। वह इन्द्रपद व चक्रवर्तीपद भी नहीं चाहता है क्योंकि ये पद भी नाश होने वाले हैं। इसलिए वह तो ऐसे कार्यको सिद्ध करना चाहता है कि जो फिर कभी भी नष्ट न हो। वह एक कार्य अपने स्वाधीन व शुद्ध स्वभाव का लाभ है। जब यह आत्मा बन्ध रहित पवित्र हो जाता है फिर कभी मलीन नहीं हो सकता और तब यह अनन्तकाल के लिए सुखी हो जाता है। मूर्ख मनुष्य ही वह काम करता है जिसमें परिश्रम तो बहुत पड़े, पर फल कुछ न हो। बुद्धिमान बहुत विचारशील होते हैं, वे सफलता देनेवाले ही कार्यों का उद्यम करते हैं। इसलिए सुख के अर्थी जीव को आत्मानन्द के लाभ का ही यत्न करना उचित है।

सुभाषित रत्नसंदोह में अमितगति महाराज कहते हैं—

एको मे शाश्वतात्मा सुखमसुखभुजो ज्ञानदृष्टिस्वभावो।
नान्यत्किंचिन्निजं मे तनुधनकरणभ्रातृभार्यासुखादि ॥

कर्मोद्भूतं समस्तं चपलमसुखदं तत्र मोहो मुधा मे।
पर्यालोच्येति जीवः स्वहितमवितथं मुक्ति मार्गं श्रय त्वम् ।४१६

भावार्थ—मेरा तो एक अपना ही आत्मा अविनाशी सुखमई, दुःखों का नाशक, ज्ञान दर्शन स्वभावधारी है। यह शरीर, धन, इन्द्रिय, भाई, स्त्री, संसारिक सुखादि मेरे से अन्य पदार्थ कोई भी मेरा नहीं है क्योंकि यह सब कर्मों के द्वारा उत्पन्न हैं, चंचल हैं, क्लेशकारी हैं। इन सब क्षणिक पदार्थों में मोह करना वृथा है। ऐसा विचार कर हे जीव ! तू अपने हितकारी इस सच्चे मुक्ति के मार्ग का आश्रय ग्रहण कर।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

संसारिक जो काम यत्न करके करता बहुत श्रम लिए।
सो सब क्षण में नाश होत जैसे मृत्पिंड जल में दिए॥
फिर क्यों मूर्ख प्रवृत्ति व्यर्थ अपनो करता क्षणिक कार्यको।
बुधजन खूब विचार कार्य करते तजते वृथा कार्य को॥८०॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो आत्माएं कषायों की तीव्र बाधा से आकुलित हैं वे संसार में ही आशक्त रहती हैं, उनको आत्मीक शांति की परवाह नहीं रहती है।

चित्रोपद्रवसंकुलामुरुमलां निःस्वस्थतां संसृतिं।
मुक्तिं नित्यनिरंतरोन्नतसुखामापत्तिभिर्वर्जिताम्॥
प्राणी कोपि कषायमोहितमतिर्नो तत्त्वतो बुध्यते।
मुक्त्वा मुक्तिमनुत्तमामपरथा किं संसृतौ रज्यते॥८१॥

अन्वयार्थ—(चित्रोपद्रवसंकुलाम्)नाना प्रकारकी आपत्तियों से भरे हुए (उरुमलां) महा मलीन(निःस्वस्थतां)आत्मीक शांति से रहित महा आकुलतामय(संसृति)इस संसारको तथा(आपत्ति-

निर्विसाम्) सर्व आपत्तियों से रहित (नित्यनिरंतरोन्नतसुखां) व सदा ही बिना अन्तर के उच्च सुख को देने वाली (मुक्ति) मुक्ति को (कोपि) कोई भी (कषायमोहितमतिः) कषाय से बुद्धिको मूढ़ बनाने वाला (प्राणी) मानव (तत्वतो) तत्वदृष्टि से या वास्तव में (नो बुध्यते) नहीं समझता है। आचार्य कहते हैं फिर वह (अनुत्तमामुक्ति मुक्ता) ऐसी मुक्ति को जिसके समान जगत में कोई उत्तम पदार्थ नहीं है त्याग कर (अपरथा) उससे विरुद्ध (संस्तृतौ) संसार में (किं) क्यों (रज्यते) राग करता है।

भावार्थ—यहां पर आचार्य ने बताया है कि जिसकी बुद्धि बिगड़ जाती है वह हितकारी पदार्थ को छोड़कर बाधाकारी पदार्थ को लेता फिरता है। यदि किसी मूर्ख को एक हाथ से अमृत व एक हाथ से सूखी रोटी दी जावे तो अमृतको छोड़कर उस रोटी को ही ले लेता है क्योंकि उसको यह विश्वास नहीं है कि अमृत में क्या गुण है। इसी तरह अज्ञानी प्राणी को यदि श्री गुरु एक तरफ तो मोक्ष का स्वरूप बतावें, दूसरी तरफ संसार का स्वरूप बतावें और यह समझावें कि संसार जब जन्म, मरण, शोक, भय, रोग, वियोगादि उपद्रवों से रात-दिन भरा है तब मोक्ष इन सर्व आपत्तियों से बिलकुल दूर है। संसार जब मलीन व आकुलतामय है तब मोक्ष पूर्ण निराकुल व नित्य परमोत्तम सुख को देने वाला है तब भी वह मूर्ख अपनी अनादि कालीन आदत के अनुसार अनंतानुबंधी कषाय से अन्धा होता हुआ संसार ही में राग करता है। मोक्ष की तरफ बिलकुल भी अपनी रुचि नहीं पैदा करता है। यही कारण है जो अनेक जीव धर्मोपदेश को सुनते हुए भी नहीं भीजते हैं। रातदिन दूसरे प्राणियों का मरण देखते हुए भी अपने कल्याण का उपाय

नहीं करते हैं। यह सब मोह का माहात्म्य है। तथापि जिसकी समझ में यह रहस्य आ गया है कि संसार त्यागने योग्य है व मोक्ष ग्रहण करने योग्य है उसको तो फिर प्रमाद के वशीभूत नहीं होना चाहिए और निरन्तर आत्मानुभव का उद्यम करके इस लोक तथा परलोक में सुखी रहना चाहिए।

स्वामी अमितगति ने ही सुभाषित रत्नसंदोह में कहा है—

विचित्रवर्णाचितचित्रमुत्तमं यथा गतक्षो न जनो विलोकते।
प्रदर्श्यमानं न तथा प्रपद्यते कुदृष्टिजीवो जिननाथशासनम्।१४५

भावार्थ—जैसे अन्धा मनुष्य नाना प्रकार वर्णों से बने हुए सुन्दर चित्र को नहीं देख पाता है, इसी तरह नाना प्रकार उत्तम तत्वों से भरे हुए जिनेन्द्रके मत को दिखलाए जानेपर भी मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव नहीं समझ पाता है, यह सर्व मोह का तीव्र वेग है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

है संसार मलीन क्लेशकारी नाना उपद्रव भरा।
सर्व आपत्ति विहीन मोक्षशाश्वत् परमोच्च वर सुखकरा॥
है जो मोह कषाय बुद्धिधारी नहिं बूझता सत्य को।
सर्वोत्तम सुख मोक्ष छोड़ रमता संसार निःसत्यको॥८१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि बाहरी पदार्थों पर इच्छा रखने से पाप का संचय होता है।

रे दुःखौघयकारणं गुरुतरं बध्नंति पापं जनाः।
कुर्वाणा बहुकांक्षया बहुविधा हिंसापराः सत्क्रियाः॥
नीरोगत्वचिकीर्षया विदधतो नापथ्यभुक्तीरमी।
सर्वाङ्गीणमहो व्यथोदयकरं किं यांति रोगोदयं॥८२॥

अन्वयार्थ—(रे) अरे! बड़े खेद की बात है कि (जनाः)

जग के प्राणी(बहुकांक्षया)तीव्र विषय भोगों की इच्छा के वश होकर(बहुविधा)नाना प्रकार की(हिंसापराः) हिंसा को बढ़ाने वाली (षट्क्रियाः) असि, मसि, वाणिज्य, शिल्प, विद्या इन छः तरह की आजीविका सम्बन्धी क्रियाओं को(कुर्वाणाः)करते हुए (दुःखोदयकारणं)दुःखों की उत्पत्ति के कारण(गुरुतरं)ऐसे भारी (पापं)पाप कर्मको(बध्नंति)बाँधते रहते हैं(नीरोगत्वचिकीर्षया) रोग रहित होने की इच्छा करके(अमी)ये प्राणी(अपथ्यभुक्तीः) अपथ्य भोजनों को(विदधतः)करते हुए (अहो)अहो ! (किं)क्या (सर्वांगीणम्)सर्व अंग में (व्योदयकरं)कष्ट को पैदा करने वाले (रोगोदयम्) रोग की उत्पत्ति को (न यांति) नहीं प्राप्त होंगे ?

भावार्थ—यहाँ पर आचार्य ने बतलाया है कि जो सच्चे सुख की वांछा रखते हैं उनको उसका सच्चा उपाय छोड़कर उससे विरुद्ध उपाय नहीं करना चाहिए। सच्चा सुख आत्मज्ञान व आत्मध्यान से होता है, वह ध्यान परिग्रह त्यागसे भले प्रकार हो सकता है। जो सच्चे सुख को चाहकर भी दुःखों को देनेवाले पापों को नाना प्रकार आरम्भ करते बाँधते रहते हैं उनको सुख कभी प्राप्त नहीं हो सकता। जो बबूल बोता है उसको कांटे ही मिलेंगे, उसको आम के फल कभी नहीं मिल सकते हैं। जो पापों का संचय करेगा उसको दुःख ही मिलेगा उसको सुख का लाभ कैसे हो सकता है। इसपर दृष्टान्त दिया है कि जैसे कोई मानव निरोग रहना चाहे परन्तु बदहजमी करनेवाले ऐसे भोजनों को खाया करे तो फल उल्टाही होगा अर्थात् रोग मिटानेकी अपेक्षा रोग बढ़ जाएगा। रोग के बढ़ने से सारे अंग में भारी कष्टोंको भोगना पड़ेगा।

इसलिए बुद्धिमान प्राणीको सुविचार करके वही काम करना

योग्य है जो उसके काम के सिद्ध करने में बाधक न हो। सुखके लिए धर्म का सेवन करना जरूरी है।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोह में कहते हैं—

अवति निखिललोकं यः पितेवाकुलात्मा।
दहति दुरितराशिं पावकेवेन्धनौघम्॥
वितरति शिवसौख्यं हन्ति संसारशत्रुं।
विदधति शुभबुद्ध्या तं बुधा धर्ममत्र॥६९०॥

भावार्थ—बुद्धिमान लोग यहाँ उसी धर्म को शुभ बुद्धि से धारण करते हैं जो आदर किया हुआ सर्व लोगों को पिता के समान रक्षा करने वाला है, जो पापके ढेरको इस तरह जलाता है जिस तरह अग्नि ईन्धन के ढेर को जलाती है, जो संसाररूपी शत्रु को नाश करता है व जो मोक्ष के सुख को देता है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

धर तृष्णा बहु करत कार्य हिंसक षट् रूप उद्यम नये।
बांधत पाप अधार दुःखकारी, नहिं बूझते सत्य ये॥
जो चाहे नीरोगता पर भखे, भोजन बहुत कष्ट कर।
पावे रोग महान देह अपनी, पीड़े महा दोष कर॥८२॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि कर्म शत्रुओं को नाश करने से ही मोक्ष सुख प्राप्त हो सकता है—

रौद्रैः कर्ममहारिभिर्भववने योगिन्! चिरत्रैश्चिरम्।
नायं नाथमवापितस्त्वमसुखं येरूक्तकं दुःसहम्॥
तान् रत्नत्रयभावनासिलतया न्यक्कृत्य निर्मूलतो।
राज्यं सिद्धिमहापुरेऽमयसुखं निष्कंटकं निर्विश॥८३॥

अन्वयार्थ—(योगिन्) हे योगी (भयदे) इस संसाररूपी वन में (यैः) जिन (उच्चकैः) बड़े (रौद्रैः) भयानक (विचित्रैः) नाना प्रकार के (कर्ममहारिभिः) कर्मरूपी तीव्र महा शत्रुओं के द्वारा (चिरम्)अनादि काल से (त्वम्) तूने (दुःसहम्)असहनीय (असुखं) दुःख को (अवापितः) पाया है (अयं न मयं न) ऐसा कोई कष्ट बाकी रहा नहीं जो तूने न पाया हो। (तान्) उन कर्मरूपी शत्रुओं को (रत्नत्रयभावनासिलतया) सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकतारूपी आत्मज्ञान की तलवार से(निर्मूलतः)जड़ मूल से(न्यक्कृत्य) नाश करके(सिद्धिमहापुरे) मोक्ष के महान नगर में जाकर (अनघसुखं) पाप रहित आनन्द से भरे हुए (निष्कंटक) तथा सर्व बाधारहित (राज्यं) राज्य को(निविश) प्राप्त कर।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्यने बताया है कि इस जीवके साथ में अनादिकाल से कर्मरूपी शत्रुओं का सम्बन्ध चला आता है। ये कर्म बड़े भयानक हैं व नाना प्रकार का कष्ट इस संसार वन में इस मोही जीव को दे रक्खा है, कभी निगोद में कभी नर्क में, कभी पृथ्वी आदि पर्याय में, कभी कीड़ों मकोड़ों में, कभी पशु-पक्षियों में, कभी रोगी व दलिद्री मानवों में, कभी नीच देवों में जन्म करा-कराकर ऐसा कोई शारीरिक व मानसिक कष्ट बाकी नहीं रहा है जो न दिया हो। ये कर्मशत्रु बड़े निर्दयी हैं, जितना इनसे मोह किया जाता है व जितना इनका आदर किया जाता है उतना ही अधिक ये इस प्राणीको घोर दुःखों में पटक देते हैं, जबतक इनका नाश न होगा तबतक स्वाधीन आत्मीक स्वराज्य प्राप्त न होगा। इसलिए आचार्य कहते हैं कि श्रीजिनेन्द्रभगवान ने जिस अभेद रत्नत्रय की बनी हुई स्वानुभव रूपी खड्ग का पता बताया है उस खड्ग को एक मन होकर ग्रहण कर और

उसीका बल पूर्वक अभ्यास कर। इसी तलवार से कर्मों का जड़ मूल से नाश हो जाता है। वे कर्म धीरे-२ सब भाग जाते हैं। वे इस यात्री को मोक्ष नगरके जाने में विघ्न करते थे सो हट जाते हैं और यह सुगमता से मोक्ष की अनुपम राजधानी में प्रवेश करके परमोच्च अनुपम आत्मीक आनन्द का निरंतर बेखटके भोग करता रहता है।

स्वामी पद्मनंदि सद्बोध चंद्रोदय में कहते हैं कि ध्यानसे ही कर्मों का नाश होता है—

योगतो हि लभते विबंधनम् योगतोपि किल मुच्यते नरः।
योगवर्त्म विषमं गुरोर्गिरा बोध्यमेतदखिलं मुमुक्षुणा ॥२६॥

भावार्थ—योग को अशुद्ध रखने से कर्मों का बंध होता है तथा शुद्ध योग से अवश्य यह प्राणी कर्मों से छूट जाता है। यद्यपि ध्यानका मार्ग कठिन है तथापि जो मोक्षका चाहने वाला है उसको गुरु के वचनों से इस सर्व ध्यान के मार्ग को समझ लेना चाहिए।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

हे योगी हैं कर्म शत्रु दुर्गम नाना तरह रूप धर।
भववन में दुःसह जु कष्ट तुमको देते बड़े हैं प्रबल॥
रत्नत्रयमय खड्ग वेग गहकर निर्मूल उन नाश कर।
जो निष्कंटक राज्य मोक्षपुरका पावै सुखी होयकर॥८३॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो कोई आत्मोन्नति को लक्ष्य में लेकर तप करता है उसको अवश्य शुद्ध आत्माका लाभ होता है—

मंदाक्रांता वृत्त

यो बाह्यार्थं तपसि यतते बाह्यमापद्यतेऽसौ।
यस्त्वात्मार्थं लघु स लभते पूतमात्मानमेव॥

न प्राप्यंते क्वचन कलमाः कोद्रवं रोप्यमाणं—

विज्ञायेत्थं कुशलमतयः कुर्वते स्वार्थमेव ॥८४॥

अन्वयार्थ—(यः) जो कोई (बाह्यार्थं) बाहरी धन, राज्य, स्वर्ग आदि के हेतुसे (तपसि) तप करनेमें (यतते) उद्यम करता है (असौ) वह (बाह्यम्) बाहरीही पदार्थ को (आपद्यते) पाता है। (तु) परन्तु) (यः) जो (आत्मार्थं) आत्माकी सिद्धिके लिए तप करता है (सः) वह (लघु) शीघ्र (पूतम्) पवित्र (आत्मानं) आत्मा को (एव) ही (लभते) पाता है। (कोद्रवं रोप्यमाणे) कोदों यदि बोए जावें तो उनसे (क्वचन) कभी भी (कलमाः) चावल (न प्राप्यंते) नहीं मिल सकते हैं (इत्थं) ऐसा (विज्ञाय) जानकर (कुशलमतयः)निपुण बुद्धि वाले (स्वार्थम्)अपने आत्मा के कार्य को (एव) ही (कुर्वते) करते हैं।

भावार्थ—आचार्यने बताया है कि तप करनेमें अनेक गुण हैं, जो इस भाव से तप करते हैं कि हमें पुण्यबंध हो व उस पुण्य से हम बाहरी सम्पत्ति, राज्यधन, स्वर्ग आदि प्राप्त करें तो उनका भाव पवित्र व शुद्ध नहीं होता है। उनके भावोंमें शुभ भावमात्र होते हैं जिनसे वे पुण्य बाँधकर बाहरी पदार्थ प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु अपना निर्मल अविनाशी मोक्षपद है वह उनको कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए जो कोई बुद्धिमान आत्मबुद्धि के हेतुको मनमें रखकर शुद्धोपयोगी प्राप्तिके लिए आत्मध्या-नादि तप करते हैं उनको अवश्य शुद्ध आत्माका लाभ होता है, वे अवश्य मुक्त हो जाते हैं। जैसा बीज बोया जायगा वैसा फल होगा। शुभोपयोग से पुण्य बंध होता है तब शुद्धोपयोग से कर्मों का नाश होता है। यदि कोई कोदों बोवे और चाहे कि चावल पैदा हों तो कभी भी चावल नहीं मिल सकते—कोदों से कोदों

ही पैदा होगा। चावलके चाहने वालेको चावल ही बोना उचित है। प्रयोजन यह है कि ज्ञानीको तुच्छ सुखके लिए तप ऐसे महान परिश्रमको न करके मात्र आत्माधीन पवित्र सुखके लिए व सदा कालके लिए बन्धनोंसे मुक्त होने ही के लिए तप करना योग्य है। श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णवमें मोक्षप्राप्तिके लिए ज्ञानपूर्वक तप करने की शिक्षा देते हैं—

> **आत्मायत्तं विषयविरसं तत्त्वचिन्तावलीनं।**
> **निर्व्यापारं स्वहितनिरतं निर्वृतानन्दपूर्णं॥**
> **ज्ञानारूढं शमयमतपोध्यानलब्धावकाशं।**
> **कृत्वात्मानं कलय सुमते दिव्यबोधाधिपत्यम्॥२८॥**

भावार्थ—हे सुबुद्धि! अपने आत्माको स्वाधीन करके व इंद्रियोंके विषयोंसे विरक्त होकर, तत्वकी चितामें लीन होकर, संसारिक व्यापारोंसे रहित होकर व आत्महितमें तल्लीन होकर व निराकुल आनन्दमें पूर्ण होकर, ज्ञानके भीतर आरूढ़ होकर, शांतभाव, मनका दमन व तप तथा ध्यानमें प्रवृत्ति करके तू केवलज्ञानका स्वामी बन। वास्तवमें इच्छा रहित आत्मध्यान ही परमात्माके पदके लाभका उपाय है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

> **जो बाहर धन आदि हेतु तपता सो बाह्यको पावता।**
> **जो निजआत्म हेतु ध्यान करता शुचि आत्माको पावता॥**
> **जो कोदोंको बोवता नहिं कभी वह शालिको पावता।**
> **ऐसा जान विशाल बुद्धिकारी निज कार्य उर लावता॥८७॥**

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि अज्ञानी लोग धन आदि

बाहरी पदार्थों को ही अपना समझते हैं—

कांतासद्मशरीरजप्रभृतयो ये सर्वथाप्यात्मनो।
भिन्नाः कर्मभवाः समीरणचला भावा बहिर्भाविनः ॥
तैः संपत्तिमिहात्मनो गतधियो जानंति ये शर्मदां।
स्वं संकल्पवशेन ये विदधते नाकीशलक्ष्मीं स्फुटम् ॥८५॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (कांतासद्मशरीरजप्रभृतयः) ये स्त्री, मकान, पुत्र आदि पर्याय (सर्वथापि) सर्व प्रकारसे ही (आत्मनः भिन्नाः) अपने आत्मासे भिन्न हैं (बहिर्भाविनः भावाः) बाहर रहने वाले पदार्थ हैं (समीरणचलाः) तथा पवनके समान चंचल हैं—टिकने वाले नहीं हैं (कर्मभवाः) सो सब कर्मोंके उदयसे होनेवाले हैं। (इह) इस जगतमें (ये) जो (गतधियः) बुद्धि रहित प्राणी (तैः) इन ही पदार्थों से (आत्मनः) अपनेको (शर्मदां) सुख देने वाली (संपत्ति) संपत्ति (जानंति) जानते हैं (ते) वे (स्फुटम्) प्रगटपने (संकल्पवशेन) अपने मनके संकल्प से ही (स्वं) अपने पास (नाकीशलक्ष्मीं) स्वर्गकी लक्ष्मीको मानो (विदधते) प्राप्त करते रहते हैं।

भावार्थ—यहाँ पर यह दिखलाया गया है कि जो मूर्ख क्षण-भंगुर पदार्थोंके सम्बन्ध होने पर उनको अपनी सम्पत्ति मान लेते हैं वे अंतमें पछताते हैं और शोकमें ग्रसित होते हैं, जगत में स्त्री पुत्र, मित्र, बन्धुजन आदि चेतन पदार्थ तथा धन, धान्य, राज्य, ग्रह आदि अचेतन पदार्थ जब किसीको मिलते हैं तब कुछ पुण्य-कर्मका उदय होता है तब मिलते हैं और जगत के पुण्यकर्म का सम्बन्ध रहता है तब तकही उनका सम्बन्ध रहता है, पुण्यके क्षय होने पर उनका सम्बन्ध इतनी जल्दी छूट जाता है जैसे पवन

बहते हुए निकल जाती है। न तो इन पदार्थोंके सदा साथ रहने का निश्चय है और न अपना ही उनके साथ सदा बने रहने का निश्चय। क्योंकि इन बाहरी पदार्थोंका सम्बन्ध यदि है तो मात्र इस देहके साथ है, देह आयुकर्मके आधीन है अवश्य छूट जायगी तब चक्रवर्ती को भी सर्व सम्पत्ति यहीं छोड़ देनी पड़ती है। आत्मा अकेला अपने पुण्य तथा पापके बंधनको लिए हुए दूसरी गतिमें चला जाता है। इन पदार्थोंको सुखदाई मानना भी भूल है। इनके लाभ करनेमें, इनकी रक्षा करनेमें, इनके वियोग होने पर, इनके बिगड़ने पर प्राणीको खेद व दुःखही अधिक होता है, अभिप्राय यह है कि ज्ञानी जीव इनको अपने आत्माकी सुखदाई सम्पत्ति नहीं मानता है। वह ज्ञानदर्शन सुख वीर्य आदि आत्मीक गुणों को ही अपनी अटूट व अविनाशी सम्पदा मानता है, अज्ञानीका इन अनित्य पदार्थोंको अपना मानना ऐसी ही मूर्खता है जैसे कोई अपने मनमें ऐसा माना करे कि मैं तो स्वर्गका इंद्र हूँ व देव हूँ, मैं स्वर्गमें रमण कर रहा हूँ। जैसा यह संकल्प झूठा है मात्र एक ख्याल है, वैसे ही अनित्य पदार्थों को अपना मानना एक ख्याल है व भ्रम है। स्वामी पद्मनंदि अनित्यपंचाशत् में कहते हैं—

हंति व्योम स मुष्टिनाथ सरितं शुष्कां तरत्याकुल—
स्तृष्णार्तोथ मरीचिकाः पिबति च प्रायः प्रमत्तो भवन्॥
प्रोतुंगाचलचूलिकागतमरुत् प्रेंखत् प्रदीपोपमं—
यत् संपत् सुतकामिनीप्रभृतिभिः कुर्यान्मदं मानवः॥४३॥

भावार्थ—जो कोई मानव धन, पुत्र, स्त्री आदि अनित्य पदार्थोंके होते हुए इनको अपना मानकर मद करता है वह मानो

आकाशको अपनी मुट्ठीसे मारता है, सूखी नदीमें तैरता है, प्यास से घबड़ाया हुआ मृग जल को पीता है। ये सब स्त्री पुत्रादि पदार्थ इसी तरह नाश होने वाले हैं जैसे ऊँचे पर्वत की चोटी से आई हुई हवा के झोंके से दीपक की लौ बुझ जाती है। इनको अपना मानना मूर्खपना है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो दारा सुत गृह अनित्य वस्तु हैं भिन्न निज आत्मसे।
रहते बाहर देह संग चंचल हों पुण्य परताप से॥
जो मूरख संपत्ति जान उनको सुखबाध सो दुख सहे।
मानो माने बेब लक्ष्मि धरता मन बीच सोचा करें।८५।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जगतके पदार्थोंसे राग दुःखकारी है जब कि वैराग्य सुखकारी है—

मन्दाक्रांता छन्द

यद्रक्तानां भवति भुवने कर्म बंधाय पुंसां।
नीरागाणां कलिमलमुचे तद्धि मोक्षाय वस्तु॥
यन्मृत्यर्थं दधिगुडघृतं सन्निपाताकुलानां।
नीरोगाणां वितरति परां तद्धि पुष्टिं प्रकृष्टाम्॥८६

अन्वयार्थ—(भवने) इस लोक में (यद् वस्तु) जो पदार्थ (रक्तानां) रागी पुरुषोंके लिए (कर्मबंधाय) कर्मोंके बंधके लिए (भवति) होता है (तद् हि) वह ही पदार्थ (नीरागाणां) वीतरागी पुरुषों के लिए (कलिमलमुचे मोक्षाय) कर्मरूपी मलको छुड़ाकर मोक्षके लिए होता है जैसे (यत् दधिगुडघृतं) जो दही गुड़ तथा घी (सन्निपाताकुलानां) सन्निपात से व्याकुल पुरुषों के लिए (मृत्यर्थं) मरणके लिए होता है (तद् हि) वह ही (नीरोगाणां)

निरोगी पुरुष के (परां प्रकृष्टां पुष्टि) बहुत पुष्टि या शक्ति (वितरति) देता है।

भावार्थ—इस श्लोकमें आचार्य ने दिखलाया है कि परपदार्थ न बंधका कारण है न मोक्षका कारण है। असलमें राग भाव या ममताभाव कर्मबंधका कारण है और ममतारहित वीतराग भाव कर्मोंके नाशका कारण है। जिनके पास धन धान्य परिग्रह न हो परन्तु रागद्वेष या परिग्रह का ममताभाव बहुत अधिक हो तो उनके कर्मोंका बंध हो जायगा तथा जिन ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीवों के पास धनादि परिग्रह हो पर जो अपने स्वाभाविक ज्ञान व वैराग्यके बलसे उसको अपनी वस्तु नहीं जानते हों किन्तु मात्र पुण्योदयसे प्राप्त परवस्तु मानते हों उनके चित्तमें मोहभाव नहीं होता है। इससे यह परिग्रह उनके लिए अधिक कर्मकी निर्जरा का कारण है। चारित्रमोह के उदय से उनके जो अल्प रागद्वेष होता है उससे जो कर्मबंध होता है वह इतना कम है कि वह संसारके भ्रमणका कारण नहीं होता है। जबकि मोही अज्ञानी मिथ्यादृष्टी जीवके भावोंमें धनादि परिग्रह हो या न हो, जगतके पदार्थोंसे बड़ा भारी ममत्व होता है इसलिए वह बहुत अधिक बंध करता है। अज्ञानीका बंध संसारभ्रमणका कारण है। परंतु ज्ञानी का बन्ध मोक्षमें बाधक नहीं है। उस ज्ञानीके जितना-२ वीतरागभाव बढ़ता जाता है उतनी-२ अधिक निर्जरा होती जाती है। समवशरणमें बहुत रत्नोंकी व सुवर्ण आदिकी रचना होती है वहीं श्री केवली भगवान विराजमान होते हैं। केवली भगवान पूर्ण वीतराग हैं उनके उस समवशरण की विभूति से रञ्चमात्रभी कर्मोंका बंध नहीं होता है। प्रयोजन कहनेका यह है कि रागी जीवके परिग्रह बन्धका कारण है तथा वीतरागी के वह निर्जरा का कारण है। जो सम्यग्दृष्टी गृहस्थ होते हैं वह

धनादि का संचय करते हैं उनके पिछले कर्मों की निर्जरा अधिक होती है क्योंकि वे वीतरागी उनके साथ मोह नहीं रखते हैं परन्तु जितने अंश रागभाव हैं उतने अंश बहुत थोड़ा कर्मबंध होता है। यहां पर दृष्टांत दिया है कि दही गुड़ और घी ऐसे पदार्थ हैं जिनको सन्निपात वाला खा लेवे तो उसका मरण हो जावे परन्तु यदि उनको निरोगी मानव खावे तो उसको बहुत अधिक बल प्राप्त हो। एक ही वस्तु किसीको हानि का निमित्त व किसीको लाभका निमित्त होती है। इस तरह ज्ञानी को धनादि परिग्रह निर्जरा व मोक्षका कारण है जबकि अज्ञानीको वह आस्रव तथा कर्मबंध का कारण है।

तात्पर्य—यह है कि हमको वीतरागी होनेका यत्न करना चाहिए। यह वीतराग भाव पदार्थों के सच्चे स्वरूप के ज्ञान से होता है। ज्ञानकी महिमा स्वामी अमितगतिने सुभाषित रत्न-संदोह में इस तरह कही है—

ज्ञानं विना नास्त्यहितान्निवृत्तिस्ततः प्रवृत्तिर्न हिते जनानां।
ततो न पूर्वार्जितकर्मनाशस्ततो न सौख्यं लभतेप्यभीष्टम् ॥१६॥

भावार्थ—ज्ञानके विना मानवोंका अहितसे बचना व हितमें प्रवर्तना असम्भव है। बिना स्वात्महितमें प्रवृत्ति किए पूर्व कर्मों का नाश नहीं हो सकता है और बिना कर्मोंके नाशके कोई अपने इष्ट सच्चे मोक्षसुख को कभी भी नहीं पा सकता है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जग में जो जो वस्तु कर्मबंधन रागी जनोंको करें।
सो सो वस्तु विरागभाव धरके हर कर्म मुक्ती करें॥

जो बधि गुड़ घी सन्निपात धरके तनको वियोगी करे।
सो ही रोगरहित पुरुष यदि भखं अत्यन्त पुष्टी करे ।८६।

उत्थानिका—आगे कहते हैं लोभ कषाय ज्ञानी मानवों को भी संताप का कारण है—

सम्यग्दर्शनबोधसंयततप:शीलादिभाजोऽपि नो।
संक्लेशो विनिवर्तते भवभृतो लोभानलं बिभ्रतः॥
बिभ्राणस्य विचित्ररत्न निचितं दुष्प्रापपारं पयः।
संतापं किमुदन्वतो न कुरुते मध्यस्थितो वाडवः ।८७।

अन्वयार्थ—(भवभृतः) संसारमें रहने वाले प्राणीके (सम्यग्दर्शनबोधसंयमतप:शीलादिभाज:अपि)जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान संयम, तप व शील आदि गुणोंको रखने वाला भी है परन्तु यदि (लोभानलं बिभ्रतः) उसके मनमें लोभकी आग जल रही है तो उसके पाससे (संक्लेशो)संक्लेशभाव (नो विनिवर्तते)नहीं हटता है। (विचित्ररत्ननिचितं) नाना प्रकार रत्नों के समूह को व (दुष्प्रापपारं पयः) जिसका पार करना कठिन है ऐसे जल को (बिभ्राणस्य) धारण करने वाले (उदन्वतः)समुद्रके(मध्यस्थितः) बीचमें रहा हुआ (वाडवः)दावानल (किं) क्या (संतापं)संताप को या क्षोभ को (न कुरुते) नहीं करता है?

भावार्थ—यहाँ पर यह बात दिखलाई है कि लोभकषाय महान आकुलता व संक्लेशभाव का कारण है। साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या यदि कोई सम्यग्दृष्टी व ज्ञानी संयमी साधु भी हों और उनके भीतर यदि कभी प्रतिष्ठा पाने का, पूजा करने का, रस सहित भोजन पाने का इत्यादि किसी प्रकार का लोभ हो जावे तो उसके परिणाम शांत व स्वस्थ न रहेंगे।

जब यह लोभको हटाकर संतोषी व शांत होगा तब ही इसका मन क्षोभरहित होगा। जैसे समुद्रमें अगाध जल होता है व रत्न भी होते हैं परन्तु उसके मध्यमें जो बड़वानल जलती है उससे समुद्र का जल सदा क्षोभित रहता है—निश्चल नहीं ठहर सकता। यहाँ यह बताया है कि सम्यग्दृष्टी होकर भी निश्चिन्त रहना चाहिए किंतु सर्व लाभ के मैलको हटाने के लिए परिग्रह का त्याग करके निर्लोभी हो जाना चाहिए। निर्लोभी ही आकुलता रहित आत्मध्यान कर सकते हैं इसलिए लोभ कषाय को जीतना आवश्यक है।

स्वामी अमितगतिजी ने सुभाषितरत्नसंदोहमें कहा है—

> चक्रेशकेशवहलायुधभूषितोपि।
> संतोषमुक्तमनुजस्य न तृप्तिरस्ति॥
> तृप्तिं विना न सुखमित्यवगम्य सम्य—
> ग्लोभग्रहस्य वशिनो न भवंति धीराः॥७॥

भावार्थ—चक्रवर्ती, नारायण आदिकी बहुत विभूति व आयुध आदिसे विभूषित होनेपर भी यदि किसी मानवमें संतोष नहीं है तो उसको कभी तृप्ति नहीं मिल सकती है। जहाँ मनमें तृप्ति नहीं वहां कभी सुख नहीं प्राप्त हो सकता ऐसा जानकर धीर पुरुष कभी भी लोभ रूपी पिशाचके वशीभूत नहीं होते हैं।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

> सम्यग्दर्शन ज्ञान संयममयी तप शील धारे सही।
> पर मनसे तृष्णा तजे नहिं कभी संक्लेश त्यागे नहीं॥
> नाना रत्न समूह धार जलधी जलका नहीं पार है।
> बड़वानल जिसमध्य नित्य जलता संताप कर्तार है॥८७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मोहांध पुरुष परके पदार्थको अपना ही समझ लेते हैं परन्तु निर्मोही नहीं समझते :

मंदाक्रांता वृत्तम्

मोहांधानां स्फुरति हृदये बाह्यमात्मीयबुध्या ।
निर्मोहानां व्यपगतमलः शश्वदात्मैव नित्यः ॥
यत्तद्भेदं यदि विविदिषा ते स्वकीयं स्वकीयैः—
र्मोहं चित्त ! क्षपयसि तदा किं न दुष्टं क्षणेन ॥८८॥

अन्वयार्थ—(मोहांधानां) मोह से अन्धे जीवों के (हृदये) हृदयमें (बाह्यम्) बाह्य स्त्री, पुत्र शरीरादि पदार्थ (आत्मीय-बुद्धया) अपने आत्मापनेकी बुद्धिसे अर्थात् वह अपना ही है ऐसा (स्फुरति) झलकता है। (निर्मोहानां) मोह रहित पुरुषों के हृदय में (व्यपगतमलः) कर्ममैल से रहित (नित्यः) अविनाशी (आत्मा एव) आत्मा ही (शश्वत्) सदा अपनापनेकी बुद्धि से झलकता है। (चित्त) हे मन ! (यदि यत्) अगर जो (तद्भेदं) इन दोनों के भेदको (ते विविदिषा) तू समझ गया है (तदा) तब (स्वकीयैः) इन अपनोंसे अर्थात् इन स्त्री पुत्रादिसे जिनको तूने अपना मान रक्खा है (स्वकीयं) अपनेपन का (दुष्टं) दुष्ट (मोहं) मोह (किं न) क्यों नहीं (क्षणेन क्षपयसि) क्षण मात्र में नाश कर देता है।

भावार्थ—जहांतक संसारी जीवोंके हृदयमें मिथ्यात्व कर्मका उदय है कि जिससे उनके मिथ्याभाव रहता है वहां तक वे पर वस्तुको अपनी माना करते हैं। जो शरीर क्षणभंगुर है उसे अपना मान लेते हैं, फिर शरीरके सम्बन्धी संपूर्ण पदार्थों को अपना मान लेते हैं, उनकी बुद्धि बिल्कुल अंधी हो जाती है परन्तु जब मिथ्यात्व चला जाता है और सम्यग्दर्शन का प्रकाश हो जाता

है तब पदार्थों का सच्चा स्वरूप जैसा का तैसा झलक जाता है। तब यह ज्ञानी जीव मात्र एक अपने आत्मा के ही शुद्ध स्वभाव को अपना जानता है। रागादि भावोंको, आठकर्मों को व शरीरादिका व अन्य बाहरी पदार्थों को अपना कभी नहीं जानता है। वह देख करके निर्णय कर लेता है कि सर्व पदार्थ विलय होते जाते हैं। किसीका सम्बन्ध मेरे आत्मा के साथ नित्य नहीं रहता है। शरीर ही जब छूट जाता है तब दूसरे पदार्थ की क्या गिनती ? तब वह ज्ञानी अपने मनको समझाता है कि जब तू भले प्रकार जान गया है कि जगत का एक परमाणु मात्र भी अपना नहीं है तब फिर तू क्यों मूढ़ बनता है और क्यों नहीं अपनी भूलको छोड़ता है। तूने जिन शरीरादि पदार्थोंको अपना मान रक्खा है वे जब तेरे नहीं होते तब तेरा उनसे मोह करना वृथा है। तू मात्र अपने स्वामी आत्मा को ही अपना मान। वास्तव में जिनके यथार्थ निर्णय हो जाता है उनके दुर्बुद्धि नहीं पैदा होती है।

श्री अमितिगति सुभाषित रत्नसन्दोह में कहा है—

यथार्थं तत्वं कथितं जिनेश्वरैः सुखावहं सर्वशरीरिणां सदा।
निधाय कर्णे विहितार्थनिश्चयो न भव्यजीवो वितनोति दुर्मतिम्
॥१५७॥

भावार्थ—जिनेन्द्र भगवान ने सर्व शरीरधारी प्राणियों को सदा सुख देने वाले यथार्थ तत्व का कथन किया है। जो अपने कानों से सुनकर दिल में रखता है व ठीक-२ निश्चय कर लेता वह भव्यजीव फिर मिथ्याबुद्धि नहीं करता है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो मिथ्यात्वी मोह अन्धमति हो पर वस्तु निज मानता।
सम्यक्ती निजआत्म नित्य निर्मल उसको न निज जानता॥

रे मन ऐसा भेद ज्ञान करके निज आत्ममें लीन हो।
परसे अपना मोह सर्व हरले मल दुष्टसे छीन हो ॥८८॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि वीतरागी तपस्वी ही मोक्ष के अधिकारी हैं—

शार्दूलविक्रीड़ित छन्द

स्वात्मारोपितशीलसंयमभरास्त्यक्तान्यसाहाय्यकाः।
कायेनापि विलक्षमाणहृदयाः साहायकं कुर्वता ॥
तप्यंते परदुष्करं गुरुतपस्तत्रापि ये निस्पृहा।
जन्मारण्यमतीत्य भूरिभयदं गच्छंति ते निर्वृतिम् ॥८९॥

अन्वयार्थ—(स्वात्मारोपितशीलसंयमभराः) जो शील व संयमके भारसे भरे हुए अपने आत्मामें ही लीन हैं (त्यक्तान्यसाहाय्यकाः) जिन्होंने परवस्तु के आलम्बन का त्याग किया है (साहायकं कुर्वता कायेन अपि विलक्षमाणहृदयाः) जिनका मन ध्यानके साधनमें सहाय करने वाले इस शरीरसे भी उदास है ऐसे साधु (परदुष्करं गुरुतपः तप्यते) बहुत भारी कठिन तपस्या तपते हैं (तत्र अपि ये निष्पृहाः) परन्तु उस तपमें भी जो वांछा नहीं रखते हैं अर्थात् जिनका लक्ष्य निज आत्मानुभव पर है (ते) वे (भूरिभयदं) इस अत्यन्त भय देने वाले (जन्मारण्यं) संसार वनको (अतीत्य) उल्लंघन करके (निर्वृतिम्) मोक्षको (गच्छति) चले जाते हैं।

भावार्थ—यहां पर आचार्यने मोक्षके अधिकारी तपस्वियों का स्वरूप बताया है कि जो शील व संयम पालते हुए भी अपने आत्माके स्वभावमें लीन होनेको ही असली शील व संयम समझते हैं, तथा जिन्होंने अपने मनको ऐसा वश कर लिया है कि उस मनको दूसरोंकी मदद नहीं लेनी पड़ती है। शास्त्र व गुरुपदेशका

सहारा भी छोड़कर जिनका मन स्वरूपमें तन्मय है। यद्यपि इस शरीरकी ही मददसे वे अपना आत्मसाधन करते हैं तथापि इससे अत्यन्त विरागी हैं—इसका सम्बंध मिटाना ही चाहते हैं। वास्तवमें उनका सारा उद्यम इस शरीरके कारावाससे निकल कर स्वतंत्र होनेका है। शरीर को दुष्ट चाकरके समान कुछ थोड़ासा भोजनपान देकर जीवित रखते हैं। ऐसे साधु निर्जन वन, पर्वत, नदीतट, वृक्षतल आदि कठोर व दुर्गम स्थानों पर खड़े होकर या बैठकर एकाग्र मन हो आत्मध्यान करते हैं तोभी उस तपमें प्रेम नहीं रखते हैं, तप करने को वह एक सीढ़ी मात्र जानते हैं, ध्यान अपने स्वाधीन सुखके लाभमें ही रखते हैं। ऐसे वीतरागी आत्मरसी साधु महात्मा ही कर्मों की निर्जरा करके भयानक संसार-वनसे निकल कर परमानन्दमई मोक्षमें पहुंच जाते हैं।

वास्तव में आत्मानुभवी साधु ही सच्चे सुख के पात्र हैं। स्वामी अमितगति सुभाषित रत्नसंदोह में कहते हैं—

निवृत्तलोकव्यवहारवृत्तिः संतोषवानस्तसमस्तदोषः।
यत्सौख्यमाप्नोति गतान्तरायं किं तस्य लेशोपि सरागचित्तः।२३७

भावार्थ—जिसने अपनी वृत्ति को सर्वलौकिक व्यवहार से हटा लिया है, जो अत्यन्त सन्तोषी है व सर्व दोषों से रहित है, वह जैसे बाधारहित सुखको पाता है ऐसे सुखके लेश अंश को भी सराग मन वाला नहीं पा सकता है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

पर आलम्बन छोड़ आत्म रमते निज शील संयम भरे।
तप सहकारि शरीर मात्र से वैराग धारकर खड़े।

दुष्कर गुरुतर तपश्चरण करते वांछा न सपकी करे।
सो तपसी भवदाय भवबन तजें शिवनारिको आ वरें ॥८६

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि ऐसे तपसी जो पुण्य की वांछा भी नहीं रखते, बहुत दुर्लभ हैं—

पूर्वं कर्म करोति दुःखमशुभं सौख्यं शुभं निर्मितम्।
विज्ञायेत्यशुभं निर्हंतुमनसो ये पोषयंते तपः॥
जायंते शमसंयमैकनिषधयस्ते दुर्लभा योगिनो।
ये त्वत्रोभयकर्मनाशनपरास्तेषां किमत्रोच्यते ॥९०॥

अन्वयार्थ—(पूर्वं अशुभं कर्म) पहले का बांधा हुआ पाप कर्म (दुःखं) दुःखको व (शुभं निर्मितम्) शुभ कर्म बांधा हुआ (सौख्यं) सुखको (करोति) करता है (इति) ऐसा (विज्ञाय) जानकर (ये) जो (अशुभं निर्हंतुमनसः) पापकर्म को नाश करने की मनसा करके (तपः पोषयंते) तप का साधन करते हैं (ते) वे (शमसंयमैकनिधयः) शांति व संयम के एक निधिरूप (योगिनः) योगी (दुर्लभा जायन्ते) बहुत कठिनता से मिलते हैं (तु) परन्तु (ये) जो (अत्र) इस जगत में (उभयकर्मनाशन-पराः) पुण्य पाप दोनों कर्मों के नाशमें उद्यमी हों (तेषां) उन साधुओंके सम्बन्धमें (अत्र) यहां (किं उच्यते) क्या कहा जावे? अर्थात् वे तो दुर्लभ ही हैं।

भावार्थ—इस कथन से आचार्य ने बताया है कि वास्तव में वही मोक्षमार्ग है जहां पर पुण्य तथा पाप दोनोंसे विरक्त हो मात्र शुद्ध आत्माकी ओर लक्ष्य रक्खा जावे। निस्पृहपना ही एक साधु का लक्ष्य है। आत्मानन्दमें मगन रहना ही साधु का चिन्ह है। यद्यपि इस कालमें ऐसे विरले ही साधु मिलते हैं तथापि इसी रत्नत्रयमई भावको मोक्षमार्ग श्रद्धान करना चाहिए। पापकर्मों

के उदयसे जीव संसारमें दुःख पाते हुए व पुण्य कर्मों के उदय से जीव सुख पाते हुए दिखलाई पड़ते हैं। यदि यह सुख ध्रुव होता, तृप्तिकारी होता व आगामी पापबन्धकारी न होता तब तो इस सुखको भी त्यागमें योग्य न मानता। परन्तु इस सुखको महात्मा पुरुषोंने मृगजलके समान क्षोभकारी व तृष्णा वर्द्धक माना है। इस जगतमें ऐसे साधु भी कम हैं जो अर्थना भावों से करते हुए पुण्य के हेतु से तपस्या करते हैं। वे यद्यपि यथार्थ मोक्षमार्ग से पतित हैं तथापि जगत को अपकारी नहीं हैं। प्रशंसनीय तो वे ही महात्मा साधु हैं जो आत्मानंद के प्रेमी होकर आत्मा में ही रमण करते हैं। इसी भावको ग्रहण कर पाठकों को स्वात्मलाभ करके अपना हित कर्तव्य है।

श्री पद्मनंदि मुनि ने एकत्वभावनादशक में कहा है—

चेतन्यत्वसंविस्तिर्दुर्लभा सैव मोक्षदा।
लब्ध्वा कथं कथंचिच्चेच्चिन्तनीया मुहुर्मुहुः ॥४॥
मोक्ष एव सुखं साक्षात् तच्च साध्यं मुमुक्षुभिः।
संसारेव तु तन्नास्ति यदस्ति खलु तन्न तत् ॥५॥

भावार्थ—अपने चेतन स्वभाव का अनुभव दुर्लभ है परन्तु वह भी मोक्ष को देने वाला है किसी भी तरह से उसको पाकर बारबार उसका चिन्तवन करना चाहिए। मोक्षही साक्षात् सुख है, उसीका ही साधन मुमुक्षु पुरुषों को करना योग्य है। वह सुख संसार भावमें नहीं है, जो कुछ है वह वह सुख नहीं है जो आत्मीक मोक्ष का सुख होता है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

पूरब पाप करै सु दुःख बहु दे शुभ कर्म सुख देत हैं।
ऐसा लख सब अघविनाश अर्थ तप मांहि चित देत हैं॥

ऐसे योगी संयमी चितसमी दुर्लभ सु इस काल हैं।
अति दुर्लभ शुभ अशुभ हनन तपसी वे सत्य शिवसुख लहैं ॥९०

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि साधुजन सदा कर्मशत्रुओं के नाशमें उद्यमी रहते हैं—

विच्छेद्यं यदुदीर्य कर्म रभसा संसारविस्तारकम् ।
साधूनामुदयागतं स्वयमिदं विच्छेदने कः श्रमः ॥
यो गत्वा विजिगीषुणा बलवता वैरी हठाद्धन्यते ।
नाहत्वा गृहमागतः स्वयमसौ संत्यज्यते कोविदैः ॥९१॥

अन्वयार्थ—(साधूनां) साधुओंके लिए (यत्संसारविस्तारकं कर्म) जो कर्म संसारका बढ़ाने वाला है (रभसा उदीर्य) उसे शीघ्र उदय में लाकर (विच्छेद्यं) छेदना उचित है तब फिर (स्वयं उदयागतं इदं) अपने आप ही उदय में आए हुए इस कर्म को (विच्छेदने) नाश करनेमें (कःश्रमः) क्या परिश्रम है या क्या कठिनता है। (बलवता) बलवान (विजिगीषुणा) विजयको चाहने वाला पुरुष (गत्वा) जाकरके (यः वैरी) जिस शत्रुको (हठात्) बलपूर्वक (हन्यते) मारता है (असौ) वह शत्रु (स्वयम्) अपने आप ही (गृहम्) घर में (आगतः) आ गया तब (कोविदैः) बुद्धिमान (अहत्वा) बिना मारे (न संत्यज्यते) नहीं छोड़ते।

भावार्थ—आत्मा के शत्रु कर्म हैं क्योंकि ये कर्म ही बंधन में डाले हुए आत्माकी स्वाधीनताको हरण किए हुए हैं, चारों गतियों में अनेक शारीरिक व मानसिक कष्ट देनेमें कारणभूत ये कर्मरूपी शत्रु ही हैं, जो सम्यग्दृष्टी ज्ञानी महात्मा कर्मोंको अपना घातक समझ लेते हैं वे अपनी स्वाधीनता पाने के लिए उद्यमी होकर

यह चित्तमें ठान लेते हैं कि किसी भी तरह इन कर्म-शत्रुओं का सर्वनाश करना चाहिए। इसलिए घर तज वन में जाते हैं और तपस्या करके कर्मों को, जो दीर्घकाल में नाश होते, उनको शीघ्र उदयमें लाकर नाश करते रहते हैं। ऐसे साधुओंके सामने यदि कर्मशत्रु स्वयं उदय में आकर यहां तक कि उदीरणारूप बहुत अधिक उदयमें आकर उपसर्ग व परीषह द्वारा दुःख पैदा करके नाश होने लगे तो साधु उस समय बड़ा हर्ष मानते हैं व उनके नाश होने में कुछ भी अपना बिगाड़ नहीं करते। प्रयोजन यह है कि जब साधुओं को तीव्र असातावेदनी कर्म की उदीरणा से घोर उपसर्ग पड़ जावे व घोर परीषह सहना पड़े तो वे साधु उस समय अपने आत्मध्यान में निश्चल रहकर उन आए हुए कर्मशत्रुओं को क्षय होने देते हैं। उस समय यदि साधु संक्लेश भावधारी हो जावें तो नवीन असाता कर्म को बांध लेवें तब मानो उन्होंने शत्रु को नाश नहीं किया, उल्टा आप कर्मशत्रु के बन्धन में फंस गए। परन्तु सच्चे पुरुषार्थी साधु संकटों के समय उत्तम क्षमा की ढाल से अपने भावों को पवित्र व आत्मरमी रखते हैं इससे उन कर्मोंका बड़ी सुगमता से क्षयकर डालते हैं, बहुधा उपसर्ग पड़ने पर साधुओं को तुर्त केवलज्ञान हो जाता है। अभिप्राय यह है कि साधुओं को कर्मों का आक्रमण होनेपर उनको समताभावसे नाश कर डालना चाहिए, कभी भी आकुलित न होना चाहिए। उस वक्त यह ही वीरभाव धारना चाहिए कि जैसा कोई वीर योद्धा अपने मन में रखता है, किसी शत्रु को विजय करने के लिए उसको चढ़ाई करके जाना था। कारणवश वह शत्रु यदि स्वयं चढ़ करके आ गया तब वह वीर-योद्धा अपनी अकाट्य सेना द्वारा उस शत्रु का व उसके दल का नाश करने में कोई कमी नहीं करता किन्तु बिना अधिक परिश्रम के बड़ी सुगमता से उस शत्रु का नाश कर देता है।

तात्पर्य यह है कि मुमुक्षु जीवको उचित है कि सदा ही कर्म शत्रुओं को जीतने की ताक में रहे, उनके वश में आप न पड़े।

वास्तव में कषाय वैरी के नाशक ही साधु सच्चे गुरु हैं।

स्वामी अमितगति सुभाषित रत्नसंदोह में कहते हैं—

न रागिणः क्वचन न रोषदूषिता, न मोहिनो भवभयभेदनोद्यताः
गृहीतसम्यग्ज्ञानचरित्रबुद्धयो, भवन्तु मे मनसि मुदे तपोधनाः ।६८४

भावार्थ—जो न कभी रागी होते हैं न क्रोध से दूषित होते हैं न मोही हैं तथा जो संसार के भय को भेदने के लिए उद्यमी हैं व जिन्होंने सम्यग्दर्शन, ज्ञानचारित्र को धारण कर लिया है ऐसे तपस्वी मेरे मन में आनन्द के हेतु होवें।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

भववर्द्धन सर्व कर्म निर्जर करन जो शीघ्र मनसा धरे।
जो आपी से आ गया उदय में बिन श्रम यती क्षय करे॥
विजयी वीर विचारता कि आकर निज शत्रु मर्दन करे।
सो आपीसे आगया स्वघर में बुध तुर्त ही क्षय करे॥९१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि परिग्रह के त्याग बिना मोक्ष का लाभ नहीं हो सकता है—

मालिनी वृत्तम्

व्रजति मृगमधस्ताद् गृह्यमाणेऽर्थजाते।
गतभरमुपरिष्टात्तन्न संत्यज्यमाने॥
हृतकहृदय तद्वत्प्रेम यद्वत्तुलाग्रं।
बहिहि दुरितहेतुं तेन संगं त्रिधापि॥९२॥

अन्वयार्थ—(हृतकहृदय) हे शून्य हृदय ! (येन) क्योंकि (यद्वत्) जैसे (तुलाग्रं) तराजू का पलड़ा (तद्वत्) तैसे (भृशम्) बहुत अधिक(अर्थजाते गृह्यमाणे)पदार्थों को ग्रहण करते हुए यह जीव(अधस्तात् व्रजति) नीचे को अर्थात् नर्कनिगोद आदि गति को चला जाता है (तत्र संत्यज्यमाने) और जहां पदार्थों को त्याग दिया जाता है तब (गतभरम्) भार से हलका होकर (उपरिष्टात्) ऊपर को अर्थात् स्वर्ग या मोक्ष को चला जाता है (तेन) इसलिए (दुरितहेतुं) पापबन्ध का कारण (संगं) परिग्रह को (त्रिधा अपि) मन, वचन, काय तीनोंसे (जहिहि) त्याग दे।

भावार्थ—यहांपर आचार्य ने बताया है कि परिग्रहका भार इस जीव को नीच गति की तरफ ले जाने वाला है तथा परिग्रह के भार का त्याग ऊंची गति को ले जाने वाला है और इस पर तराजू का दृष्टान्त दिया है। जैसे तराजू के पलड़े पर जितना अधिक बोझा लादेंगे वह अधिक-२ नीचेको जाएगा और जितना बोझा उसमें से निकाल लेंगे उतना ही वह पलड़ा ऊंचा होता जायगा वैसे ही जितनी अधिक मूर्छा होगी उतना ही इस जीव का पतन होगा व जितनी मूर्छा कम होगी उतनी ही इस जीव की उन्नति होगी। तत्वार्थसूत्र में कहा है—"बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुष:।" बहुत आरम्भ व बहुत परिग्रह नरक आयु बन्ध का कारण है। "अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य" थोड़ा आरम्भ तथा थोड़ा परिग्रह मनुष्य आयुके आस्रवका कारण है, जो परिग्रह का प्रमाण कर के श्रावक व्रत पालते हैं वे नियम से देवगति जाते हैं, जो परिग्रह को त्यागकर ममता को हटा लेते हैं व तप करते हैं उनके यदि कषायभाव या रागभाव बिलकुल न मिटा तब तो वे साधु स्वर्गों में १६ स्वर्ग तक व नौ ग्रैवेयकों में या नव अनुदिश में व पांच अनुत्तर में चले जाते हैं। जितना-२

मूर्छारूप रागभाव या परिग्रह कम होता जाता है उतने-२ ही ऊंचे जाने लायक पुण्यकर्म बांध कर ऊंचे-२ विमान में देव, इन्द्र या अहमिन्द्र पैदा होते हैं। जिन साधुओं के रागभाव बिलकुल नष्ट हो जाता है वे उसी जन्म से अरहन्त परमात्मा होकर फिर सिद्ध परमात्मा होकर तीन लोक के ऊपर सिद्धक्षेत्र में विराजमान हो जाते हैं। सबसे अधिक मूर्छावान परिग्रही सबसे अंतिम सातवें नर्कमें जाता है जबकि परिग्रह का पूर्ण त्यागी, पूर्ण वीतरागी सीधा मुक्तिमें चला जाता है, ऐसा जानकर आचार्य कहते हैं कि—हे आत्मन् ! यदि तू सर्वोच्च पदको प्राप्त करना चाहता है और संसार की आकुलताओं से बचकर नित्य आत्मीक आनंद का स्वाद लेना चाहता है तो सबसे ममता छोड़कर एक निज शुभ स्वरूप का प्रेमी बन और उसीके मनोहर आत्म उपवन में रमण कर वृथा क्यों जगत के ममत्व में अपने को दीन हीन बना रहा है।

स्वामी अमितगति ने सुभाषितरत्नसंदोहमें कहा है कि लोभ की आग आत्मीक गुणों की घातक है—

लब्धेन्धनज्वलनवत्क्षणतोऽतिवृद्धि।
लाभेन लोभदहनः समुपैति जन्तोः॥
विद्यागमव्रततपःशमसंयमादी—
न्भस्मीकरोति यमिनां स पुनः प्रवृद्धः॥६४॥

भावार्थ—जैसे अग्नि में ईन्धन डालने से आगी क्षणभर में बढ़ती जाती है वैसे ही लोभ की आग प्राणी के भीतर लाभ के

होनेसे बढ़ जाती है। यह बढ़ी हुई लोभ की आग संयमी साधुओं के विद्या के नाश को, तप को, रस को, शांतभाव को तथा संयमादि को भस्म कर देती है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

पलड़ा भारी जात है अधोको बिन भार ऊपर रहे।
यो कोई बहु संग भार रखता सो नीचगति ही लहे॥
तज परिग्रह जंजाल होय निस्पृह सो ऊर्ध्व गति जात है।
मन वच काय सम्हार सङ्ग तज दे अघ बंध जो लात है॥६२॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि तप को पालते हुए उसे शुद्ध रखना चाहिए, मलीन न करना चाहिए।

सद्यो हन्ति दुरंतसंसृतिकरं यत्पूर्वकं पातकम्।
शुद्धयर्थं विमलं विधाय मलिनं तत्सेवते यस्तपः॥
शुद्धिं याति कदाचनापि गतधीर्नासावबद्यार्जकम्।
एकीकृत्य जलं मलाचिततनुः स्नातः कुतःशुध्यति॥६३॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो (विमलं तपः) निर्मल तप (दुरन्त-संसृतिकरं) दुःखमयी संसार को बढ़ाने वाले (पूर्वकम्) पूर्व में किये हुये (पातकं) पापको (सद्यः) शीघ्र ही (हन्ति) नाश कर सकता है (तत्) उस तपको (मलिनं) मलीन व (अवद्यार्जकम्) पापको बांधने वाला ऐसा (विधाय) करके (यः) जो कोई (शुद्धयर्थं) कर्मों के मैल से शुद्ध होने के लिए (सेवते) सेवन करता है (असौ) वह (गतधीः) निर्बुद्धि (कदाचनापि) कभी भी (न शुद्धिं याति) नहीं शुद्ध हो सकता है (मलाचिततनुः) मल से जिसका शरीर भरा हुआ है ऐसा पुरुष (जलं एकीकृत्य) जल को मैल से मिलाकर (स्नातः) स्नान करते हुए (कुतः) किस तरह (शुध्यति) मल रहित शुद्ध हो सकता है?

भावार्थ—यहाँ पर आचार्य दिखलाते हैं कि शुद्ध वीतराग भावमयी निर्मल तप से ही कर्मों की निर्जरा हो सकती है। जो कोई तप तो करे परन्तु तप को भी अभिमान सहित करे व आगामी भोगों की इच्छारूप निदान सहित करे व इस श्रद्धान को न पाकर करे कि शुभ भाव से बंध होता है तथा शुद्ध भावों से निर्जरा होती है और शुभभाव से ही मोक्ष मान ले तो ऐसा तप उल्टा कर्मों को बांधने वाला है। यह तप मलीन है, शुभ या अशुभ भाव सहित है, ऐसा तप मिथ्यात्वसहित है यदि घोर कष्ट सहकर व महीनों उपवास करके ऐसे मिथ्या तप को बहुत वर्षों तक साधन करे तो भी इस तप से बंध ही होगा, आत्मा अधिक मैला होगा। जिस हेतु से तप किया था कि मैं शुद्ध हो जाऊँ वह हेतु कभी भी पूरा नहीं होगा। परन्तु जो सम्यग्दर्शन सहित वीतरागभावों को बढ़ाता हुआ तप करेगा और शुद्धोपयोग में रमण करेगा उसके अवश्य पिछले कर्मों की बहुत निर्जरा होगी और नवीन कर्मों का बहुत संवर होगा। इसलिए शुद्धोपयोग भाव ही आत्मा को शुद्ध करने वाला है। यह विश्वास दृढ़ रखके इस भावको जगाने के ही लिए तप करना योग्य है, जो आदमी मैल से बिलकुल मैला हो रहा है उसके मैल धोने के लिए शुद्ध साफ पानी चाहिये। यदि कोई मैल से मिले हुए पानी से नहावे तो उसका मैल कभी भी शरीर से उतरेगा नहीं—और चढ़ता रहेगा। शुद्ध पानी से ही मसल-मसलकर नहाने से शरीर शुद्ध होगा, इसी तरह शुद्ध ध्यानमयी तप के अभ्यास से ही मलीन आत्मा शुद्ध होगा।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोहमें निर्मल तप साधकों की प्रशंसा करते हैं—

जीवाजीवादितत्त्वप्रगटनपटवो ध्वस्तकन्दर्पदर्पा।
निर्धूतक्रोधयोधा मुदि मथितमदा ह्यस्तविज्ञानदोषाः॥
ये तप्यन्तेऽनपेक्षं जिनगदिततपो मुक्तये मुक्तसंगा।
स्ते मुक्तिं मुक्तबाधामिमितगतिगुणाः साधवो नो दिशन्तु
॥९०९॥

भावार्थ—जो साधु जीव अजीव आदि तत्वों के जानने में चतुर हैं, जिन्होंने कामदेव के भेदको विध्वंस कर डाला है, क्रोध रूपी योद्धा को क्षय कर दिया है, आठों मदों को चूर्ण कर दिया है, अज्ञान दूर करके दोष रहित हैं, ऐसे जो साधु सर्व परिग्रह रहित होकर बिना किसी वांछा के मात्र मुक्ति के लिए आनन्द मन से जिनेन्द्र भगवान का कहा हुआ तप तपते हैं व अमर्याद ज्ञानगुण के धारी साधु हमको बाधारहित मुक्ति देवें। वास्तवमें कषायरहित ही तप सच्चा तप है ऐसे ही तपस्वी स्वयं मुक्त होते हैं और दूसरों को भवसागर से तारते हैं।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

दुखमय भवकर पूर्व पाप संचय जो शीघ्र मर्दन करे।
ऐसे निर्मल शुद्ध हेतु तप को मन मैल धरकर करे॥
सो निर्बुद्धि कुकर्म अर्जन करे नहिं कर्म से शुद्ध हो।
मलतनधारी नर मलीन जल से न्हाकर नहीं शुद्ध हो॥९३॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं भेदज्ञान द्वारा प्राप्त शुद्ध ध्यान से ही कर्मों का नाश होता है—

लब्ध्वा दुर्लभमेतयोः सपदि ये देहात्मनोरंतरम्।
दग्ध्वा ध्यानहुताशनेन मुनयः शुद्धेन कर्मेंधनम्॥

लोकालोकविलोकिलोकनयना भूत्वा त्रि लोकार्चिताः।
पंथानं कथयंति सिद्धिवसतेस्ते संतु नः सिद्धये ॥६४॥

अन्वयार्थ—(ये)जो(मुनयः) मुनि(दुर्लभभेदयोः देहात्मनो) कठिनता से भिन्न-२ किए जाने योग्य शरीर और आत्मा के (अंतरम्) भेद को (सपदि लब्ध्वा) शीघ्र पा करके तथा(शुद्धेन) शुद्ध वीतरागतामई (ध्यानहुताशनेन) आत्मध्यान की अग्नि से (कर्मेंधनम्) कर्मों के ईन्धन को(दग्ध्वा)जला करके (लोकालोक विलोकिलोकनयना)लोक और अलोकको देखने वाले केवलज्ञान नेत्र के धारी हो जाते हैं तथा (त्रिलोकार्चिताः)इस लोकके चक्र-वर्ती आदि मानव व परलोक के इन्द्रादि देव आदि के द्वारा पूजे जाते हैं (भूत्वा) ऐसे महान परमात्मा अरहंत होकर (सिद्धि-वसतेः)मोक्षरूपी वसती के (पंथानं) मार्ग को(कथयंति) बताते हैं (ते) वे (नः) हम लोगों को (सिद्धये) सिद्धि के लिए (संतु) होवें।

भावार्थ—यहां पर आचार्य ने बताया है कि भेदविज्ञान की सबसे पहले प्राप्ति करनी उचित है। आत्मा और शरीरादि कर्म ये दोनों दूध पानी की तरह मिले हुए हैं और इनका संबंध भी अनादिकाल से प्रवाहरूप चला आता है। कर्माण व तैजस शरीरों से तो यह जीव कोई क्षण भी अलग नहीं होता है, कर्मों के उदय के निमित्तसे ही अज्ञान और रागद्वेषादि भाव होते हैं, जो जिनवाणी के भले प्रकार अभ्यास के बल से अपने आत्माको बिलकुल शुद्ध परमात्मा के समान जाने और सर्व रागादि भावों को व परद्रव्यों को अपने आत्मा से भिन्न जाने तथा इस ज्ञानको बार-बार मनन कर पक्का ज्ञान प्राप्त कर ले तब उसकी बुद्धि परसे राग हटता है और अपने आत्मस्वरूप में रमणता की शक्ति

पैदा होती है, तब इसके ध्यानका अभ्यास होता है। जितना आत्मध्यानका वीतरागतारूप अभ्यास बढ़ता जाता है उतना उतना कर्मका मैल कटता जाता है। आत्मध्यानके ही अभ्यास से धर्मध्यानकी पूर्णता व शुक्लध्यानकी जागृति महान मुनियोंके जो उसी शरीरसे मोक्ष जाने वाले हैं होती है। इसी शुक्लध्यान से घातियाकर्मों को नाशकर वे केवलज्ञानी अर्हंत परमात्मा हो जाते हैं तब उनको सर्व द्रव्य अपने गुण व अनंत पर्याय सहित बिना किसी क्रमके एक ही काल में झलक जाते हैं। उस समय उनको सब ही देव, मानव, साधु, संत नमस्कार करते व पूजन करते व उनका धर्मोपदेश पानकर तृप्त होते हैं। वे उस समय उसी रत्नत्रयमई मोक्षमार्ग को बताते हैं जिसपर चलकर वे स्वयं परमात्मा सर्वज्ञ हुए हैं। आचार्य भावना भाते हैं कि हम भी ऐसे अरहंतोंके वचनों पर श्रद्धा लाकर व उन ही की तरह आत्म-ध्यानका अभ्यास कर शुद्ध हो जावें और मोक्षके अनुपम आनंद को प्राप्त कर लेवें। प्रयोजन यह है कि बिना किसी इच्छाके व मानरहित होकर जो शुद्ध आत्मध्यान करते हैं वे ही परमसुखी होते हैं। मलीन ध्यानसे कभी शुद्धि नहीं हो सकती है।

श्री पद्मनंदि मुनि परमार्थविंशति में कहते हैं—

यो जानाति स एव पश्यति सदा चिद्रूपतां न त्यजेत् ।
सोहं नापरमस्ति किंचिदपि मे तत्त्वं सदेतत्परम् ।।
यच्च न्यस्तदशेषकर्मजनितं क्रोधादिकार्यादि वा ।
श्रुत्वाशास्त्रशतानि संप्रति मनस्येतच्छ्रुतं वर्तते ।।५।।

भावार्थ—जो जानने वाला है वही देखने वाला है, वह सदा ही अपने चैतन्य स्वभावको नहीं त्यागता है। और वही मैं हूं कोई दूसरा नहीं हूं। मेरे जीव तत्त्वको छोड़कर दूसरा कोई भी

तत्व मेरा कभी भी नहीं है। मेरे आत्मस्वरूपके सिवाय जो क्रोध आदि कार्य हैं वे सब कर्मोंके द्वारा पैदा हुए हैं। सैकड़ों शास्त्रों को सुनकर मेरे मनमें यही तत्व विद्यमान है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो दुर्लभ इस आत्मदेह अन्तर लहि शीघ्र जानो भये।
वे मुनि निर्मल ध्यान अग्नि सेती अघकाष्ठ बालत भये॥
केवल नेत्र प्रकाश सर्व लखके त्रैलोक पूजित भये।
शिवमारग उद्योतकार सिद्धो हम होय भावत भये॥६४॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मुनीश्वरों का चारित्र ही आश्चर्यकारी है जो कर्मोंको नाश कर देता है—

येषां ज्ञानकृशानुरुज्ज्वलतरः सम्यक्त्ववातेरितो।
विस्पष्टीकृतसर्वतत्वसमितिर्दग्धे विपापैधसि॥
दत्तोत्प्तिमनस्तमस्ततिहृतेर्देदीप्यते सर्वदा।
नाश्चर्यं रचयंति चित्रचरिताश्चारित्रिणः कस्य ते॥६५॥

अन्वयार्थ—(येषां) जिनकी (ज्ञानकृषानुः) सम्यग्ज्ञानरूपी अग्नि (उज्ज्वलतरः) अपने प्रकाशमें बढ़ी हुई (सम्यक्त्ववातेरितः) सम्यग्दर्शनरूपी हवासे धौंकी हुई (विपापैधसि दग्धे) कर्मरूपी ईंधनको जला देने पर (दत्तोत्प्तिमनस्तमस्ततिहृतेः) व मनको आकुलित करने वाले सर्व रागादिक अंधकारको दूर कर देने पर विस्पष्टीकृतसर्वतत्वसमितिः) सर्व पदार्थों के व तत्वोंके समूहको एकही काल स्पष्ट प्रकाश करती हुई अर्थात् केवलज्ञान रूप होती हुई (सर्वदा) सदा ही (देदीप्यते) जलती रहती है (ते चित्रचरिताः) ऐसे विचित्र आचरण के (चारित्रिणः) आचरण करने वाले साधुगण (कस्य) किसके भीतर (आश्चर्यं) आश्चर्य

को (न रचयंति) नहीं पैदा करते हैं ? अर्थात् उनका चारित्र आश्चर्यकारी ही है।

भावार्थ—यहाँ फिर आचार्य ने सम्यग्ज्ञानमई आत्मज्ञानकी महिमा दिखलाई है और दिखलाया है कि ज्ञानकी सेवा करना ही चारित्र है। यह सम्यग्ज्ञानरूपी अग्नि सम्यग्दृष्टी महात्मा के भीतर प्रगट होती है, वह सम्यग्दृष्टी अपनी सम्यग्दर्शनरूपी हवा से उसे नित्य बढ़ाता रहता है। अर्थात् आत्मश्रद्धा पूर्वक आत्म-ज्ञानका ध्यान करता है। तब जितना-२ आत्मध्यान बढ़ता है उतना-२ ही कर्मकाष्ठ अधिक-२ बलता है, रागादि अन्धकार अधिक-२ दूर होता है, और ज्ञानकी आग बढ़ती हुई चली जाती है। जब यह आत्मध्यान की अग्नि चार घातियाकर्मों को जला देती है और सारे ही अंतरंग रागद्वेषके अंधेरेको मिटा देती है तब यह ज्ञानकी अग्नि अन्तिम सीमाको पहुँचकर महा विशाल केवलज्ञानरूप हो जाती है। उस समय सर्वही द्रव्य अपनें गुण व पर्यायोंके साथ एक ही काल झलक जाते हैं फिर केवलज्ञानरूपी अग्नि कभी बुझती नहीं है—सदा ही जलती रहती है। जिन्होंने ऐसे आत्मध्यानरूपी चारित्रको आचरणकर ऐसी अपूर्व ज्ञान—अग्निको प्रकाश कर डाला है उन साधुओं का ऐसा विचित्र ध्यानका परिश्रमरूप चारित्र वास्तव में साधारण मानवों के मनमें आश्चर्य उत्पन्न करने वाला है। तात्पर्य यह है कि मुमुक्षु जीवको निर्मल भेदज्ञान द्वारा आत्मज्ञानरूपी अग्निको निरन्तर जला कर उसीकी सेवाकर अपने को शुद्ध कर लेना चाहिए। पद्मनंद मुनिने परमार्थविंशति में आत्मध्यानका व आत्मतत्त्व में एकाग्र होने की भावना भाई है—

देवं तत्प्रतिमां गुरुं मुनिजनं शास्त्रादि मन्यामहे।
सर्वं भक्तिपरा वयं व्यवहृतौ मार्गे स्थिता निश्चयात् ॥

अस्माकं पुनरेकताश्रयणतो व्यक्तीभवच्चिद्गुण—
स्फारीभूतमतिप्रबंधमहसामात्मैव तत्त्वं परम् ॥१२॥

भावार्थ—जब हम व्यवहार मार्गमे चलते हैं तब हम श्री जिनेन्द्रदेव, उनकी प्रतिमा, जिन गुरु व साधुजन तथा शास्त्रादि सबकी भक्ति करते हैं परन्तु हम जब निश्चय मार्गमें आते हैं तब प्रगट चैतन्य गुण से झलकती हुई भेदविज्ञान की ज्योति जल जाती है उस समय हम एकभाव में लय हो जाते हैं तब हमको उत्कृष्ट तत्त्व एक आत्मा ही अनुभव में आता है। अर्थात् जहां शुद्ध आत्मा के सिवाय अन्य कुछ अनुभव में न आवे वहीं निश्चय आत्मध्यान है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जिनके भीतर ज्ञान अग्नि बढ़ती सम्यक्तकी पवन से।
ईंधन कर्म जलाय शोष मन सब कर दूर निज रमन से॥
उनके केवलज्ञान रूप होकर नित आप जलती रहे।
तिन मुनि पालनहार आत्मचर्या आश्चर्य करती रहे॥६५॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जब तक किंचित् भी स्नेहका लगाव रहेगा तब तक कर्मोंका नाश न होगा। इसलिए ध्यानी को वीतरागी होना चाहिए—

यावच्चेतसि बाह्यवस्तुविषयः स्नेहः स्थिरो वर्तते।
तावन्नश्यति दुःखदानकुशलः कर्मप्रपंचः कथम्॥
आर्द्रत्वे वसुधातलस्य सजटाः शुष्यंति किं पादपाः।
मृज्जत्तापनिपातरोधनपराः शाखोपशाखान्विताः ॥९६॥

अन्वयार्थ—(यावत्) जबतक (चेतसि) चित्तमें (बाह्यवस्तु-विषयः) बाहरी पदार्थ संबंधी (स्नेहः) राग (स्थिरः) थिररूप से

(वर्तते) पाया जाता है (तावत्) तबतक (दुःखदानकुशलः) दुख देने में कुशल ऐसा जो (कर्मप्रपंचः) कर्मों का जाल सो (कथ) किस तरह (नश्यति) नाश हो सकता है ? (वसुधातलस्य) जमीन के तलेके (आर्द्रत्वे) गीलेपनें के होते हुए (भृजत्तापनिरोधनपराः) अत्यन्त सूर्यके आताप को रोकनेवाले (शाखोपशाखाश्रिताः) शाखा तथा उपशाखा से पूर्ण (सजटाः) तथा जटावाले (पादपाः) वृक्ष (किंशुष्यंति) कैसे सूख सकते हैं ? अर्थात् नहीं सूख सकते हैं।

भावार्थ—कर्मरूपी वृक्ष अनेक दुःखरूपी कांटोंसे भरा हुआ है इसकी पुष्टि रागरूपी जलसे होती रहती है। जहां तक राग का जल सिंचन होता रहता है वहांतक यह कर्मरूपी वृक्ष बढ़ता जाता है। यदि कोई चाहे कि इस कर्मरूपी वृक्ष की बाढ़ न हो किन्तु यह सूखकर गिरपड़े तो उपाय यही है कि इसमें रागरूपी जल का सिन्चन बन्द किया जावे तब यह शीघ्र ही गिर जावेगा। एक वन में अनेक वृक्षों के समूह हैं जिनकी बड़ी-बड़ी शाखाएं हैं व जिन पर जटाएं हैं ये वृक्ष बराबर बढ़ते रहते हैं, जब तक इनकी जड़ों में जमीन की तरी मिलती रहती है। जब जमीन की तरी का पोषण नहीं मिलता है तब ये बड़े-२ वृक्षभी सूखकर गिर जाते हैं।

वास्तव में कर्मोंके नाशका उपाय वीतराग विज्ञानमई जिन धर्म है। अविरत सम्यग्दृष्टीको इस जिनधर्मका लाभ हो जाता है तब उसके कर्मवृक्ष की जड़ बिलकुल ढीली पड़ जाती है, अनंतानुबंधी कषायका उदय नहीं रहता है। ये ही कषाय कर्मकी जड़ को मजबूत करने वाली हैं। मात्र अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण व संज्वलन कषायका उदय संबन्धी राग है सो कर्मवृक्षमें

कुछ पुष्टि देता है परन्तु उसकी जड़ को मजबूत नहीं करता है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टी के भीतर का जो कर्मरूपी वृक्ष है वह एक न एक दिन बिलकुल सूख जायगा। जिसकी जड़ कमजोर हो गई है वह अधिक दिन नहीं चल सकता है। सम्यग्दृष्टी के भीतर पूर्ण वैराग्य इस तरह का होता है कि वह परमाणु मात्र भी परवस्तुको अपनी नहीं मानता है। उसके उदयप्राप्त कषायों के उदयसे जो कर्मबंध होता है उसको भी कर्मविकार जानता है। फिर आत्मानुभवके अभ्याससे जितना-२ राग घटता जाता है उतना-२ कर्मवृक्ष सूखता जाता है। जब वीतराग हो जाता है तब सर्व कर्मों से रहित शुद्ध हो जाता है। प्रयोजन कहने का यह है कि ज्ञानी को उचित है कि वीतराग-भावके द्वारा आत्मध्यान का अभ्यास करे।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोह में कहते हैं—

भोगा नश्यन्ति कालात्स्वयमपि न गुणो जायते तत्र कोपि।
तज्जीवैतान् विमुंच व्यसनभयकरानात्मना धर्मबुद्धया॥
स्वातंत्र्याद्येन याता विदधति मनसस्तापमत्यन्तमुग्रं।
तन्वन्त्येते नु मुक्ताः स्वयमसमसुखं स्वात्मजं नित्यमर्च्यम्॥४१२

भावार्थ—ये इंद्रियोंके भोग काल पाकर स्वयं नष्ट हो जाते हैं इनके भीतर कोई भी सार गुण नहीं मिलता है इसलिए हे जीव! तू इन आपत्ति व भयके करने वाले भोगों को आप ही अपनी धर्म में बुद्धि लगाकर छोड़ दे क्योंकि ये भोग स्वतंत्र रहते हुए मन में बड़े भारी संतापको पैदा करते हैं और यदि इनको छोड़ दिया जाय तो ये जीव स्वयं ही पूजने योग्य और नित्य ऐसे अपने आत्मीकसुख को भोगते हैं जिस सुख के समान कोई सुख नहीं है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जब तक मनमें बाह्यवस्तु इच्छा थिररूप वर्तन करै।
तब तक दुखकर कर्म जाल फंसे यह जीव चूरन करै॥
पृथ्वीतल में जलपना जु जब तक नहि सूक है सूखते।
सूरज ताप निरोध कर सुशाखा उपशाखा में लूंबते॥६६॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो विषयभोगों के लिए तप को छोड़ देते हैं वे निन्दा के योग्य हैं—

चक्री चक्रमपाकरोति तपसे यत्तन्न चित्रं सताम्।
सूरीणां यदनश्वरीमनुपमां दत्ते तपः संपदम्॥
तच्चित्रं परमं यदत्र विषयं गृह्णाति हित्वा तपो।
दत्तेऽसौ यदनेकदुःखमवरे भीमे भवाम्भोनिधौ॥६७॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो (चक्री) चक्रवर्ती (तपसे) उस तपके लिए (यत्) जो (तपः) तप (सूरीणां) साधुओं को (अनश्वरीं) अविनाशी (अनुपमां) और उपमा रहित (संपदम्) मोक्षलक्ष्मी को (दत्ते) देता है (चक्रं) चक्रवर्ती के राज्य को (अपाकरोति) छोड़ देते हैं (तत्) सो (सताम्) सज्जनों के लिए (चित्रं) आश्चर्यकारी (न) नहीं है। (यत्) जो (अत्र) इस संसार में (असौ) कोई साधु (तपः) तप को (हित्वा) छोड़ कर (विषयं) उस इंद्रिय के विषयभोग को (गृह्णाति) ग्रहण करता है (यत्) जो विषयभोग (अवरेभीमे भवाम्भोनिधौ) इस महान भयानक संसार समुद्र में (अनेकदुःखम्) अनेक दुःखों को (दत्त) देने वाला है (तत्) यह बात (परमं चित्रं) बहुत ही आश्चर्यकारी है।

भावार्थ—यहां पर आचार्य ने बताया है कि बुद्धिमान प्राणी

को उच्च और उत्तम तथा नित्य पदार्थके लिए नीच व जघन्य व अनित्य पदार्थको अवश्य त्याग देना चाहिए। चक्रवर्ती राज्य करते हैं विषय भोगते हैं परन्तु उनको विषयभोगोंसे कभी तृप्ति नहीं होती है। विषयभोग सुख ही ऐसा है कि जो तृष्णा को शान्त करने के स्थानमें और अधिक बढ़ा देता है। इसलिए वे चक्रवर्ती अपने शास्त्रज्ञान से इस बात को भले प्रकार निश्चय करते हैं कि अविनाशी व अनुपम सुख अपने आत्माके ही पास है और वह सुख आत्मध्यानसे ही हासिल हो सकता है, निराकुलता से उस आत्मध्यान को साधु महात्मा ही कर सकते हैं। इस अनुपम मोक्ष-सुखके लिए तीर्थंकरादि बड़े-बड़े राजा राज्यपाट छोड़कर साधु हो गए और साधु होकर तप साध मोक्षको पहुंच गये। ऐसा जान चक्रवर्ती भी चक्रादि सम्पदा को छोड़कर तप धारण कर लेते हैं। आचार्य कहते हैं कि इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है क्योंकि जो कोई वह काम करे जिसे सर्व बुद्धिमान लोग करते आ रहे हैं तथा जो परमोत्तम फल का कारण है तो इसमें सज्जनों को कोई अचम्भा नहीं दिखता है, यह तो उसने अपना कर्तव्य पालन किया। परन्तु आश्चर्य तो इस बात में है कि जो कोई उत्तम तप करने के लिए साधुपद की क्रियाओं को धारण करे और फिर उस साधुपद को क्षणभंगुर अतृप्तिकारी विषयभोगों के लिए छोड़ दे यह बड़े आश्चर्य की बात है। क्योंकि जिसे रत्न मिल रहे हों वह रत्न छोड़कर कांच के टुकड़ों को बटोर ले तो वह मूर्ख ही माना जायगा और उसका यह कृत्य विद्वान सज्जनों के दिलमें आश्चर्यकारी ही होगा। प्रयोजन यह है कि जो इंद्रिय के विषय जीवको भयानक भव वन में घुमाते हैं और घोरानुघोर कष्ट देते हैं उनही विषयों के पीछे अपने तप को छोड़ना उचित नहीं है। यह नितान्त मूर्खता है।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोह में कहते हैं—

ह्यपारसंसारसमुद्रतारणं न तन्वते ये विषयाकुलास्तपः ।
विहाय ते हस्तगतामृतं स्फुटं पिबन्ति मूढाः सुखलिप्सया विषं ॥
।८६८।

भावार्थ—जो इन्द्रियों के विषयों के पीछे आकुल व्याकुल रहते हैं वे इस अपार संसार समुद्र से पार उतारने वाले तपको साधन नहीं करते हैं वे मूर्ख मानो हाथ में आए हुए अमृत को छोड़कर सुख की इच्छा से विष को पीते हैं।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

चक्री तप के काज चक्र छोड़े आश्चर्य कुछ है नहीं ।
अनुपम संपत् नित्य तप जु देवे साधुजनों को सही ॥
जो तप तज के विषय भोग करते आश्चर्य भारी रहा ।
इन भोगों से दुःख घोर सहते भवदधि भयानक महा ॥६८॥

उत्थानिका—आगे आचार्य कहते हैं कि आत्मा के सिवाय सर्व बाहरी पदार्थ त्यागने योग्य हैं—

शिखरिणी छन्द

रामाः पापाभिरामास्तनयपरिजना निर्मिता बह्वनर्था ।
गात्रं व्याध्यादिपात्रं जितपवनजवा मूढ लक्ष्मीरशेषा ॥
किं रे दृष्टं त्वयास्मिन् भवगहनवने भ्राम्यता सौख्यहेतुर्येन
त्वं स्वार्थनिष्ठो भवसि न सततं बाह्यमत्यस्य सर्वं ॥६८॥

अन्वयार्थ—(मूढ़) रे मूर्ख ! (रामाः) स्त्रियें (पापाभिरामः) पापों की खान हैं अर्थात पापों को उत्पन्न कराने वाली हैं (तनय-परिजनाः) पुत्र व अन्य परिवार (बहु अनर्थाः निर्मिताः) अनेक अनर्थों के कारण हैं (गात्रं) यह शरीर (व्याध्यादिपात्रं) रोग आदि कष्टों का ठिकाना है (अशेष लक्ष्मीः) सम्पूर्ण लक्ष्मी

(जितपवनजवा) पवन के वेग से अधिक चंचल है (रे आत्मन्) हे आत्मन् (त्वया) तूने(भवगहनवने भ्राम्यता) इस संसार के भयानक वन में भ्रमण करते हुए (सौख्यहेतुः) सुख का कारण (किं दृष्टं) क्या देखा है ? (येन)जिस कारण से (त्वं) तू (सर्वं बाह्यं)सर्व बाहरी पदार्थ को(अत्यस्य) भले प्रकार त्याग करके (सततं) सदा (स्वार्थनिष्ठः) अपने आत्मा में लीन (न भवसि) नहीं होता है ।

भावार्थ—आचार्य ने दिखलाया है कि यह मोही जीव जिन-जिन सांसारिक पदार्थों को अपना माना करता है वे सब पदार्थ इस आत्मा के सच्चे हित में बाधक हैं। आत्मा का यथार्थ हित स्वात्मानुभव की प्राप्ति करके आत्मानन्द का विलास करना है और धीरे-२ कर्मबन्धनों से मुक्त होकर परमानन्द पाना है, इस वैराग्यमई कार्य में जितने भी राग के कारण हैं वे सब बाधक हैं स्त्रियों का सम्बन्ध वास्तव में गृहजंजाल का बीज है, मोह को पैदा कराने वाला है। पुत्र पुत्रियों की संतति का व उनके साथ अनेक आरम्भ परिग्रह की वृद्धि का कारण है अतएव अनेक हिंसादि पापों के निरन्तर कराने का निमित्त है, पुत्र व परिवार सर्व मोह के कारण हैं, उनके राग में फंसा हुआ प्राणी आत्महित से दूर हो जाता है। उनके निमित्त से बहुत से न करने योग्य कामोंको मोही जीव कर डालता है। शरीर का सम्बन्धभी दुःख ही का हेतु है। क्षुधातृषा तो इसके नित्य के रोग हैं। ज्वर,खांसी स्वांस, फोड़ा, फुंसी आदि अनेक रोग और इसके साथ लगे हुए हैं। जिस लक्ष्मी को पा करके ये प्राणी संतोष मानते हैं उसके रहने का बहुत कम भरोसा है। पुण्य के क्षय होते ही राज्य का भी नाश हो जाता है। क्षण मात्र में धनवान प्राणी निर्धन हो जाता है ।

ऐसी दशा में कौन सा ऐसा पदार्थ इस जगतमें है जो प्राणी को सुख का कारण हो ? वास्तव में क्षणभंगुर चेतन व अचेतन पदार्थों के साथ रहने का जब भरोसा नहीं है तब इनके निमित्त से सुखी होना मानना मात्र भ्रम है। इस संसार के भयानक वन में जिस-२ शरीर का व बाहरी पदार्थ का आश्रय लिया जावे वे सब नाशवन्त प्रगट होते हैं तब उनसे स्थायी सुख कैसे हो सकता है ? इसलिए आचार्य शिक्षा देते हैं कि हे आत्मन् ! तू अपनी भूल को छोड़ और अपना मोह सर्व ही बाहरी पदार्थों से हटा, मात्र एक अपने ही आत्मा के शुद्ध स्वरूप में लीन हो जा, इसी से तेरा भला होगा।

अमितगति महाराज सुभाषित रत्नसंदोह में कहते हैं—

श्रियोपाया प्रातःस्तृणजलचरं जीवितमिदं।
मनश्चित्रं स्त्रीणां भुजगकुटिलं कामजसुखम् ॥
क्षणध्वंसी कायः प्रकृतितरले यौवनधने।
इति ज्ञात्वा सन्तः स्थिरतरधियःश्रेयसि रताः ॥३३२॥

भावार्थ—राज्यपाटादि लक्ष्मी सब नाशवंत हैं, यह जीवन घास पर पड़े हुए ओस की बूंद के समान चंचल है, स्त्रियोंके मन की गति बड़ी बिचित्र है। काम भोग का सुख सांप की चाल के समान बड़ा टेढ़ा व सदा एक सा रहने वाला नहीं है, यह शरीर क्षण भर में नाशवन्त है तथा युवानी व धन स्वभावसे ही चंचल हैं ऐसा जानकर अति स्थिर बुद्धि के धारी संत पुरुष इन पदार्थों में रति न करके अपने आत्म कल्याण में लग जाते हैं।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

महिला संग निवास पापकारी सुत बंधु आपसि कर।
है यह तन रोगादि कष्टकारी धन सर्व थिरता बिगर ॥

रे मूरख भवबन महान भ्रमते यथा सौख्य कारण लखा।
जिससे तू सब बाह्यवस्तु तज के निज स्वार्थ में नहीं धसा ।९८

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मात्र ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त नहीं होता रत्नत्रय की जरूरत है।

सम्यक्त्वज्ञानवृत्तत्रयमनघमृते ज्ञानमात्रेण मूढा।
लंघित्वा जन्मदुर्गं निरुपमितसुखां ये यियासंति सिद्धिं ॥
ते शिश्रीषन्ति नूनं निजपुरमुदधिं बाहुयुग्मेन तीर्त्वा।
कल्पांतोद्भूतवातक्षुभितजलचरासारकीर्णान्तरालम् ॥९९॥

अन्वयार्थ—(ये मूढाः) जो मूर्ख पुरुष (अनघं) निर्दोष (सम्यक्त्वज्ञानवृत्तत्रयम्) सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन रत्नों के (ऋते) बिना (ज्ञानमात्रेण) अकेले एक ज्ञान से (जन्मदुर्गं) संसार के किले को (लंघित्वा) लांघकर (निरुपमितसुखांसिद्धिं) अनुपम सुख को रखने वाली सिद्धि को (यियासंति) पाना चाहते हैं (ते) वे (नूनं) मानो (बाहुयुग्मेन) अपनी दोनों भुजाओं से (कल्पांतोद्भूतवातक्षुभितजलचरासारकीर्णान्तरालम् उदधिं) कल्पांतकाल की पवनसे उद्धत तथा जलचरोंसे भरे हुए समुद्र को (तीर्त्वा) तर करके (निजपुरम्) अपने स्थान को (शिश्रीषन्ति) जाना चाहते हैं।

भावार्थ—यहां आचार्य ने दिखलाया है कि मोक्ष का उपाय रत्नत्रय की एकता है। मार्ग को जान लेने मात्र से ही कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। जो ऐसा मानते हैं कि हमने आत्माको पहचान लिया है अब हमें कुछभी चारित्र पालनेकी आवश्यकता नहीं है, हम चाहे पाप करें चाहे पुण्य करें हमें बंध नहीं होगा, वे ऐसे ही मूर्ख हैं जैसे वे लोग मूर्ख हैं जो यह चाहें कि हम अपनी

भुजाओं से उस समुद्र को पार करके चले आवेंगे जो कल्पकाल की घोर पवन से डावांडोल है व जहां अनेक मगरमच्छ आदि भयानक जंतु भरे हुए हैं। प्रयोजन कहने का यह है कि सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनोंकी एकताकी जरूरत है। लौकिक में भी हम देखते हैं कि यदि किसीको कोई व्यापार करना होता है तो वह पहले उसकी रीतियोंको समझता है और उसपर विश्वास लाता है फिर जब उस विश्वास सहित ज्ञान के अनुसार उद्योग करता है तबही व्यापार करनेका फल पा सकता है इसी तरह हमको जानना चाहिए कि आत्मध्यानही मोक्षमार्ग है, इसी बात को मनन करने से जब मिथ्यात्व का परदा हट जाता है तब सम्यग्दर्शन पैदा हो जाता है अर्थात् आत्मप्रीति स्वानुभवरूप जागृत हो जाती है। उसी समय उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नाम पाता है इतने से ही काम न चलेगा ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव को आत्मध्यान का अभ्यास करना होगा। मन को निराकुल करने के लिए श्रावक या मुनिका चरित्र पालना होगा जहां श्रद्धान ज्ञान सहित आत्मस्वरूप में रमणता होती है वहीं स्वानुभव या आत्मध्यान पैदा होता है। यही ध्यान मोक्ष का मार्ग है, यही कर्मों की निर्जरा करके आत्मा को शुद्ध करता है। इसलिए मात्र जानने से ही कार्य बनेगा इस बुद्धि को दूर कर श्रद्धान व ज्ञान सहित चारित्र को पालना चाहिए।

अमितगति महाराज ने सुभाषित रत्नसंदोह में कहा है—

सद्दर्शनज्ञानतपोदमाढ्यश्चारित्रभाजः सफलाः समस्ताः।
व्यर्थाश्चरित्रेण विना भवन्ति ज्ञात्वेह सन्तश्चरिते यतन्ते ।२४२
कषायमुक्तं कथितं चरित्रं कषायवृद्धावुपघातमेति ।
यदा कषायः शममेति पुंसस्तदा चरित्रं पुनरेति पूतम् ॥२४३॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा तप व इन्द्रियदमन सहित जो जीव चारित्र को पालने वाले हैं वे सर्व ही सफलता को पा लेते हैं क्योंकि चारित्र के बिना उन सबका होना व्यर्थ है ऐसा जानकर संत पुरुष चारित्रका यत्न करते हैं। चारित्र वही है जहां कषाय न हो। कषाय की वृद्धि से चारित्र का नाश हो जाता है। जब कषाय शांत होती है तब ही आत्मा के पवित्र चारित्र होता है।

जो मूढ़ इक ज्ञान मात्रसे ही भव दुर्ग लांघन चहे।
निर्मल दर्शनज्ञान वृत्त बिनगहि निजसुख प्रकाशन चहे॥
ते मानो युग बाहु सेहि तरकर निजथान आना चहें।
जो सागर कल्पांत वायु उद्धत जलचर महा भर रहे॥९९॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो साधु रत्नत्रय सहित तप करते हैं उनही का जीतव्य सफल है।

शार्दूलविक्रीडितं

ये ज्ञात्वा भवमुक्तिकारणगणं बुद्ध्या सदा शुद्धया।
कृत्वा चेतसि मुक्तिकारणगणं त्रेधा विमुच्यापरम्॥
जन्मारण्यनिसूदनक्षमभरं जैनं तपः कुर्वते।
तेषां जन्म च जीवितं च सफलं पुण्यात्मनां योगिनां॥१००

अन्वयार्थ—(ये)जो मुनिगण(सदा)सदाही(शुद्धया-बुद्ध्या) निर्मल बुद्धि के द्वारा(भवमुक्तिकारणगणं) संसारके कारणोंको और मोक्षके कारणों को (ज्ञात्वा) जान करके(त्रेधा)मन, वचन काय तीनोंसे(अपरं)इस जो संसारके कारण हैं उनको(विमुच्य) त्याग करके (चेतसि) अपने चित्तमें (मुक्तिकारणगणं) मोक्ष के कारण रत्नत्रयको(कृत्वा)धार करके(जन्मारण्यनिसूदनक्षमभरं)

संसाररूपी वन के नाश करने को समर्थ ऐसे (जैनं तपः) जैनके तप को (कुर्वते) साधते हैं (तेषां पुण्यात्मनां योगिनां) उन्हीं पवित्र आत्मा योगियों का (च) ही (जन्म) जन्म-जन्म (च जीवितं) और जीवन (सफलं) सफल है।

भावार्थ— यहां आचार्यने यथार्थ मोक्षपर चलनेवाले तपस्वी योगियों की महिमा कही है, वास्तव में यथार्थ बात यही है कि बिना किसी माया, मिथ्या या निदान शल्य के एक मुमुक्षु को अपनी बुद्धि निर्मल करके शास्त्रका अभ्यास और गुरुका सेवन तथा स्वानुभव पूर्ण युक्ति के बलसे यह भले प्रकार निश्चय कर लेना चाहिए कि मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याचारित्र तो संसार के कारण हैं तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र मुक्ति के कारण हैं। फिर उसे उचित है कि संसार के कारणों को मन, वचन, काय से भले प्रकार छोड़ दे और रुचि-पूर्वक सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्रको ग्रहण करे। निश्चय से इन तीनों की एकतामें जो भाव पैदा होता है उसको स्वानुभव कहते हैं। इस स्वानुभव को करते हुए जो जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए बारह प्रकार के तपों को या मुख्यता से धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान को ध्याते हैं वे ही उन कर्मों की निर्जरा करने को समर्थ हो सकते हैं जो कर्म इस जीवको संसार के भयानक वन से भ्रमण करने वाले हैं, ऐसे ही पवित्र महात्मा योगी इस भवसागर को पार करके सिद्धवास को शीघ्र पा लेते हैं। ऐसे ही योगियोंका जन्म भी सफल है तथा जीना भी सफल है। सच्चे धर्म की नौका जिनको नहीं मिलती है वे भव समुद्र में भटक-भटककर अपना जीवन पूरा करते हैं। रत्नत्रयमई जहाज का मिलना वास्तवमें दुर्लभ है, जिनको मिल जावे उनको प्रमाद

छोड़कर इसी पर चढ़ करके शिव महलमें जा पहुंचना चाहिए।

स्वामी अमितगति सुभाषित रत्नसंदोह में कहते हैं-

विनिर्मलं पार्वणचंद्रकांतं यस्यास्ति चारित्रमसौ गुणज्ञः।
मानी कुलीनो जगतोऽभिगम्यः कृतार्थजन्मा महनीयबुद्धिः।२३९

भावार्थ—जिस पुरुष के अत्यन्त निर्मल पूर्णमासी के चंद्रमा के समान चारित्र होता है वही गुणवान है, वही माननीय है, वही कुलीन है वही जगतमें वन्दनीय है, उसीका जन्म सफल है तथा वही महान बुद्धिका धारी है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो नित निर्मल बुद्धिधार समस्त संसार शिव हेतु को।
छोड़ भव के हेतु तीन सेतो चित राखि शिव हेतु को॥
साधे ज्ञान तपं जु नाशकर्त्ता संसार वन भर्म को।
शुचि योगी जीतव्य जन्म अपना करते सफल धर्म को॥१००॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि विषयसेवन विष खाने के समान है—

शार्दुलविक्रीडित छन्द

यो निःश्रेयसशर्मदानकुशलं संत्यज्य रत्नत्रयम्।
भीमं दुर्गमवेदनोदयकरं भोगं मिथः सेवते॥
मन्ये प्राणविपर्ययादिजनकं हालाहलं वल्भते।
सद्यो जन्मजरांतकक्षयकरं पीयूषमत्यस्य सः॥१०१॥

अन्वयार्थ—(यः)जो कोई(निःश्रेयसशर्मदानकुशलं) मोक्ष के सुख देने में चतुर ऐसे (रत्नत्रयम्) रत्नत्रय को (संत्यज्य) छोड़ करके (भीमं दुर्गमवेदनोदयकरं)भयानक और अचिन्त्य वेदनाको पैदा करने वाले(भोगं)भोग को(मिथः)एकांत में छिपके(सेवते)

सेवन करता है (मन्ये) मैं ऐसा मानता हूँ कि (सः) वह (जन्म-जरांतकक्षयकरं) जन्म जरा मरण को क्षय करने वाले (पीयूषं) अमृतको (प्रत्यस्य) छोड़कर (सद्यः) शीघ्र ही (प्राणीविपर्यादि-जनकं) प्राणों के घात करने वाले (हालाहलं) हालाहल विषको (वल्भते) पीता है।

भावार्थ—यहां आचार्य ने बताया है कि सच्चा सुख आत्मा में ही है और वह अपने आत्मा के सच्चे स्वरूपके श्रद्धान, ज्ञान व चारित्रसे अर्थात् स्वात्मानुभवसे अनुभव में आता है। इसी निश्चयरत्नत्रयके द्वारा मोक्षदशामें अनंत आत्मीक सुख प्राप्त होता है। इस सुखके सामने इंद्रिय भोगों का सुख ऐसा ही है जैसे अमृत के सामने विष। जैसे अमृतके खाने से क्लेश मिटता व पुष्टि आती है वैसे आत्मीक सुखके भोगसे जन्म, जरा, मरण के रोग मिट जाते हैं और यह जीव अविनाशी अवस्था में बना रहता है। जैसे विष हालाहलके पीनेसे महाकष्ट होता है तथा प्राणोंका वियोग हो जाता है वैसे विषयभोगों के करनेसे पापकर्म का बन्ध होता है जिसके उदयसे नाना प्रकारके दुःख भविष्य में प्राप्त होते हैं इसलिए यह शिक्षा दी जाती है कि इंद्रियविषय-भोगोंकी लालसा छोड़कर एक आत्मीक सुखके लिए आत्मानु-भव करना जरूरी है।

आत्मीक सुखके भोगमें वीतरागता रहती है जिनसे कर्मों की निर्जरा होती है जबकि इंद्रियभोगोंमें अवश्य तीव्र रागभाव करना पड़ता है जिससे पापकर्मोंका बन्ध हो जाता है। वर्तमान में इंद्रिय सुख जब तृष्णाको बढ़ाने वाला है तब आत्मीक सुख परम सन्तोष को व सुख शांति को देने वाला है। आत्मीक सुख स्वाधीन है जब कि इंद्रिय सुख पराधीन है। सम्यग्दृष्टी को

विषयों की इच्छा छोड़कर आत्म सुख का ही उद्यम करना चाहिए।

स्वामी अमितगति सुभाषित रत्नसंदोह में कहते हैं—

सुखं प्राप्तुं बुद्धिर्यदि भवति मुक्तिवसतौ ।
हितं सेवध्वं भो जिनपतिमतं पूतरचितम् ॥
भजध्वं मा तृष्णां कतिपयदिनस्थायिनि धने ।
यतो नायं सन्तः कमपि मृतमन्वेति विभवः ॥३२९॥

भावार्थ—यदि मुक्ति के स्थान में निर्मल सुख पाने की तेरी बुद्धि हो तो हे भाई ! हितकारी व पवित्र जिनमत का सेवन कर। कुछ दिन साथ रहने वाले धनादि में तृष्णा न कर क्योंकि यह लक्ष्मी होती हुई भी किसीके साथ मरने पर नहीं जाती है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो शिव सुख दातार रत्नत्रयको भ्रमभावसे छोड़ता।
भयदायक अत्यन्त दुःखकारी इन्द्रिय विषय भोगता ॥
मैं मानूं सो जन्म मृत्यु क्षयकर पीयूषको त्यागता।
जीवन कारण प्राण घातकर्ता हालाहलं पीवता ॥१०१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि दुःख सुख में जो समता धारण करते हैं उनको नया कर्मबन्ध नहीं होता—

हरिणी छन्द

भवति भविनः सौख्यं दुःखं पुराकृतकर्मणः।
स्फुरति हृदये रागो द्वेषः कदाचन मे कथम् ॥
मनसि समतां विज्ञायेत्थं तयोर्विदधाति यः।
क्षपयति सुधीः पूर्वं पापं चिनोति न नूतनम् ॥१०२॥

अन्वयार्थ—(पुराकृतकर्मण:) पिछले बांधे हुए कर्मों के उदय से (भविन:) इस संसारी प्राणीके (सौख्यं दु:खं) सुख तथा दु:ख होता है। तब (मे हृदये) मेरे हृदय में (कथम्) किस लिए (कदाचन) कभी भी (राग: द्वेष:) राग या द्वेष (स्फुरति) प्रगट होगा (इत्थं) ऐसा (विज्ञाय) समझकर (य:) जो कोई (मनसि) मनके भीतर (तयो:) उन दोनों सुख तथा दु:ख में (समता) समभाव को (दधाति) धारण करता है (सुधी:) वह बुद्धिमान (पूर्वं पापं) पहले के पापको (क्षपयति) क्षय करता है (नूतनम्) नए पापको (न चिनोति) नहीं बांधता है।

भावार्थ—यहां पर आचार्यने बताया है कि ज्ञानीको उचित है कि कर्मोंके उदयमें समताभाव कोधारण करें। ज्ञानी सम्यग्दृष्टी यह बात अच्छी तरह जानते हैं कि पूर्वकृत पुण्यके उदय से सुख तथा पाप के उदय से दु:ख होता है। तथा कर्मों का उदय सदाकाल एकसा नहीं रहता है, यह अवश्य अनित्य है। विनाशीक वस्तु में राग व द्वेष करना वृथा है। समताभाव से सुख तथा दु:खको भोग लेना चाहिए, जो कोई सुख की अवस्था होने पर उन्मत्त तथा दु:खोंके होने पर क्लेशित नहीं होते उनके पूर्व के बांधे कर्मों की तो निर्जरा हो जाती है तथा नवीन कर्म नहीं बंधता है। कर्मों की निर्जरा होनेका बड़ा भारी उपाय समभाव सहित जीवन बिताना है। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी की रुचि अपने आत्मा के स्वभाव पर रहती है। वह आत्मा के आनन्द का ही प्रेमी होता है। उसका अपनापना अनन्त ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमई सम्पदा से ही रहता है। वह मानव सर्व जगत के पदार्थों से उदास है। यही कारण है तो ज्ञानी मोक्षमार्गी है जब कि अज्ञानी संसार में भ्रमण करने वाला है।

अमितगति महाराज सुभाषित रत्नसंदोह में ज्ञानकी महिमा बताते हैं।

ज्ञानाद्धितं वेत्ति ततः प्रवृत्तो रत्नत्रयं संचितकर्ममोक्षः।
ततस्ततः सौख्यमबाधमुच्चैस्तेनात्र यत्नं विदधाति दक्षः ॥१८४

भावार्थ—यह जीव ज्ञान के ही प्रताप से अपने हित को समझता है तब उसकी प्रवृत्ति रत्नत्रय धर्म में होती है। धर्म के सेवन से पूर्व बांधे कर्मों की निर्जरा हो जाती है तब बाधारहित सुख प्राप्त होता है इसलिए चतुर पुरुष सम्यग्ज्ञान के सदा यत्न करते रहते हैं। तत्वज्ञान की प्राप्ति के लिए हित कर्ता को उचित है कि श्री जिनेन्द्र कथित ग्रन्थों का पठन मनन, सदा करते रहें।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

पूरब कृत कर्मानुसार जियको सुख दुःख होता रहे।
मेरे मन में राग द्वेष क्या हो ज्ञानी विवेकी रहे॥
ऐसा जान जु साम्य भाव रखते निज तत्वको जानते।
काटे पूरब पाप शुद्ध युत ते नूतन नहीं बांधते ॥१०२

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि कषाय सहित तप कर्मों की निर्जरा न करके कर्मों का बांधने वाला है—

क्षपयितुमनाः कर्मानिष्टं तपोभिरनिंदितैः।
नयति रभसा वृद्धि नीचः कषायपरायणः॥
बुधजनमतः किं भेषज्यैर्निसूदितुमुद्यतः।
प्रथयति गदं तं नापथ्यात्कदर्थितविग्रहम् ॥१०३॥

अन्वयार्थ—(आनन्दितैः) उत्तम (तपोभिः) तपों के द्वारा (अनिष्टं कर्म) अहितकारी कर्मको (क्षपयितु मनाः) नाश करने की मनसा रखता हुआ (नीचः) नीच मनुष्य (कषायपरायणः)

क्रोधादिक कषायोंमें लीन होता हुआ (रभसा) शीघ्र ही (वृद्धि नयति) कर्मोंको और अधिक बढ़ा लेता है जैसे (बृद्धजनमतैः) बुद्धिमानोंके द्वारा सम्मत (भेषज्यैः)औषधियोंसे(कदाचितविग्रहम्) शरीरको दुःखदाई (गदं)रोगको (निसूदितुम्) नाश करनेके लिए (उद्यतः) उद्यमी पुरुष (अपथ्यात्) अपथ्य सेवन करने से (तं) उस रोगको (किं न) क्या नहीं (प्रथयति) बढ़ा लेता है।

भावार्थ—यहां पर भी आचार्यने यही दिखलाया है कि कर्मों के नाश करने की मुख्य औषधि वीतरागभाव है। जितना भी बाहरी व अंतरंग तप किया जाता है उस सबका हेतु कषायोंका घटाव व वीतरागभावका झलकाव है। जो कोई तपस्वी होकर अनेक प्रकार शरीरको कष्टकारी तपको करे परन्तु कषायोंका दमन न करे, शांत भाव को न प्राप्त करे तो उसके कर्मों की निर्जरा न होगी। उल्टा और अधिक कर्मोंका बंध हो जायगा। क्योंकि बंधका कारण कषाय परिणामोंमें विद्यमान है। यहां पर दृष्टांत देते हैं कि जैसे किसीको बहुत कठिन रोग हो रहा है और वह अच्छे प्रवीण वैद्यकी बताई हुई औषधि ले रहा है परंतु रोग वृद्धि के कारण जो अपथ्य या बद परहेजी है उसको नहीं त्याग रहा है तो वह कभी भी रोग से मुक्त न होगा—उल्टा रोग को बढ़ाएगा। प्रयोजन यह है कि वीतरागभावों की प्राप्तिका सदा उद्यम करना चाहिए तथा ध्यान ही मुख्य तप है वह आत्मानुभवके समय पैदा होता है, जहाँ अवश्य वीतरागता रहती है। सम्यग्दृष्टी का तप ही सच्चा तप है। मिथ्यात्व सहित महान तप करता हुआ भी संसारका मार्गी है—मोक्षमार्गी नहीं है।

मुमुक्षु जीव को इसलिए वीतराग भाव पर ही लक्ष्य रखके

उसकी ही प्राप्ति का उपाय करना चाहिए।

श्री ज्ञानार्णव में शुभचन्द्र मुनि कहते हैं—

रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागो विमुच्यते।
जीवो जिनोपदेशोऽयं समासाद्बंधमोक्षयोः ॥
नित्यानन्दमयीं साध्वीं शाश्वतीं चात्मसंभवाम्।
वृणोति वीतसंरंभो वीतरागः शिवश्रियम् ॥८४॥

भावार्थ—रागी जीव कर्मोंको बाँधता है जब कि वीतरागी कर्मों से छूटता है ऐसा संक्षेप से जिनेन्द्र भगवान का उपदेश बंध तथा मोक्ष के सम्बंधमें जानना चाहिए। जो आरम्भ का त्यागी वीतरागी साधु है वही नित्य आनन्दमयी, उत्तम, अविनाशी, आत्मा से ही उत्पन्न मोक्षलक्ष्मी को वरता है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो चाहे निज दुष्ट कर्म हनना निर्मल तपस्या करे।
परसो नीच कषाय भाव रत हो निज कर्म बर्द्धन करे॥
जो चाहे तन दुःखदाय गदको हनना सु औषधि करे।
पर त्यागे न अपथ्य खाद्य सो नर निज रोग वर्द्धन करे॥१०३

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो साधु शरीर की रक्षा के लिए आहार मात्र लेते हुए लज्जा पाते हैं वे वस्त्रादिक परिग्रह को कैसे स्वीकार करेंगे ?

शार्दूलविक्रीडित छन्द

सद्रत्नत्रयपोषणाय वपुषस्त्याज्यस्य रक्षापराः।
दत्तं यैरशनमात्रकं गतमलं धर्मार्थिभिर्व्रातृभिः॥
लज्जंते परिगृह्य मुक्तिविषये बद्धस्पृहा निस्पृहा—
स्ते गृह्णन्ति परिग्रहं वसधरा किं संयमध्वंसकम् ॥१०४॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (मुक्तिविषये) मोक्ष के सम्बंध में (बद्धस्पृहा) अपनी उत्कंठा को बांधने वाले (निस्पृह) संसारीक इच्छाके त्यागी हैं और (सद्रत्नत्रयपोषणाय) सच्चे रत्नत्रय धर्म को पालनेके लिए (त्याज्यस्य) त्यागने योग्य (वपुषः)इस शरीर की (रक्षापराः) रक्षामें तत्पर हैं और जो (धर्मार्थिभिः)धर्मात्मा (दातृभिः) दातारों से (दत्तं) दिए हुए (गतमलं) दोष रहित (अशन मात्रकं) भोजन पात्रको (परिग्रहं)ग्रहण करके (लज्जंते) लज्जाको प्राप्त होते हैं (ते दमधराः) वे संयमके धारी यति(किं) क्या (संयमध्वंसकम्) संयम को नाश करने वाली (परिग्रहं) परिग्रह को (गृह्णन्ति) ग्रहण करते हैं।

भावार्थ—यहां आचार्य ने बताया है कि जैनधर्म को यथार्थ पालने वाले साधुजन कभी भी परिग्रह को ग्रहण नहीं करते हैं। धन, धान्य आदि परिग्रह हिंसादि आरम्भ का कारण है जिसने महाव्रत रूप साधुसंयम नहीं पाल सकता है। इसीलिए साधुजन सर्व परिग्रहको त्याग कर ही मुनि होते हैं। वे परिग्रहको ममता का निमित्त कारण जानते हैं। ऐसे साधुओंको किसी भी इंद्रिय भोगकी कोई इच्छा नहीं होती है। वे मात्र कर्मों से मुक्ति ही चाहते हैं। उनकी रातदिन भावना यही है कि हम आत्मध्यान करके कर्मोंको काटकर मुक्त हो जावें, ऐसे साधु संयम पालने के लिए ही इस शरीर की रक्षा करना चाहते हैं। इसलिए वे ऐसा ही भोजनपान शरीरको देते हैं जिसे धर्मात्मा श्रावकों ने भक्ति पूर्वक दिया हो। तथा जिसमें उद्दिष्ट आदिका कोई दोष न हो। ऐसे भोजनको लेते हुए भी उनको लज्जा आती है और रातदिन यह भावना भाते हैं कि इस शरीरकी पराधीनता मिटे और यह आत्मा निराकुल भाव में तल्लीन हो ऐसे साधु कभी भी धन धान्यादि परिग्रहको जिसे वे संयममें बाधक जानकर त्याग कर

चुके, ग्रहण नहीं करते हैं। वे साधु अपनी प्रतिज्ञा में अटल रहते हुए रात्रि दिन तत्त्वज्ञान की भावना भाते हैं। और पूर्ण वीत-रागताके लाभके लिए उद्यम करते रहते हैं। तात्पर्य यह है कि परिग्रहका त्याग ही उत्तम ध्यानका साधक है इस बातको कभी भूलना न चाहिए।

ज्ञानार्णव में श्री शुभचन्द्र मुनि कहते हैं—

रागादिविजयः सत्यं क्षमा शौचं वितृष्णता।

मुनेः प्रच्याव्यते ननं संगैर्व्यामोहितात्मनः ॥१४॥

भावार्थ—जिस मुनि का चित्त परिग्रहों से मोहित हो जाता है उसके रागादि का जीतना, सत्य, क्षमा, शौच, और तृष्णा रहितपना आदि गुण नष्ट हो जाते हैं।

परिग्रह को मूर्छा का निमित्त कारण जानकर साधुजन उसे कभी भी ग्रहण नहीं करते हैं।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो साधू नित मोक्ष उद्यम करें संसार नहिं चाहते।
रत्नत्रय वश हेतु हेय तनको शुचि मुक्ति दे राखते॥
धर्मी दाता दत्त खाद्य लेते मनमाहिं लज्जा धरें।
सो यतिगण संयम विराधकर्ता परिग्रह न अंगी करें॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि यथार्थ तत्त्व के ज्ञाता जगत में दुर्लभ हैं—

ये लोकोत्तरतां च दर्शनपरां दूतीं विमुक्तिश्रियो।

रोचन्ते जिनभारतीमनुपमां जल्पंति शृण्वन्ति च॥

लोके भूरिकषायदोषमलिने ते सज्जना दुर्लभाः ।
ये कुर्वन्ति तदर्थमुत्तमधियस्तेषां किमत्रोच्यते ॥१०५॥

अन्वयार्थ—(भूरिकषायदोषमलिने लोके) तीव्र कषायों के दोष से मलीन ऐसे इस जगत में(ये सज्जनाः)जो सज्जन (विमुक्तिश्रिये)मोक्षरूपी लक्ष्मीके मिलाने के लिए(दूतीं)दूतीके समान (च)और(लोकोत्तरता)लोक से तरनेका मार्ग बताने वाली तथा (दर्शनपरां)सम्यग्दर्शन को दिखाने वाली (अनुपमां) व जिसकी उपमा जगत में नहीं हो सकती है ऐसी (जिन भारतीम्) जिनवाणी को (जल्पंति) पढ़ते हैं(शृण्वंति)सुनते हैं(च रोचते) और उस पर रुचि लाते हैं (ते दुर्लभाः) वे कठिन हैं तब (ये) जो (तदर्थम्)उस मुक्तिके लिए(उत्तमधियः)उत्तम ज्ञानका(कुर्वंति) साधन करते हैं (अत्र) यहां(तेषां किं उच्यते) उनके लिए क्या कहा जावे ?

भावार्थ—यहाँ आचार्य ने बताया है कि यह संसारी जन क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों से मलीन हो रहे हैं। रात-दिन इन्द्रिय विषयकी लोलुपता में फंसे हैं। स्त्री पुत्र आदि में मोही हो रहे हैं—ऐसे जगत में जिनवाणी को प्रेमसे पढ़नेवाले सुननेवाले तथा उस पर रुचि लाने वाले बहुत कम हैं, यहां तक कि दुर्लभ हैं। यह जिनवाणी सच्चा मुक्तिका मार्ग दिखाती है, रत्नत्रय में सबसे मुख्य सम्यग्दर्शन है उसको प्राप्त करती है, जिसके अभ्यास से दूध पानी की तरह मिले हुए जीव अजीव पदार्थ भिन्न-२ दिखलाई पड़ जाते हैं। इस जिनवाणी की उपमा इसलिए नहीं हो सकती है कि इसमें अनेकान्तरूप पदार्थों का जैसा स्वरूप है वैसा दिखाया है। स्याद्वादनय से वस्तु के स्वरूप

को बताया है जो बात अन्य शास्त्रों में नहीं मिलती है। दृष्टांत में पदार्थ न सर्वथा नित्य है न सर्वथा अनित्य है। हर समय पदार्थ नित्य अनित्य स्वरूप है। गुणों के व स्वभावों के ध्रुवपने की अपेक्षा पदार्थ नित्य है जब कि पर्यायों के पलटने की अपेक्षा पदार्थ अनित्य है। अवस्थाएं हर समय होती रहती हैं,इस तरह का कथन जिनवाणी ही स्पष्ट खोलकर बताती है। यह अवश्य मुक्तिरूपी स्त्री के मिलने के लिए दूती है क्योंकि जो श्रुतज्ञान द्वारा भेदविज्ञान का लाभ करते हैं और पर से भिन्न आत्मा को अनुभव करते हैं वे सीधे मोक्षरूप स्त्री की ओर चले जाते हैं ऐसी जिनवाणीके कहे हुए तत्वोंको श्रद्धान करने वाले व कहने सुनने वाले बहुत कठिन हैं। परन्तु जो तत्वज्ञान के अनुसार मुनि हो आत्मध्यान का अभ्यास करके केवलज्ञान की प्राप्ति का उद्यम करते हैं ऐसे महान पुरुष तो बहुत ही दुर्लभ हैं। उनके सम्बन्धमें क्या शब्द कहा जावे सो कोई शब्द नहीं मिलता है।

प्रयोजन यह है कि आत्मानुभव के उद्योग को बड़ा ही अपूर्व लाभ जान करके जो आत्महित करना चाहें उनको प्रमाद न करके मुक्ति का साधन कर लेना चाहिए।

श्री पद्मनंदि मुनि जिनवाणी की स्तुति में कहते हैं—

कदाचिदंबत्वदनुग्रहं विना श्रुते ह्यधीतेपि तत्वनिश्चयः।
ततः कुतः पुंसि भवेद्विवेकिता त्वया विमुक्तस्य तु जन्मनिष्फलं।११
त्वमेवतीर्थं शुचि बोधिवारिमत् समस्तलोकत्रयशुद्धकारणं।
त्वमेव चानंदसमुद्रवर्धने, मृगांकमूर्तिः परमार्थदर्शिनाम्॥३४॥

भावार्थ—हे जिनवाणी माता, तेरी कृपा बिना शास्त्र को

पढ़ते व सुनते हुए भी तत्व का निश्चय नहीं होता है तब फिर तेरे आश्रय बिना पुरुष में भेदविज्ञान कैसे होगा ? जो तेरी सेवा नहीं करते उनका जन्म निष्फल है। तू ही पवित्रज्ञान जल को रखने वाली नदी स्वरूप है, तू तीन लोक के जीवोंको शुद्ध करने का कारण है और तूही निश्चय आत्मतत्वके श्रद्धान करनेवालों को आत्मानन्दरूपी समुद्र के बढ़ानेके लिए चन्द्रमाके समान है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो जगतारण मोक्षलक्ष्मिवृती सद्दर्शन दायका,
अनुपम जिनवर वाणि पाठ करते सुनते रुचि धारक ॥
ते सज्जन दुष्प्राप्य आज जगमें क्रोधाविमल पूर जो।
कहना क्या उनका स्वमुक्तिहेतु साधं परमज्ञान जो ॥१०५॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो इस संसार समुद्र से तर गए हैं वे अरहंत इसी प्रकार की शिक्षा देते हैं कि अन्य जीव भी तिरें—

ये स्तुत्यां जन्मसिंधोरसुखमितिततेर्लीलया तारयित्वा।
नित्यं निर्वाणलक्ष्मीं बुधसमितिमतां निर्मलामर्पयन्ते ॥
स्वाधीनास्तेऽपि यत्तद्व्यपगततमोज्ञानसम्यक्त्वपूर्वाः।
पोष्यन्ते नान्यशिक्षा मम परमगुरो विद्यते नात्र चित्रम् ॥१०६

अन्वयार्थ—(ये) जो (असुखमितिततेः जन्मसिंधोः) दुःखों के समूहसे भरे हुए संसार समुद्रसे (लीलया तारयित्वा) लीला मात्र में पार उतारकर (स्तुत्यां) प्रशंसनीय (नित्यं) अविनाशी (बुधसमितिमतां) बुद्धिमानों से माननीय (निर्मलाम्) निर्मल (निर्वाणलक्ष्मी) मोक्ष लक्ष्मी को (अर्पयन्ते) प्रदान करते हैं (तेपि) वे

ही (स्वाधीनाः) स्वाधीन है (यस्तत्)क्योंकि (व्यपगततमोज्ञान-सम्यक्तपूर्वाः) उनका अज्ञान अन्धकार सम्यक्तपूर्वक ज्ञान द्वारा नष्ट हो चुका है वे(अन्यशिक्षां न पोष्यंते) अन्य शिक्षाकी पुष्टि नहीं करते हैं (अत्र) यहां (मम उरौ) मेरे दिल में(परं चित्रं) कोई परम आश्चर्य (न विद्यते) नहीं होता है।

भावार्थ—जो स्वयं जिस कामको सिद्ध कर लेता है वह उस काम में दूसरे को भी लगाकर उसका उद्धार कर सकता है। अर्हन्त भगवान सम्यग्ज्ञान की सेवा करके स्वयं कर्मोंके बंधन से छूटकर स्वाधीन हो गए। वे अपनी दिव्यवाणी से इसी प्रकार की शिक्षा देते हैं कि जो कोई सम्यक्तपूर्वक ज्ञानको प्राप्त करके आत्मानुभव करेगा वह संसारसमुद्रसे उसी तरह पार हो जाएगा जिस तरह हमने पार कर लिया है। उनकी इस उपदेश शिक्षा को ग्रहण करते हैं व उस पर चलते हैं वे भी शीघ्र संसारसमुद्र से पार हो जाते हैं और उस मोक्षलक्ष्मी को पा लेते हैं जिसके लिए सन्तपुरुष निरन्तर भावना किया करते हैं व जिसका कभी क्षय नहीं होता है तथा जो कर्ममलसे रहित निर्मल है। आचार्य कहते हैं कि जो स्वयं तर गए हैं उनके द्वारा यदि दूसरे तार लिए जांय तो कोई बड़े आश्चर्य की बात नहीं है। जो जहाज स्वयं तैरता है वही दूसरों को भी अपने साथ पारकर देता है। तात्पर्य यह है कि हमको श्रीअरहन्त भगवानकी परमोपकारिणी शिक्षा के ऊपर चलकर अपना आत्मोद्धार कर लेना चाहिए। स्वामी अमितगति सुभाषित रत्नसंदोह में अरहंत का स्वरूप बताते हैं—

भावाभावस्वरूपं सकलमसकलं द्रव्यपर्यायतत्वं।

भेदाभेदावलीढं त्रिभुवनभुवनाभ्यन्तरे वर्तमानम्॥

लोकालोकावलोकी गतनिखिलमलं लोकते यस्य बोध-
स्तं देवं मुक्तिकामा भवभवनमिदे भावयस्त्वाप्तमद्य ॥६४७

भावार्थ—जिसका ज्ञान तीन लोकके भीतर पाए जाने वाले भाव तथा अभाव स्वरूप, अनेकरूप व एकरूप, भेदरूप व अभेद रूप द्रव्यों के और पर्यायों के स्वरूप को देखते हुए लोक और अलोक दोनों को देखने वाला है उस सर्व दोष रहित अरहंत देव को यहां संसार—घरके नाश करने के लिए मोक्षके चाहने वाले सेवन करहु।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो भवसागर दुःखदाय क्षण में भवि जीव को पारकर,
देते मोक्ष पवित्र नित्य लक्ष्मी जो चाहते ज्ञानधर।
ये हैं रत्नाधिप [illegible] ज्ञानसे,
जो देते नहिं अन्य कोय शिक्षा नहिं भो अचम्भाविसे ॥१०६।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इस संसार में कोई वस्तु सुखदायक नहीं है—

ध्रुवापायः कायः परिभवभवाः सर्वविभवाः।
सदानार्या भार्याः स्वजनतनयाः कार्यविनयाः॥
असारे संसारे विगतशरणे दत्तमरणे।
दुराराध्येऽगाधे किमपि सुखदं नापरपदं ॥१०७॥

अन्वयार्थ—(कायः) यह शरीर (ध्रुवापायः) निश्चय से नाश होने वाला है (सर्वविभवाः) सर्व सम्पत्तियें (परिभवभवाः) वियोग के सम्मुख हैं (भार्याः) स्त्रियें (सदा अनार्या) सदा ही सुखकारी व हितकारी व सभ्यतासे व्यवहार करने वाली नहीं हैं (स्वजन-तनयाः) अपने कुटुम्बी या पुत्र (कार्यविनयाः) अपने मतलब से विनय करने वाले हैं (दत्तमरणे) मरणको देने वाले (विगतशरणे)

व शरण रहित (अगाधे) बहुत गहरे (दुराराधे) दुःखों से भी जिसका तरना कठिन है (असारे संसारे), ऐसे इस सार रहित संसार में (अपरपदं) सिवाय मोक्षके दूसरा कोई पद (सुखदं न) सुख का देने वाला नहीं है।

भावार्थ—यहां आचार्य ने बताया है कि यह संसार बिलकुल असार है। इसमें संसारी प्राणियों को थिरता प्राप्त नहीं होती, वे जन्मते मरते रहते हैं। उनको कोई मरणसे बचा नहीं सकता, इसका आदि व अन्त नहीं है तथा यह इतना विशाल है कि इसका पार करना कठिन है। इसमें जितने भी पदार्थ हैं वे सब आत्माको सुखदायी नहीं है। पहले तो यह शरीर ही नाशवंत है आयु कर्म के आधीन है, इसके छूट जाने का कोई समय नियत नहीं है। लक्ष्मी आदि बहुत ही चंचल हैं, स्त्रियों का संसर्ग मोह में फंसाने वाला है व आत्मध्यान में बाधक है। कुटुम्बीजन व पुत्रादि सब अपने-२ मतलबको देखते हैं। जब स्वार्थ नहीं सधता है तब बात भी नहीं करते हैं। स्वार्थ में विरोधी पिता को भी पुत्र मार डालते हैं। इस संसार में सर्व ही मित्र आदि मतलबके ही साथी हैं, जिस-२ चेतन व अचेतन पदार्थ का संग्रह किया जाता है कि इससे कुछ सुख मिलेगा उसीका वियोग हो जाता है। पराधीन सुख आकुलता का ही कारण है। इसलिए यही अनुभव करना चाहिए कि सच्चा सुख आत्मा में ही है। उसीको चाह करके सामायिक का अभ्यास करना योग्य है। श्री अमितगति स्वामी सुभाषित रत्नसंदोह में कहते हैं—

इमा रूपस्थानस्वजनतनयद्रव्यवनिता,

सुता लक्ष्मीकीर्तिद्युतिरतिमतिप्रीतिधृतयः।

मदान्धस्त्रीनेत्रप्रकृतिचपलाः सर्वभविना—

अहो कष्टं मर्त्यस्तदपि विषयान्सेवितुमनाः ॥३२९॥

भावार्थ—सर्व संसारी जीवों के लिए ये रूप, स्थान, कुटुम्बी जन, पुत्र, पदार्थ, स्त्री, पुत्री, लक्ष्मी, यश, चमक, राग, बुद्धि, स्नेह तथा धैर्य सब मद से उन्मत्त स्त्री के नेत्र के स्वभाव के समान चंचल हैं। अहो! बड़े कष्ट की बात है कि ऐसा जान करके भी यह मानव इंद्रियों के विषयों को सेवन करता है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

है यह तन जु विनाशनीक लक्ष्मी है सर्व जग चंचला।
भार्या नित्य कुमोहकार स्वजना अर पुत्र स्वारथलगा॥
है संसार असार शर्ण नहिं को अब मृत्यु आ जात है।
दुस्तर दुर्गम लोक माहिं बस्तु सुख करम विचलात है॥१०७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मरण से कोई बच नहीं सकता।

मालिनी वृत्तम्

असुरसुरविभूनां हंति कालः श्रियं यो।
भवति न मनुजानां विघ्नतस्तस्य खेदः।
विचलयति गिरीणां चूलिकां यः समीरो।
गृहशिखरपताका कंपने किं न तेन ॥१०८॥

अन्वयार्थ—(यः कालः) जो मरणरूपी काल (असुरसुरविभूनां) भवनवासी, व्यंतर व ज्योतिषी तथा स्वर्गवासी देवों के स्वामियों की (श्रियं) लक्ष्मीको (हंति) नाश कर देता है (तस्य) उस कालको (मनुजानां) मनुष्यों की सम्पत्तिको (विघ्नतः) हर लेने में (खेदः) खेद (न भवति) नहीं हो सकता है (यः समीरः)

जो पवन (गिरीणां चूलिकां) पहाड़ों की चोटियों को (विचलयति) हिला देती है(तेन)उस पवन से(गृहशिखरपताका) घरके शिखर की ध्वजा (किं न कंपते) क्यों न कांप जायगी ?

भावार्थ—आचार्य दिखलाते हैं कि मरणसे कोई भी संसारी प्राणी बच नहीं सकता। बड़ी-२ आयुके धारक व बड़ी सामर्थ्य के धारक इन्द्रादिक देवों को भी यह मरण नहीं छोड़ता है तब थोड़ी आयुधारी व थोड़ी सामर्थ्यधारी मनुष्योंको तो मरणकैसे छोड़ सकता है ? जिस समय मरण आ जाता है उस समय वह सब सम्पदा जिसको हम अपनी मान रहे थे बिलकुल छूट जाती है। मरण करते हुए जीवके साथ उसका बांधा पुण्य या पापकर्म तो जाता है परन्तु अन्य कोई चेतन व अचेतन पदार्थ बिलकुल साथ नहीं जा सकते हैं। वास्तव में कर्मभूमि के हम मनुष्य तथा पशुओं का जीवन तो पानी के बुदबुदे के समान चंचल है क्योंकि जब देवों के व भोगभूमि जीवों के अकाल मृत्यु कोई बाहरी क्षयकारी कारण के मिलने से हो जाती है इसलिए हम लोगों के जीवन को हर लेना तो यमराज के लिए बिलकुल सहज है, यह बात बिलकुल ठीक है कि जो हवा पर्वतों के शिखरों को हिला सकती है उसके लिए घर के ऊपर की पताका को हिलाना क्या कठिन है ? कुछ भी नहीं।

प्रयोजन कहने का यह है कि जब हम लोग मरण के मुख में सदा ही बैठे हुए हैं तब हम लोगों को धर्मसाधनमें व आत्महित में प्रमाद न करना चाहिए।

मानव जन्म में देवों के जन्मसे भी यह विशेषता है कि जिस संयम व ध्यानसे आत्मा परम पवित्र हो सकता है वह संयम तथा ध्यान इस मानव शरीरसे ही हो सकता है। इसलिए इस जन्म के समयको बड़ा ही मूल्यवान समझकर हमें इससे आत्महित

कर लेना चाहिए।

अमितिगति महाराज सुभाषित रत्नसन्दोहमें कहते हैं—

दैवाराधनमंत्रतंत्रहवनध्यानग्रहेज्याजप —
स्थानत्यागधराप्रवेशगमनप्रव्रज्या द्विजार्चाविधिः ॥
अत्युग्रेण यमेश्वरेण तनुमानंगीकृतो भक्षितुं ।
व्याघ्रेणेव बुभुक्षितेन गहने नो शक्यते रक्षितुम् ॥२९७

भावार्थ—जैसे बाघसे पकड़ा हुआ प्राणी जंगल में मरण से बच नहीं सकता। इसी तरह जब इस प्राणीको भयानक यमराज भक्षण करता है तब देवपूजा, मंत्र, तंत्र, होम, ध्यान, ग्रहपूजा, जप, स्थानसे चले जाना, धरती में प्रवेश करना, विहारी साधु हो जाना, ब्राह्मणोंकी सेवा आदि कोई बचा नहीं सकते।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

असुर सुर पतीकी जो विभूति छुड़ावे।
मानवको हरने खेद नहिं काल लावे ॥
पर्वतकी चोटी जो पवन डगमगावे।
गृहशिखरध्वजाको खेद बिन सो उड़ावे ॥१०८॥

उत्थानिका—आगे जगतके पदार्थोंकी चंचलताको दिखाते हैं—

द्रुतविलंबित छन्द

सकललोकमनोहरणक्षमाः करणयौवनजीवितसंपदः ।
कमलपत्रपयोलवचंचलाः किमपि न स्थिरमस्ति जगत्त्रये ॥१०९

अन्वयार्थ—(सकललोकमनोहरणक्षमा:) सर्व लोगों के मन को हरण करनेमें समर्थ (करणयौवनजीवितसम्पदः) इंद्रियों की जुवानी व जीवन व सम्पत्तियें (कमलपत्रपयोलवचंचला:) कमल के पत्ते पर पड़े हुए पानीकी बूंदकी तरह चंचल है (जगत्त्रये) तीनोंही लोकमें (किमपि स्थिरं न अस्ति) कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं है।

भावार्थ—यहां पर यह बताया गया है कि संसारमें हरएक अवस्था नाशवंत है। जिन महापुरुषोंकी इंद्रियों की रचना ऐसी सुन्दर होती है जो तीन लोकके प्राणियोंके मनको हरण कर सके व जिनका जीवन अनेक सांसारिक सुखोंसे पूर्ण होता है व जिनके पास चक्रवर्तीकी-सी सम्पदा होती है ऐसे-२ प्राणी इतनी जल्दी नष्ट हो जाते हैं जैसे कमलके पत्ते पर पड़ी हुई पानीकी बूंद गिर जाती है। संसार के सर्व पदार्थों को चंचल समझ कर किसी से भी मोह करना उचित नहीं है।

अमितगति महाराज सुभाषितरत्नसंदोह में कहते हैं—

वयं येभ्यो जाता मृतिमुपगतास्तेऽत्र सकलाः।
समं यैः संवृद्धा ननु विरसतां तेपि गमिताः॥
इदानीमस्माकं मरणपरिपाटीक्रमकृता।
न पश्यन्तोऽप्येवं विषयविरतिं यान्ति कृपणाः॥३३७॥

भावार्थ—जिनसे हम पैदा हुए थे वे सब तो मर चुके, व जिनके साथ हम बढ़े थे वे भी वियोग को प्राप्त हो गए, अब हमारा मरण होने वाला है। जो दीन हैं वे ऐसा देखते हुए भी इंद्रियों के विषयों से विरक्त नहीं होते हैं।

वास्तव में चतुर पुरुषको संसार की अनित्यता को ध्यान में लेकर स्वहित में प्रयत्न करना उचित है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

जगमनहरसम्पत् अथ यौवन स्वजीवन,
चंचल हैं सारे, जिम कमलपत्र जलकण।
इम सकल पदारथ तीन भुके अथिर हैं,
ज्ञानी ज्ञाता हो आत्महित बीच दृढ़ हैं॥१०९॥

द्रुतविलंबित छन्द

बलवतो महिषाधिपवाहनो निरुनिलिंपपतीनपहंति यः।
अपरमानववर्गविमर्दने भवति तस्य कदाचन न श्रमः ॥११०

अन्वयार्थ—(यः) जो (बलवान्) बलवान (महिषाधिपवाहनः) बड़े भैंसोंकी सवारी करने वाला ऐसा यमराज (निरुनिलिपपतीन्) देवोंके स्वामियों को (अपहंति) नाश कर देता है (तस्य) उस कालको (अपरमानववर्गविमर्दने) दूसरे मानवों के गर्वको खण्डन करनेमें (कदाचन) कभी भी (श्रमः) मेहनत (न भवति) नहीं करनी पड़ती है।

भावार्थ—इस श्लोकमें यह बताया गया है कि यह मरण किसीको भी छोड़ता नहीं है। बड़े-२ बलवान देवोंके स्वामियों को क्षणमात्र में नष्ट कर देता है तब अल्पायुधारी मानव व पशुओंकी तो बात ही क्या है। तात्पर्य यह है कि अपना मरण अवश्य एक दिन आने वाला है ऐसा समझ कर आत्महित के साधनमें रंचमात्र भी प्रमाद करनेकी जरूरत नहीं है। मरण से कोई बच नहीं सकता ऐसा अमितगति महाराज ने सुभाषित रत्नसंदोह में कहा है—

ये लोकेशशिरोमणिद्युतिजलप्रक्षालिताङ्घ्रिद्वया।
लोकालोकविलोकिकेवललसत्साम्राज्यलक्ष्मीधराः॥
प्रक्षीणायुषि यान्ति तीर्थपतयस्तेऽप्यस्तदेहास्पदं।
तत्रान्यस्य कथं भवेद् भवभृतः क्षीणायुषो जीवितम् ॥३००

भावार्थ—जिन तीर्थंकरों के चरणों को इन्द्र चक्रवर्ती आदि लोकशिरोमणि पुरुष अपनी कांतिरूपी जलसे धोते हैं, जो लोक अलोकको देने वाले ऐसे केवल ज्ञानरूपी राज्यलक्ष्मी के धारी

हैं, ऐसे तीर्थंकर भी आयुकर्मके समाप्त होने पर इस शरीर को छोड़कर मोक्षको चले जाते हैं तो फिर अन्य अल्पायुधारी मानवों के जीव का क्या भरोसा ?

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

जो यम हन डाले, देव इन्द्रादिकों को।
वह बलशालिनको दीर्घ वय धारिकों को॥
सो मानव वर्ग जो धरें आयु अल्पा।
हनता क्षणभरमें नाहिं श्रम कोय कल्पा॥११७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इस जगतमें कोई वस्तु सुख-दाई नहीं है—

स्वजनसंगतिरेव वितापिनी भवति यौवनिका जरसा रसा।
विपदवैति सखीव च संपदम् किमति शर्मविधायिन दृश्यते॥११॥

अन्वयार्थ—(स्वजनसंगति:) अपने बंधुजनोंकी संगति (एव) ही (वितापिनी) उसके वियोग में दुःख देने वाली हो जाती है (यौवनिका) युवानी (जरसा रसा) बुढ़ापे के साथ हैं (विपत्) आपत्ति (सखी इव) सखी के समान (संपदम्) सम्पत्ति के पास (अवैति) जाती है। (शर्मविधायि) सुख देने वाली (किमपि) कोई भी वस्तु (न दृश्यते) नहीं दिखलाई पड़ती है।

भावार्थ—इस जगत में जिस-जिस पदार्थ का संयोग है वह वियोग के साथ है। आज जिन स्त्री पुत्र मित्रों के साथ में कुछ साता मालूम होती है यदि उनका वियोग हो जावे या वे अपने अनुकूल वर्तन न करें तो ये ही पदार्थ दुखदाई भासते हैं व उनके निमित्तसे नित्य संताप रहता है। जिस युवानी के मद में चूर होकर हम शरीरके बलका व रूपका अहंकार करते हैं वह जवानी

मात्र थोड़े दिन रहने वाली है, एकदम बुढ़ापा आ जावेगा तब युवानी का पता ही नहीं चलेगा। आज धनसम्पदा राज्यविभूति दिखलाई पड़ती है, यकायक विघ्न आ जाते हैं राज्य छूट जाता है, संपदाएँ चली जाती हैं संपत्तिवान विपत्तियोंमें फंस जाता है, जिस पदार्थसे यह मोही जीव सुख मानता है वे ही पदार्थ नाशवंत हैं व बिगड़ जाते हैं, तब इस मोही जीवको महान दुःखों का सामना करना पड़ जाता है। जगत का ऐसा क्षणभंगुर स्वभाव जानकर ज्ञानी जीवको निरन्तर आत्मकल्याण के सन्मुख रहना चाहिए।

श्री पद्मनंदि मुनि अनित्यपंचाशत् में कहते हैं—

राजापि क्षणमात्रतो विधिवशाद्रंकायते निश्चितं।
सर्वव्याधिविवर्जितेपि तरुणो आशु क्षयं गच्छति॥
अन्यैः किं किल सारतामुपगते श्रीजीविते द्वे तयोः।
संसारे स्थितिरीदृशीति विदुषा क्वान्यत्र कार्यो मदः॥४८

भावार्थ—राजा भी क्षणमात्रमें निश्चयसे रंक हो जाता है। सर्व रोगोंसे रहित जवान शरीर भी शीघ्र नाशको प्राप्त हो जाता है लक्ष्मी और जीतव्य ये दोनों पदार्थ औरों की अपेक्षा जगतमें सार हैं। जब इन ही दोनोंकी ऐसी चंचल हालत हैं तब विद्वान पुरुष और किस पदार्थ में मद करें?

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

संगति निज जनकी, तापकारी बखानी।
तन की तरुणाई, बूढ़पन माहिं सानी॥
आपद आ घेरे, मित्रवत् सम्पदा को।
सुखप्रद जगवस्तु, दीखती नाहिं काको॥११२॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मरणसे कोई भी रक्षा करने वाला नहीं है—

सचिवमंत्रिपदातिपुरोहितास्त्रिदशखेचरदैत्यपुरंदरा: ।
यमभटेन पुरस्कृतमातुरं भवभृतं प्रभवंति न रक्षितुम् ।।११२

अन्वयार्थ—(सचिवमंत्रिपदातिपुरोहिता:) दीवान, मंत्री, पैदल, पुरोहित तथा (त्रिदशखेचरदैत्यपुरंदरा:) देव, विद्याधर, दैत्य, इन्द्र (यमभटेन) जमराजरूपी योद्धासे (पुरस्कृतम्) पकड़े हुए (आतुरं) दुःखी (भवभृतं) संसारी प्राणीको (रक्षितुम्) रक्षा करनेको (न प्रभवंति) समर्थ नहीं होते हैं।

भावार्थ—यहां पर आचार्य कहते हैं कि जब मरणका समय आ जाता है तब कोई किसीको बचा नहीं सकता है। जिन सम्राटों के बड़े-२ मंत्री, दीवान, पैदल, सिपाही व पुरोहितादि होते हैं व जिनके आधीन देव, विद्याधर, व्यंतरादि होते हैं व इन्द्रभी जिन की भक्ति करता है ऐसे चक्रवर्ती तीर्थंकरादि भी मरणके समय पर इस शरीरमें फिर नहीं रह सकते हैं। जब महान पुरुषों की यह दशा है तब हम सबको तो कालके मुखमें बैठा हुआ ही अपने को समझना चाहिए, ऐसा निश्चय कर आत्मकल्याणमें जरा भी प्रमाद न करना चाहिए।

पद्मनंदि मुनि अनित्यपंचाशत् में कहते हैं—

कालेन प्रलयं व्रजंति नियतं तेपींद्रचन्द्रादयः ।
का वार्तान्यजनस्य कीटसदृशो शक्तेरदीर्घायुष: ।।
तस्मान्मृत्युमुपागते प्रियतमे मोहं मुधा मा कृथाः ।
कालः क्रीडति नात्र येन सहसा तत्किंचिदन्विष्यताम् ।।५१

भावार्थ—जब इन्द्र, चन्द्र, आदि भी मरणके द्वारा निश्चयसे नाश किए जाते हैं तब उनके मुकाबले में कीटके समान अल्पायु वाले अन्य जनकी तो बात ही क्या है? इसलिए अपने किसी प्रिय

के मरण हो जाने पर वृथा मोह नहीं करना चाहिए। इस जगत में तू ऐसा कोई उपाय शीघ्र ढूंढ़ जिससे काल अपना दांव न कर सके।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

सेनापति मंत्री, अर पुरोहित सिपाही।
सुर असुर खगाधिप, इन्द्र बहुबल धराई॥
जब यमभट जनको, लेत है साथ आई।
दुःखित हो प्राणी, नाँहि सकें तब बचाई॥११२

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इस संसार में कोई अपना रक्षक नहीं है—

बलकृतोऽशनतोऽपि विपद्यते,
यदि जनो न तदा परतः कथम्।
यदि निहन्ति शिशुं जननी हिता,
न परमस्ति तदा शरणं ध्रुवम्॥११३

अन्वयार्थ—(यदि) यदि (जनः) यह मानव (बलकृतः) शरीर को बलदाई (अशनतः अपि) भोजन से ही (विपद्यते) विपत्ति में आ जाते हैं, रोगी हो जाते हैं तथा मरण कर जाते हैं (तदा) तब (परतः) दूसरे विष आदि पदार्थोंसे (कथम्) किस तरह बच सकते हैं? (यदि) जब (हिता) हितकारी (जननी) माता (शिशुं) बच्चेको (निहंति) मार डालती है (तदा) तब (ध्रुवं) निश्चयसे (शरणं) शरणमें रखने वाला (परं न अस्ति) दूसरा कोई नहीं है।

भावार्थ—इस संसारमें कोई जीव किसी को मरणसे बचाने वाला नहीं है। जिस भोजनसे शरीरकी रक्षा होती है व बलदाई होता है वही भोजन रोगी प्राणी के लिए विषमज्वर पैदा करके उसके प्राणोंका अन्त करने वाला हो जाता है। इस जगतमें कोई

कोई पशु ऐसे हैं कि जिनको जनने वाली माता ही उनका भक्षण कर लेती है जहां माता ही बच्चे को खा लेवे वहां और कौन बचाने वाला है ?

ऐसा जानकर मानव को आत्मानुभव के भीतर शरण लेनी चाहिए। यही इस जीवका सच्चा रक्षक है यही शुभ गतिमें व परम्परा मोक्षमें इस जीवको पहुंचाने वाला है। वास्तव में इस जगतमें कोई भी तीव्र कर्म के उदयको टाल नहीं सकता है।

पद्मनंदि मुनि अनित्य पंचाशत् में कहते हैं—

किं देवः किमु देवता किमु गदो विद्यास्ति किं किं मणिः।
किं मंत्रः किमुताश्रयः किमु सुहृत् किं वा सुगंधोस्ति सः॥
अन्ये वा किमु भूपतिप्रभृतयः सन्त्यत्र लोकत्रये।
यैः सर्वैरपि देहिनः स्वसमये कर्मोदितं वार्यते॥३२॥

भावार्थ—न कोई देव है न कोई देवी है, न वैद्य है न कोई विद्या है, न कोई मणि है न मंत्र है, न कोई आश्रय है न कोई मित्र है, न कोई गंध है न कोई और राजा आदि इस तीन लोक में हैं जो प्राणियोंके उदयमें आए हुए कर्मको रोक सके।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

बलप्रद भोजन भी, प्राणिगण नाश करता।
तब विष फल खाना, क्यों नहीं मर्ण करता॥
हितकारी माता, बाल अपना हने है।
कौन फिर इस जगतमें, शर्ण जिय राखले है॥११३

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इस जीव को अपनी करणी का फल अकेला ही भोगना पड़ता है—

विविधसंग्रहकल्मषमंगिनो विदधतेंगकुटुंबकहेतवे।
अनुभवंत्यसुखं पुनरेकका नरकवासमुपेत्य सुदुस्सहम्॥११४

अन्वयार्थ—(अंगिनः) यह शरीरधारी प्राणी (अंगकुटुम्बकहेतवे) अपने शरीर तथा अपने कुटुम्ब के (विविधसंग्रहकल्मषं) नाना प्रकारके पाप के संचयको (विदधते) करते रहते हैं (पुनः) परन्तु (एकका) अकेले ही (नरकवासं) नरकके स्थान में (उपेत्य) जाकरके (सुदुस्सहं) अति दुःसह (असुखं) दुःख को (अनुभवंति) भोगते हैं।

भावार्थ—ये संसारी गृहस्थ अपने स्त्री पुत्रादि के मोह में ऐसे अन्धे हो जाते हैं कि उनके मोह में और अपने शरीर के मोह में पड़कर नाना प्रकार के विषयों को भोगने के अभिप्राय से व धन के संचय करनेके लिए नीतिको उलंघकर व बहुत से परिग्रह को संचय करते हुए बहुत सा पाप बांध लेते हैं। जिस कुटुम्ब के लिए मोही जीव पाप का संचय करते हैं वह कुटुम्ब उस पाप के फल के भोगने में सहकारी नहीं होता है। यह जीव अकेला ही उस पाप के फलसे नर्क में जाता है और वहां असहनीय दुख को बहुत काल पर्यन्त भोगता रहता है। वास्तव में हर एक जीव अपने अपने भावों का जिम्मेदार है। अपने भावों से जो पाप बांधता है उसका फल उसी ही को स्वयं भोगना पड़ता है ऐसा समझकर ज्ञानवानों को उचित है कि कुटुम्ब के मोह में पड़कर उसके लिए अन्याय व अनर्थ न करे, अपनेको नीति व धर्म के मार्ग से विचलित न करें, स्वात्महित करते हुए परहित करना उचित है।

स्वामी अमितगतिजी सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

रे पापिष्ठातिदुष्टव्यसनगतमते निद्यकर्मप्रसक्त।
न्यायाभ्यानयाभिज्ञ प्रतिहतकरुण व्यस्तसन्मार्गबुद्धे ॥

किं किं दुःखं न यातो विषयवशगतो येन जीवो विषह्य।
त्वं तेनेनोऽतिवर्त्य प्रसममिह मनो जैनतत्त्वे निधेहि ॥४१८

भावार्थ—अरे पापी, अति दुष्ट, द्यूतादि व्यसनों में बुद्धि को लगाने वाला, दया रहित, सच्चे मार्ग से बुद्धि को हटाने वाला, न्याय व अन्याय से अनजान ! तूने इन्द्रियों के विषयों के वश में पड़ करके क्या क्या दुःख नहीं सहन किए हैं, अब तू इन पापों से अच्छी तरह मुंह मोड़ और अपना मन जैनतत्त्व में धारण कर।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

निज तनके काजे या कुटुम्बार्थ प्राणी।
करत विविध कर्म पाप बांधत अमानी॥
एकाकी जावे नर्क में दुख बढ़ावे।
कोई नहिं साथी मूढ़ आपी ठगावे ॥११४॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं जब आत्मा के साथ यह शरीर ही नहीं जा सकता है तब अन्य पदार्थ कैसे साथ जावेंगे—

वसनवाहनभोजनमंदिरैः सुखकरैश्चिरवासमुपासितम्।
व्रजति यत्रसमं न कलेवरं किमपरं बत तत्र गमिष्यति ।११५

अन्वयार्थ—(सुखकरैः) सुखदाई (वसनवाहनभोजनमंदिरैः) कपड़े, सवारी, भोजन तथा मकानों के द्वारा (चिरवासम्) दीर्घकालवास करके (उपासितम्) सेवन किया हुआ (कलेवरं) यह शरीर (यत्र) जहाँ (समं) साथ (न व्रजति) नहीं जाता है (तत्र) वहाँ (बत) खेदकी बात है (अपरं किं) दूसरा क्या (गमिष्यति) साथ जावेगा ?

भावार्थ—जब मरण आ जाता है तब इस जीव को अकेला ही जाना पड़ा है। इस शरीर को तरह तरह के भोगों से तृप्त

किया, मनोहर वस्त्रों से सज्जित किया, नाना प्रकार हाथी घोड़े पालकी विमानादि सवारियों पर आरूढ़ किया, हीरे जवाहरातसे जड़े हुए सुवर्ण के मकानों में बिठाया व सुलाया। इस तरह दीर्घ काल तक इसकी सेवा की गई तो भी इस कृतघ्नी ने मरते समय साथ न दिया तब स्त्री, पुत्र, मित्र, भाई, बन्धु, सेना नौकर आदि अपना साथ कैसे दे सकते हैं? ये तो बिलकुल ही अलग हैं। ऐसा जान ज्ञानी जीवको किसीसे भी मोह नहीं करना चाहिए। आपही अपनेको अपने हित अहित का जिम्मेदार समझकर सदा ही आत्महितमें लवलीन होना चाहिए। स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोह में कहते हैं—

> एवं सर्वजगद्विलोक्य कलितं दुर्वारवीर्यात्मना।
> निस्त्रिंशेनसमस्तसत्त्वसमितिप्रध्वंसिना मृत्युना॥
> सद्रत्नत्रयशास्त्रमार्गणगणं गृह्णन्ति पश्चिछत्तये।
> सन्तःशांतधियो जिनेश्वरतपः साम्राज्यलक्ष्मीश्रिताः॥११८

भावार्थ—इस तरह सर्व जगत को अतुल वीर्यधारी, निर्दयी व सर्वप्राणियों को नाश करने वाले मरण द्वारा ग्रसित देखकर शान्त परिणामी व जिनेन्द्रकथित तप की राज्यलक्ष्मीका आश्रय करनेवाले सन्त जन उस मरण के नाशके लिए सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्रमई रत्नत्रय धर्म तीक्ष्ण बाणों को ग्रहण करते हैं।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द

> जिस तनकी सेवा, काल बहु खूब कीनो।
> सुखकर मंदिर रख, वस्त्र वाहन नवीनो।
> भोजन दुष्ट दे, साथ सो भी न जावे।
> फिर जग है कोजन, संग अपना निभावे॥११८॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इन्द्रियों के विषयोंमें जो लीन हो जाते हैं वे नाश को प्राप्त होते हैं।

खचरनागसदो दमयन्ति ये कथममी विषया न परं नरम्।
समदवन्तिमदं दलयन्ति ये न हरिणं हरयो रहयंति ते ।।११६

अन्वयार्थ—(ये विषयाः) ये इन्द्रियों के विषय जब (खचरनागसदः) विद्याधर व नागकुमारों के समूह को (दमयन्ति) वश कर लेते हैं तब (अमी) ये (परं नरम्) दूसरे मानव को (कथं न) क्यों नहीं वश कर सकेंगे ? (ये हरयः) जो सिंह (समदवन्तिमदं) मदवाले हाथियों के मद को (दलयन्ति) चूर्ण कर डालते हैं (ते) वे (हिरणं) हिरण को (न रहयन्ति) छोड़ने वाले नहीं हैं।

भावार्थ—पांचों इन्द्रियों के विषय बड़े प्रबल हैं। ये बड़े-२ विद्याधरों को, नागेन्द्रों को, देवों को, चक्रवर्ती, नारायणों को अपने वश में करके दीन हीन कर डालते हैं और उनको दुर्गतिमें पहुंचा देते हैं तब साधारण मानव को अपने आधीन कर डालें इसमें तो कोई अन्यपनें की बात ही नहीं है। भला जो सिंह मद वाले हाथी को चूर कर सकते हैं उनके लिए हिरणों की क्या गिनती ? प्रयोजन यह है कि इन दुष्ट विषयों से सदा अपने को बचाना चाहिए। ये आत्महितके मार्गमें प्राणीको गिराने वाले हैं और संसार के भयानक जंगल में पटक देने वाले हैं। वहाँ यह प्राणी भटक भटक कर घोर कष्ट उठाता है और ऐसा अन्धा हो जाता है कि फिर इसको सुमार्ग दिखता ही नहीं।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोह में कहते हैं—

आदित्यचन्द्रहरिशंकरवासवाद्याः।
शक्ता न जेतुमतिदुःखकराणि यानि ।।

त: नोन्द्रियाणि [illegible] सुदुर्जयानि।
ये निर्जयन्ति भुवने बलिनस्त एके ॥९३॥

भावार्थ—जिनको सूर्य, चन्द्र, विष्णु, शंकर, इन्द्रादिक जीत न सके ऐसी दुखदाई, बलवान व दुर्जन इन्द्रियोंको जो जीत लेते हैं एक वे ही जगत में बलवान हैं—

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

जिनने वश कीना, देव विद्याधरों को।
कैसे नहिं जीतें, अन्न सामान्यजनको ॥
मद धर हस्तीको, सिंह जो दलमले है।
को गिनती मृगको, ताहि चूरण करे है ॥११६॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मोही जीव आत्महितों में नहीं वर्तता है—

मरणमेति विनश्यति जीवितं, द्युतिरपैति जरा परिवर्धते।
प्रचुरमोहपिशाचवशीकृतस्तदपि नात्महिते रमते जनः ॥११७॥

अन्वयार्थ—(मरणं एति) मरण आ रहा है (जीवितं विनश्यति) जिंदगी नाश हो रही है (द्युतिः अपैति) जवानी दूर जा रही है (जरा परिवर्धते) बुढ़ापा बढ़ रहा है (तदपि) तो भी (प्रचुरमोहपिशाचवशीकृतः) भयानक मोहरूपी पिशाचके वशमें पड़ा हुआ (जनः) यह मानव (आत्महिते) अपने आत्मकल्याण में (न रमते) नहीं प्रेम करता है।

भावार्थ—यहां आचार्यने मोही जीवकी दशा बताई है। स्त्री पुत्र मित्र व इंद्रियों के विषय इन्द्रादि पदार्थों में अज्ञानी जीव ऐसा उलझ जाता है कि अपने सामने आपत्तियें मौजूद हैं तो भी उस पर ध्यान नहीं देता है। यह देखता है कि दिन-पर-दिन

जिंदगी पूरी होती चली जाती है। मरण अचानक आने वाला है। शरीरकी चमक-दमक घट रही है। जवानी बीत रही है, बुढ़ापा आ रहा है तो भी धर्म की ओर बुद्धि नहीं लगाता है। आत्माको परलोकमें दुर्गति न हो इसकी चिंता नहीं करता है। आत्मानुभव रूपी परमोत्तम कार्य को नहीं करता है, आत्मानंद का विलास नहीं लेता है। वास्तव में जिसके भावों में तीव्र-मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषायका उदय होता है उसकी दशा ऐसी ही भयानक हो जाती है।

स्वामी अमितगति सुभाषित रत्नसंदोह में कहते हैं—

दयादमध्यानतपोव्रतादयो ।
गुणाः समस्ता न भवन्ति सर्वथा ॥
दुरन्तमिथ्यात्वरजोहतात्मनो ।
रजोयुतालाबुगतं यथा पयः ॥१३७॥

भावार्थ—जैसे निर्मल पानी धूलसहित तूम्बीमें प्राप्त होकर मैला हो जाता है वैसे जिसका आत्मा दुखदाई मिथ्यादर्शनरूपी कर्मकी रजसे गाढ़ छाया गया है उसके भीतर दया, संयम, ध्यान, तप, व्रत आदि ये सर्व गुण बिलकुल नहीं पाए जाते हैं।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

जीवन बीते है, मरण आही रहा है।
द्युति तन खिरती है, बूढ़पन बढ़ रहा है ॥
जो मोह पिशाचं, वश पड़ा दीन नर है।
सो भूले हितको, आत्ममें बे खबर है ॥११७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इन्द्रियोंके विषयोंमें जो अंधा है वह अपना नाश निकट आने पर भी धर्मसे प्रेम नहीं करता है—

जननमृत्युजरानलदीपितं
जगदिदं सकलोऽपि विलोकते ।
तदपि धर्ममतिं विदधाति नो
रतमना विषयाकुलितो जनः ॥११८॥

अन्वयार्थ—(सकलः) सर्व लोग (अपि) अवश्य (विलोकते) देख रहे हैं कि (इदंजगत्) यह जगत (जननमृत्युजरानलदीपितं) जन्म, मरण व बुढ़ापा इन अग्नियों से बराबर जल रहा है (तदपि) तो भी (रतमना विषयाकुलितः जनः) विषयों की चाह में घबड़ाया हुआ मनुष्य मनको उनमें भाता हुआ (धर्मं-मतिं) धर्ममें बुद्धिको (नो विदधाति) नहीं लगाता है।

भावार्थ—आचार्य ने प्रगट किया है कि जो मानव इंद्रियोंके विषयोंका गुलाम हो जाता है वह अपने मनको उनहीकी मूर्तिमें रंजायमान किया करता है। ऐसा होकर इस बात को भूल जाता है कि मुझे धर्म भी साधन करना जरूरी है। वह यह देखता भी है कि जगत में कोई मानव जन्मते हैं, कोई बूढ़े होते हैं, कोई मरते हैं अर्थात कोई भी थिर नहीं रह सकता है तथापि अपने सम्बन्धमें विचार नहीं करता है कि मुझे शीघ्र मर जाना होगा। आचार्य इस बुद्धिपर खेद प्रकट करते हुए प्रेरणा करते हैं कि बुद्धिमानों को इन विषयों के मोह में अंध होकर अपना आत्महित न भुलाना चाहिए।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोह में कहते हैं—

धर्मे चित्तं निधेहि श्रुतकथितविधिं जीव भक्त्या विधेहि।
सम्यक्त्वाप्तं पुनीहि व्यसनकुसुमितं कामवृक्षं लुनीहि ॥
पापे बुद्धिं धुनीहि प्रशमयमदमाञ्जिनपिंड पिण्ढि प्रमादं।
छिन्धि क्रोधं विभिन्धि प्रचुरमदगिरिस्तेऽस्ति चेन्मुक्तिवाञ्छा ।४१४

भावार्थ—हे जीव ! यदि तुझको मुक्तिकी इच्छा है तो तू अपने चित्तको धर्म में धारण कर शास्त्र में कही हुई विधि को भक्तिसे पालन कर, अपने भीतर सम्यग्दर्शनसे पवित्रता पैदाकर आपत्तिरूपी फूलों से लहराते हुए कामदेव के वृक्ष को उखाड़ के फेंक दे, पाप में बुद्धि को न लेजा, शान्ति, यम, संयमको पुष्ट कर, प्रमाद को छोड़, क्रोधको नष्ट कर, तथा बड़े भारी मान के पर्वत को तोड़ दे।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

यह सब जग जलता, मूर्ख जन देखता है।
जनम जरा मरणं अग्निमय फैलता है॥
तदपि विषय लोभी अंध मन हो रहा है।
नहिं सेवै धर्म पापको बो रहा है॥११८॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि गृहस्थ का वास छोड़ने के ही योग्य है।

मालिनी वृत्तम्

क्वचन भजति धर्मं क्वाप्यधर्मं दुरंतम्।
क्वचिदुभयमनेकं शुद्धबोधोऽपि गेही॥
कथमिति गृहवासः शुद्धिकारी मलाना-
मिति विमलमनस्कैस्त्यज्यते स त्रिधापि॥११९॥

अन्वयार्थ—(शुद्धबोधः अपि गेही) शुद्ध ज्ञान को अर्थात् सम्यग्ज्ञान को रखने वाला गृहस्थ भी (क्वचन) किसी जगह तो (धर्मं) धर्मको (क्व) कहीं (दुरंतम् अधर्मं) भयानक अधर्म को (क्वचित्) कहीं (अनेकं उभयं) अनेक प्रकार धर्म और अधर्म दोनोंको (भजति) सेवन करता है (इति) इसलिए (गृहवासः)

गृहस्थमें रहना (कथम्) किस तरह (मलानाम्) पापके मैलों को (शुद्धिकारी) शुद्ध करने वाला हो सकता है (इति) ऐसा समझ कर (विमलमनस्कैः) निर्मल मन वाले महात्माओं के द्वारा (सः) यह गृहवास (त्रिधापि) मन, वचन, काय तीनों से ही त्यज्यते) छोड़ दिया जाता है।

भावार्थ—यहाँ आचार्यने यह स्पष्टपने दिखला दिया है कि कोई भी मानव गृहस्थकी कीचड़में फंसा हुआ कर्मोंसे मुक्त नहीं हो सकता है। यहाँ तक कि क्षायिक सम्यग्दृष्टी व तीन ज्ञान के धारी तीर्थंकरको भी गृहवास छोड़कर निर्ग्रंथ होना पड़ता है। और बिलकुल निर्ममत्व होकर निजात्मानुभव का आनन्द लेना पड़ता है—शुद्ध वीतराग भावों में रमण करना पड़ता है तब कहीं शुक्लध्यान जगता है जो चारों घातिया कर्मों का नाशकर केवलज्ञान पैदा कर देता है। तब कोई सामान्य मनुष्य कितना भी ज्ञानी क्यों न हो गृहवाससे कर्ममलसे मुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि गृहस्थीको धर्म पुरुषार्थके सिवाय अर्थ और काम पुरुषार्थ की भी सिद्धि करनी पड़ती है। अर्थ पुरुषार्थ के लिए उनको धन कमाने के लिए बहुत आरम्भ व व्यवसाय करना पड़ता है जिसमें हिंसाजनित बहुत अधर्म करना पड़ता है। कर्म पुरुषार्थ में इन्द्रियों को तृप्त करने के लिए पांचों इन्द्रियोंके भोगों को भी भोगता है। इसमें भी पाप का ही संचय करता है कभी-२ व्यवहार धर्म के ऐसा भी काम करता है जिससे पुण्य व पाप दोनों बंधते हैं जैसे धर्म-स्थान को बनवाना, पूजा प्रतिष्ठा का आरम्भ कराना। जहाँ तक पापों का बिलकुल संवर न हो वहाँ तक कर्म की निर्जरा होना संभव नहीं है। गृहस्थको गृह संबंधी आडम्बर में सम्यग्दृष्टी भी क्यों न हो कुछ पाप का संचय

करना ही पड़ता है। अर्थ व काम पुरुषार्थमें रागद्वेष की उत्कटता होती ही है। इसलिए जो साधुजन अर्थ व काम पुरुषार्थ को छोड़कर मात्र आरम्भ व परिग्रहसे रहित होनेके कारणसे पापके संचयसे बचते हैं उन्हींको गृहकी आकुलताएँ नहीं सताती हैं वे ही निराकुल हो आत्मध्यान करते व स्वाध्याय आदि में लीन रहते हैं। उनके ही परिणामोंकी बढ़ती हुई शुद्धता होती रहती है। इसलिए जो पूर्णपने आत्मकल्याण करना चाहे उनके लिए यही उचित है कि गृहवास से उदास हो वनकी सेवा करें। वास्तव में गृहादि परिग्रह का त्याग ही ध्यान की सिद्धि का साधन है।

श्री पद्मनंदि मुनि यतिधर्म में कहते हैं—

परिग्रहवतां शिवं यदि तदानलः शीतलो।
यदीन्द्रियसुखं तदिह कालकूटः सुधा॥
स्थिरा यदि तनुस्तदा स्थिरतरं तडिच्चाम्बरे।
भवेऽत्र रमणीयता यदि तदीन्द्रजालेपि च॥५६॥

भावार्थ—यदि परिग्रहधारी गृहस्थों को मोक्ष की प्राप्ति हो जावे तो मानना पड़ेगा कि अग्नि ठण्डी हो जायगी। यदि इंद्रियोंके भोगोंसे सच्चा सुख होता हो तो मानना पड़ेगा कि कालकूट विष भी अमृत हो जायगा। यदि यह शरीर सदा स्थिर माना जायगा तो आकाशमें बिजलीको भी स्थिर मानना होगा यदि संसारमें रमणीयता मानी जायगी तो इन्द्रजालके खेल में भी रमणीयता माननी पड़ेगी।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

ज्ञानी भी गेही, कभी शुभ काम करता।
कभी करता अशुभ, कभी दोऊ हि करता॥
तब घरमें रहना, किस तरह मैल धोवे।
इम लख शुचि मन धर, त्याग घर आत्म जोवे॥११६

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो आत्मा के सच्चे सुखको प्राप्त करना चाहते हैं उनको अपने परमात्मस्वभाव का नित्य चिन्तवन करना उचित है—

सर्वज्ञः सर्वदर्शी भवमरणजरातंकशोकव्यतीतो ।
लब्धात्मीयस्वभावः क्षतसकलमलः शश्वदात्मानपायः ।
दक्षैः संकोचिताक्षैर्भवमृतचकितैर्लोकयात्रानपेक्षैः ।
नष्टाबाधात्मनीनस्थिरविशदसुखप्राप्तये चिंतनीयः ॥१२०

अन्वयार्थ—(दक्षैः) जो चतुर पुरुष (संकोचिताक्षैः) अपनी इंद्रियों को वश में रखनेवाले हैं, (भवमृतिचकितैः) जन्म मरणसे भयभीत हैं, (लोकयात्रानपेक्षैः) संसार के भ्रमण से उदास हैं उनको (नष्टाबाधात्मनीनस्थिरविशदसुखप्राप्तये) बाधा रहित, स्थिर व निर्मल आत्मीक सुखकी प्राप्तिके लिए (शाश्वत्) सदा ही (सर्वज्ञः) सर्वको जानने वाला (सर्वदर्शी) सर्वको देखनेवाला (भवमरणजरातंकशोकव्यतीतः) जन्म, मरण, जरा, शोक आदि दोषों से रहित (लब्धात्मीयस्वभावः) अपने स्वभाव को प्राप्त किए हुए (क्षतसकलमलः) सर्व कर्ममलों से रहित (अनपायः) अविनाशी (आत्मा) अपने आत्मा को ही (चिन्तनीयः) ध्यानमें ध्याना योग्य है।

भावार्थ—इस श्लोकमें आचार्यने इस तत्त्वभावना का सार बता दिया है कि जो भव्यजीव अपने आत्मतत्त्वको प्राप्त करके आत्मीक सच्चे सुखको भोगना चाहें जो सुख स्थिर है, बाधा-रहित है, उनको उचित है कि वे पहले अपनी पांचों इन्द्रियों को वश करें, क्योंकि इन्द्रियों की चाहनाएँ ध्यान में बाधक होती हैं फिर यह मनमें दया लावें कि मेरा आत्मा इस संसार में बारबार शरीर धारण कर जन्म-मरणके कष्ट न उठावें।

इसलिए उसके मनमें संसार दशा से उदासीनता हो व स्वाधीनताका परम प्रेम हो। ऐसा ज्ञानी जीव निश्चिन्त होकर परमात्माका या निश्चयनयसे अपने आत्माका यथार्थ स्वरूप ध्यान में लेकर बारबार चिन्तवन करे। निश्चय से सिद्ध परमात्मा में और अपने आत्मामें कोई तरहका अन्तर नहीं है—दोनोंका स्वभाव समान है। यह आत्मा निश्चय से पूर्णज्ञान दर्शन गुण का धारी है, इसमें कर्मों के द्वारा होने वाले राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मानादि भाव व शोक व जन्म, जरा, मरण, आदि अवस्थाएँ नहीं हैं यह तो कर्म रहित शुद्ध वीतराग है, अपने असल स्वभाव में सदा शोभायमान है। इस आत्मा का आदि अन्त नहीं है इससे यह अविनाशी है। इस तरह ध्यान में अपने स्वरूप को जमाकर बार बार ध्यानका अभ्यास करना चाहिए। जब मनकी वृत्ति परभावोंसे हटकर अपने स्वरूपमें कुछ देरके लिए भी स्थिर होवेगी—स्वात्मानुभव जग जायगा उसी समय आत्मीक सुख का लाभ होगा। आत्मध्यान करनेके लिए क्या-२ बाहरी साधनोंकी जरूरत है उसका कथन श्री ज्ञानार्णव ग्रन्थके आधार पर आगे किया जायगा। वास्तवमें आत्मध्यानसे ही आत्माकी शुद्धि होती है, आत्मध्यानसे ही आनन्दकी प्राप्ति होती है, आत्मध्यानसे ही कर्मोंकी निर्जरा होती है, आत्मध्यानसे ही कर्मों का संवर होता है, आत्मध्यानसे ही मोक्ष होता है। इसलिए हितेच्छुको निरंतर आत्मध्यानका अभ्यास परम निश्चिन्त होकर करना योग्य है। पद्मनंदि मुनि ने एकत्वाशीति में कहा है—

यदेव चैतन्यमहं तदेव जानाति तदेव पश्यति।
तदेव चैकं परमस्ति निश्चयाद् गतोस्मि भावेन तदेकतां परम् ।७६
हेयं हि कर्मरागादि तत्कार्यं च विवेकिनः।
उपादेयं परं ज्योतिरुपयोगैकलक्षणम् ।।७४।।

तदेवैकं परं तत्त्वं तदेवैकं परं पदम् ।
भव्याराध्यं तदेवैकं तदेवैकं परं महः ॥४८॥

मुमुक्षूणां तदेवैकं मुक्तेः पंथा न चापरः ।
आनन्दोपि न चान्यत्र तद्विहाय विभाव्यते ॥४९॥

अक्षयस्याक्षयानंद महाफलभरश्रियः ।
तदेवैकं परं बीजं निःश्रेयसलसत्तरोः ॥५०॥

भावार्थ—जो कोई चैतन्य स्वरूप है, जो कोई जानता है, जो कोई देखता है वही मैं हूं। वह एक उत्कृष्ट पदार्थ है इसलिए मैं निश्चयसे उसी एकके साथ एक भावपनेको प्राप्त हो गया हूं ॥७६

रागादि द्रव्य कर्म और उनके कार्य रागादि भाव विवेकियों के लिए त्यागने योग्य हैं। शुद्ध उपयोग लक्षणको रखने वाली एक उत्कृष्ट ज्ञान ज्योति ही ग्रहण करने योग्य है ॥७४॥

वही एक उत्कृष्ट तत्त्व है वही एक उत्कृष्ट पद है। भव्य जीवोंके लिए वही एक आराधने योग्य हैं। वही एक परम ज्योतिमय है ॥४४॥

मोक्षकी इच्छा करने वालोंके लिए वही एक मुक्तिका मार्ग है दूसरा नहीं है, उनको छोड़कर आनन्द और कहीं नहीं पाया जाता है ॥४६॥

अविनाशी मोक्षरूपी शोभायमान वृक्षके लिए जो वृक्ष अविनाशी आनन्दरूपी महाफल के भार से चमकता रहता है वही एक आत्मतत्त्व परम बीज है ॥५०॥

इन श्लोकों से यही बताया है कि शुद्ध आत्मा का अनुभव ही आनन्द का दातार है व स्वाधीनता का उपाय है। वही निरन्तर सेवने योग्य है।

शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो हैं बस स्वमत्त रोधकर्ता, जन्मन मरण भय कर।
संसृति हरके आत्मलीन निर्मल निर्बाध सुख रुचि धरें॥
वे चिन्तें निज आत्मरूप निश्चय, सर्वज्ञ सब देखता।
निर्मल नित्य स्वभावरूप, रतिदिन रत्नत्रयी एकता॥१२०

उत्थानिका—आगे ग्रन्थकार ग्रन्थ समाप्त करके आशीर्वाद देते हैं—

वृत्तैर्विंशशतेनेति कुर्वता तत्त्वभावनाम्।
सद्योमितगतेरिष्टा निर्वृतिः क्रियते करे॥१२१॥

अन्वयार्थ—(इति) इस तरह (विंशशतेन) एकसौ बीस (वृत्तैः) श्लोकोंके द्वारा (तत्त्वभावनाम्) आत्मतत्त्वकी भावना को (कुर्वता) करने वाला (सद्यः)शीघ्र ही। (अमितगतेः इष्टा) सर्वज्ञ को प्रिय या अमितगति आचार्य को प्रिय ऐसी (निर्वृतिः) मुक्तिको (करे क्रियते) अपने हाथमें प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—श्री अमितगति महाराजने इन पहले कहे हुए १२० श्लोकोंसे इस तत्त्वभावना नामके ग्रन्थको रचा है इसको जो कोई बारम्बार अनुभव करेगा उसको अवश्य मुक्तिकी प्राप्ति होगी ऐसा आशीर्वाद आचार्य ने पाठकों को दिया है। तथा आचार्यने यह भी दिखलाया है कि प्राचीनकाल में जो सर्वज्ञ हो गए हैं उन्होंने भी इसी तत्व की भावनासे मुक्ति प्राप्तकी थी व मैं इसी हेतुसे तत्वकी भावना कर रहा हूँ। दोहा—

विंशति सौ श्लोक में, तत्त्व भावना पाठ।
रचो अमितगति सूरि ने, करं भावसे पाठ॥
सो पावै निज मुक्तिको, जिम पाई सर्वज्ञ।
'सीतल' कर्म सुकाटकें, रहे आतम मर्मज्ञ॥१२१॥

॥ ॐ ॥

आत्मध्यान का उपाय

हरएक बुद्धिमान मानव स्वाधीनताप्रिय होता है और सुख व शांतिको चाहता है। आत्मा और कर्मपुद्गल इन दोनों के परस्पर सहवाससे आत्मा की शक्तियें पूर्ण विकाशरूप नहीं हैं तथा आत्माको अपने वर्तनमें बहुतसी बाधाएं उठानी पड़ती हैं। संसारमें इष्टका वियोग व अनिष्टका संयोग होना कर्मों की ही पराधीनता का कारण है। क्रोधादि भावोंका झलकना व पूर्ण-ज्ञान का न होना कर्मों के उदयका ही कार्य है। जन्म-जन्म में भ्रमण करना, जरा व मरणके कष्ट उठाना कर्मोंका ही वेग है। इसलिए हरएक मानवका यह दृढ़ उद्देश्य होना चाहिए कि वह कर्मोंकी संगतिसे छूटकर स्वाधीन हो जावे। कर्मोंकी संगति राग द्वेष मोहसे हुआ करती है। इसलिए हमें इन भावोंको दूर करके वीतरागता पूर्ण आत्मज्ञानके पानेका उद्योग करना चाहिए और उसके बलसे आत्माका ध्यान करना चाहिए। आत्मध्यानको हर एक साधु व श्रद्धावान गृहस्थ कर सकता है। जैनसिद्धान्तों ने मुख्य सात तत्वोंका जानना व श्रद्धान करना जरूरी बताया है। ये तत्व हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

जीव—निश्चयसे परमात्माके समान ज्ञाता, दृष्टा, अवि-नाशी, अमूर्तीक, परमशांत, सुखमई, चैतन्य धातुरूप, असंख्यात प्रदेशी है। इसका स्वभाव स्वाधीन आनन्द का भोग करते हुए

दीपक के समान स्वपर प्रकाशक है। ऐसा होकर के भी अनादि कालके प्रवाहरूप कर्मों के बंधन के कारण यह शरीर में रहता हुआ अज्ञान और कषायकी कालिमासे अशुद्ध हो रहा है। यह जीव द्रव्य अवस्थाओंकी अपेक्षा तो अनित्य है परन्तु द्रव्य और गुणकी अपेक्षा नित्य है। यह स्वयं कर्म बांधता है व स्वयं उस बंधसे छूट भी सकता है।

अजीव तत्त्व--में पांच द्रव्य गर्भित हैं। पुद्गल द्रव्य जो स्पर्श, रस, गंध, वर्णरूप है। जो परमाणु व स्कंधके भेदोंसे अनेक प्रकारसे लोकभर में भरा है। यह स्थूल शरीर भी पुद्गल से बना है तथा सूक्ष्म शरीर जो कर्मोंका है वह भी सूक्ष्म कर्मवर्गणा-रूपी पुद्गलोंसे बना है। जो कुछ हमारे इंद्रियोंका विषय है वह सब पुद्गल है। बहुतसे पुद्गल ऐसे सूक्ष्म हैं जिनको हम अपनी ों से नहीं देख सकते हैं।

धर्मास्तिकाय द्रव्य—यह दूसरा अजीव द्रव्य है। यह अमूर्तीक तीन लोक व्यापी एक अखण्ड द्रव्य है। इसका काम जीव और पुद्गलों को हलनचलन क्रिया को होते हुए उदासीनता के साथ बिना प्रेरणाके मदद देना है। जैसे मछलीको चलते हुए जल सहकारी है। बिना इसके किसी जीव या पुद्गल में कोई हलन चलन रूप क्रिया नहीं हो सकती है।

अधर्मास्तिकाय—यह तीसरा अजीव द्रव्य है। यह भी अमूर्तीक तीन लोक व्यापी एक अखण्ड द्रव्य है इसका काम जीव और पुद्गलों को स्वयं ठहरते हुए उनको उदासीनता के साथ बिना प्रेरणाके ठहरनेमें मदद देना है। बिना इसके जीव पुद्गल कभी ठहर नहीं सकते हैं। जैसे पथिकको वृक्षकी छाया ठहरनेमें निमित्त है।

आकाशद्रव्य—चौथा अजीव द्रव्य अमूर्तीक आकाश है जो अनन्त है व एक अखण्ड है। इसका काम सर्व द्रव्योंको अवकाश या स्थान देना है। इसीके मध्यमें तीन लोकमय यह जगत है। जगतमें ही जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, व काल ये पांच द्रव्य हर स्थान पर पाए जाते हैं। ये पांचों ही अजीव द्रव्य जीव द्रव्य से बिलकुल भिन्न स्वतंत्र द्रव्य हैं। जीव और पुद्गल का सम्बन्ध ही संसार है व इन दोनोंका भिन्न-२ होना ही मोक्ष है।

कालद्रव्य—यह भी पांचवां अमूर्तीक अजीव द्रव्य है। इसका काम सर्व द्रव्योंके वर्तनेमें उदासीनता से सहाय करना है। ये काल के अणु अलग-अलग आकाशके एक-एक प्रदेश पर बैठे हुए असंख्यात प्रदेशी आकाशमें असंख्यात हैं। लोक में जितने द्रव्य एक अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्थारूप होते हैं उनको नए से पुराना करने में ये कालाणु निमित्त हैं।

आस्रव और बन्ध तत्व—ये बतलाते हैं कि किस तरह यह जीव कर्मों को खींचकर बांधा करता है। मन, वचन, कायके द्वारा यह संसारी जीव काम किया करता है। जब यह कोई क्रिया मन, वचन, कायसे करता है तब आत्मा के प्रदेश सकम्प होते हैं उस समय चारों तरफ भरे हुए कार्माण, वर्गणारूप पुद्गल खिचकर आ जाते हैं और आत्मा के कर्माण देह से बंध को प्राप्त हो जाते हैं। उनमें अनेकों आस्रव व बन्धन को बंध कहते हैं। रागद्वेष मोहकी यदि प्रबलता होती है तो कर्मों का बंधन बहुत काल तकके लिए होता है, यदि उनकी मंदता होती है तो बंधन थोड़े कालके लिए होता है। क्योंकि संसारी आत्माओं में

हलनचलन व क्रोधादि कषायका होना सदा ही पाया जाता है। इसलिए सर्व ही संसारी जीव अपनी हलन चलन क्रिया व कषाय के अनुसार थोड़े या बहुत कर्मों को बांधते रहते हैं। जो आत्मा मुक्ति की तरफ उद्यमी हो जाता है वह कम कर्मों को बांधता है।

संवरतत्त्व—इस तत्वमें यह बताया गया है कि कर्मोंके बंधन से किस तरह बचा जावे। जिन-२ कारणोंसे कर्मोंका बंध होता है उन-उन कारणों को छोड़ना संवर है, तब कर्मों का बंध रुक जायगा। मुख्य कारण कर्मों से बंध होनेके चार हैं—

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग।

सच्चे तत्वोंको न समझकर मिथ्या तत्वों पर श्रद्धान रखना मिथ्यात्व है। पराधीनता को अच्छा समझना और स्वाधीनता को न पहचानना मिथ्यात्व है। अतृप्तिकारी इंद्रियों के विषयों को अच्छा समझना और स्वाधीन आत्मीक सुख की रुचि न करना मिथ्यात्व है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा तृष्णा में लवलीन रहना अविरति है। क्रोध, मान, माया, लोभ के भाव करना कषाय है। मन, वचन, काय को हिलाना योग है। यदि कोई मिथ्यात्व को त्यागकर सम्यक्त भाव पैदा कर लेगा, स्वाधीनताका सच्चा श्रद्धालु हो जायगा फिर मिथ्यात्वके दोषसे जो कर्म बंधते थे उनको रोककर उनका वह संवर कर देगा।

जितना-२ पांच हिंसादि पापोंको छोड़ता जायगा उतना-२ अविरति के द्वारा जो कर्म बंधते हैं उनसे बचता जायगा। साधु अवस्थामें ये पांचों पाप बिलकुल छूट जाते हैं तब वहां इसके कार-

बसे होने वाला बन्ध बिलकुल रुक जाता है। कषायोंको जितना जितना घटाया जायगा उतना-२ कषाय सम्बन्धी कर्मबंध रुक जायगा। जिस वीतरागी साधु के कषायों का प्रकाश बिलकुल नहीं होता वहाँ कषाय सम्बन्धी सर्व कर्म का बन्ध रुक जाता है। मन, वचन, काय का हलन चलन कर्मों के आने में मुख्य कारण है। इनके पूर्णपने रुकनेसे कर्मों का आना बिलकुल रुक जाता है।

निर्जरा तत्त्व—इसमें यह बताया गया है कि कर्मों का अपने समय पर फल देकर झड़ने मात्र से काम सिद्ध नहीं होता है। कर्मों का बिना फल दिये ही झड़ जाना आवश्यक है। इसका उपाय सच्चा आत्मा व सच्चा आत्मध्यान है।

मोक्षतत्त्व—जब यह जीव सर्व कर्मों से छूट जाता है तब परम पवित्र परमात्मा हो जाता है फिर सदा के लिए बंधरहित हो जाता है। इस तत्त्व को जो पालते हैं उनको सिद्ध कहते हैं। इस तरह व्यवहारनय से इन सात तत्त्वों का स्वरूप है। निश्चय नय से इनमें जीव और कर्मपुद्गल इन दो ही का सम्बन्ध है। कर्मपुद्गल मेरा स्वभाव नहीं है ऐसा जानकर उसे छोड़ निज शुद्ध आत्मा ही मैं हूं ऐसा श्रद्धान करना निश्चयसे इन तत्त्वोंका ज्ञान है। व्यवहारनय तो परद्रव्यों के आश्रय लेकर पदार्थ का विचार करता है। निश्चयनय मात्र एक ही द्रव्य के आश्रय उसका विचार करता है। व्यवहारनय से सात तत्त्वों का श्रद्धान व इनही का यथार्थ ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। निश्चयनयसे शुद्ध आत्माही मैं हूं यह श्रद्धान तथा ऐसा ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।

व्यवहारनयसे मुनिके या श्रावकके व्रतों को पालना सम्यग्-

चारित्र है। निश्चयनयसे अपने ही शुद्ध स्वरूप में एकता न हो जाना सम्यग्चारित्र है। निश्चयनय से आत्मा ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र रूप एक मोक्ष का मार्ग है।

श्री नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती कहते हैं—

दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह॥ (द्रव्यसंग्रह)

भावार्थ—मुनि निश्चय तथा व्यवहार दोनों ही प्रकार के मोक्ष के मार्गको आत्मध्यानमें पा लेते हैं। इसलिए तुम लोग प्रयत्नचित्त होकर ध्यान का भले प्रकार अभ्यास करो। जब आत्मध्यानमें एकता होती है तब निश्चय रत्नत्रयमें एकता हो ही रही है। उसी समय व्यवहार रत्न त्रय भी पल ही रहा है क्योंकि उसके भीतर सात तत्वों का सार ज्ञान व श्रद्धानमें भरा हुआ है तथा वह आत्मध्यानी हिंसादि पाँचों पापों से ध्यान के समय विरक्त है। और भी—

तवसुदवदवचेदा झाणरह धुरंधरो हवे जम्हा।
तम्हातत्तिय णिरदा तल्लद्धीए सदा होह॥

भावार्थ—जो आत्मा तप का साधन करता है, शास्त्र का ज्ञाता है, वह व्रती है, वही ध्यान रूपी रथ को चला सकता है। इसलिए तप, शास्त्र, व व्रत इन तीनोंमें सदालीन रहना चाहिए जो आत्मध्यान करना चाहें उनको तप का प्रेमी होना चाहिए, संसार विषयों की कामनाएँ मेंटकर निज सुखके रमन का प्रेमी होना चाहिए। जो इंद्रियों के विषयों के लोलुपी हैं उनका ध्यान बड़ी कठिनता से जमता है। जैसा जैसा चित्त बाहरी भोग उपभोगों की तरफ से हटेगा वैसा वैसा आत्मध्यान कर सकेगा।

ध्यानके अभ्यासी को शास्त्रों का ज्ञान व उनका निरन्तर मनन रहना चाहिए। शास्त्रों के द्वारा मनको कुज्ञानसे बचकर सुज्ञान में दृढ़ता प्राप्त होती है। जितना साफ व अधिक तत्वों का ज्ञान होगा। उतना ही अधिक निर्मल ध्यान का अभ्यास होगा इसी तरह ध्यान के अभ्यासीको व्रती भी होना चाहिए। या तो पूर्ण त्यागी साधु हो या एक देश त्यागी श्रावक गृहस्थ हो। अविर-ति में तिष्ठनेवालोंके ध्यानका अभ्यास बहुत ही अल्प होता है। व्रती नियमानुसार सर्व कार्य करते हैं। इसलिए ध्यान के लिए अवश्य समयको निकाल लेते हैं।

वही आचार्य और भी कहते हैं—

मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु।
थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए ॥४९॥

भावार्थ - यदि चित्तको नाना प्रकारके ध्यानकी सिद्धिके लिए अपने आधीन करना चाहते हो तो इष्ट व अनिष्ट पदार्थों मेंमोह मत करो, राग मत करो, द्वेष मत करो। ध्यान करनेवालेके मन में यह सच्चा वैराग्य अवश्य होना चाहिए कि इस लोक में कोई पदार्थ अपना हो नहीं सकता। किसीको अपना मानना बड़ी भारी भूल है। इस प्रकार निश्चय करके अपना मोह किसी चेतन व अचेतन पदार्थपर नहीं रखना चाहिए। तथा ज्ञानी को आत्मीक सुखको ही सच्चा सुख मानना चाहिए। इंद्रिय द्वारा पैदा होने वाले क्षणिक सुखको सुख नहीं मानना चाहिए। अज्ञानी प्राणी इंद्रियसुखके ही कारण उन चेतन व अचेतन पदार्थोंसे राग करते हैं, जो विषयसुखमें मददगार हैं व जो हानि पहुंचानेवाले चेतन व अचेतन पदार्थ हैं उनसे द्वेष कर लेते हैं। ज्ञानी आत्मसुख का प्रेमी होकर न किसी से राग करता है न किसीसे द्वेष करता है।

जिसका परिणाम वैराग्य युक्तहोगा वही आत्मध्यान कर सकेगा क्योंकि ध्यान चित्तकी एकाग्रता को कहते हैं, आत्मरुचि व आत्मप्रेम ही चित्तको आत्मा में जोड़नेका सच्चा व अचूक उपाय है। जैसा श्री पूज्यपाद स्वामी समाधिशतक में कहते हैं—

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते॥

भावार्थ—जिस पदार्थ को बुद्धिसे निर्णय कर लिया जायगा उसी पदार्थ में श्रद्धा या रुचि जम जायगी तथा जिसमें रुचि हो जायगी उसीमें ही चित्त स्वयं लय होने लगता है व जमने लगता है। वास्तव में ध्यान के लिए यह बहुत आवश्यक है कि हमको आत्मद्रव्यका, आत्म के गुणों का तथा आत्माकी पर्यायोंका विश्वास हो। हमको यह दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि जैसा पानी मिट्टीसे जुदा निर्मल है वैसा मेरा आत्मा आठ कर्ममल, शरीर व रागादि भाव मलोंसे दूर, परमनिर्मल सिद्ध भगवानके समान मात्र एक ज्ञाता दृष्टा अमूर्तीक, परमवीतराग आनन्दमई पदार्थ है। मैं वास्तवमें ऐसा ही हूं। इसी निश्चय सहित ज्ञान में चित्त को रोकना आत्मध्यान कहलाता है।

साधारण उपाय ध्यान करनेका यह है कि हम एकांत स्थान में जहां कोलाहल न हो जाकर बैठजावें और थोड़ी देर निश्चिन्त हो जावें, सब कामों से फुरसत कर लेवें और अपने आत्माको निर्मल जलके समान देखें। जैसे घड़े में जल भरा होता है वैसे अपने शरीर में पुरुषाकार अपने आत्मा को देखें, चुपचाप देखते रहें और अपने मनको उस आत्मरूपी जल में डुबा दें।

जब चित्त हटने लगे तब नीचे लिखे मंत्रोंमें से किसी मंत्र को जपने लगें। बीच बीच में मंत्र के अर्थको भी विचारने लगें फिर अपने मनको उसी आत्मरूपी जलमें डुबो देवें। इस तरह बार बार अभ्यास करनेसे हमारा ध्यान और सब बातोंसे हटकर एक आत्मा पर ही रुक जायगा, बहुत कालके अभ्यास में विरक्तता बढ़ती जायगी। जैसा कहा है–

सोऽहमित्यात्तसंस्कारः तस्मिन् भावनया पुनः।
तत्रैव दृढसंस्काराल्लभतेह्यात्मनि स्थितिम्॥

भावार्थ—मैं शुद्धात्मा हूं इस तरह बार बार विचार करता हुआ जब ऐसा संस्कार होजाता है तब उसीमें बारबार भावना करने से और भी दृढ़ हो जाता है फिर यह अभ्यासी निश्चय से आत्मामें थिरता प्राप्त कर लेता है।

द्रव्य संग्रह में नीचे लिखे खास मंत्र जपके लिए बताये हैं—

पणतीस सोल छप्पण चदु दुगमेगं च जवह झाएह।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरुवएसेण॥

भावार्थ—श्री अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पांच परमपदके धारी पंचपरमेष्ठीको बताने वाले नीचे लिखे मंत्रोंको व गुरुके उपदेश से और भी मंत्रों को जपे तथा ध्यावे।

(१) णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं। ३५ अक्षरी मंत्र।

(२) अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः।
१६ अक्षरी मंत्र।

(३) अरहंत सिद्ध=६ अक्षरी मंत्र।

(४) अ सि आ उ सा=५ अक्षरी मंत्र।

(५) अरहंत=४ अक्षरी मंत्र।

(६) सिद्ध, सोहं, ॐ ह्रीं=२ अक्षरी मंत्र।

(७) ॐ=१ अक्षरी मंत्र।

अ (अरहंत)+अ (अशरीर या सिद्ध)+आ (आचार्य)+उ (उपाध्याय)+म् (मुनि या साधु) ओम् या ॐ।

ध्यान के लिए विशेष विचार

(१) **काल का विचार**—ध्यान करनेके लिए प्रातः काल, मध्याह्नकाल व सायंकाल तीन समय ठीक है। छः छः घड़ी हर समय ध्यान का समय है। जब सवेरा हो उससे तीन घड़ी पहले से तीन घड़ी बाद तक, दोपहरको तीन घड़ी पहले से तीन घड़ी बाद तक, संध्या को तीन घड़ी पहले से तीन घड़ी बाद तक। एक घड़ी २४ मिनट की होती है इसलिए छः घड़ी २ घंटे २४ मिनट की हुई। यदि ध्यान छः घड़ी करना हो तो इस तरह वर्ते। यदि ४ घड़ी ही ध्यान करना हो तो दो घड़ी इधर से दो घड़ी उधर तक लेले। यदि २ घड़ी ही करना हो तो १ घड़ी पहले से १ घड़ी बाद तक ले। यह उत्तम विधि है। मध्यम यह है कि यदि छः घड़ी से कम करना हो तो यह ध्यान में रक्खे कि सूर्योदय, मध्याह्न व संध्या के समय ध्यान में बैठा हो। जघन्य यह है कि दो घड़ी या कुछ अधिक करनाहो तो हर तीन समयों में छः घड़ी के समय के भीतर ध्यान कर डालें। इसके सिवाय रात्रि को भी बारह बजे या अन्य किसी भी समय ध्यान किया जा सकता है।

(२) **स्थान का विचार**—ध्यान करने के लिए स्थान ऐसा होना चाहिए जहां क्षोभ न हो, कोलाहल न हो, दुष्ट लोगों का, वेश्याओं का, स्त्रियों का, नपुंसकों का आना जाना न हो। आस पास गाना-बजाना न होता हो, दुर्गंध न आती हो, न बहुत गर्मी हो, न सरदी हो, न जानवरों का भय हो, न डांस मच्छरों का अधिक संचार हो, ऐसा योग्य व निराकुल स्थान ध्यान के लिए तलाश कर लेना चाहिए। ध्यान करते हुए विघ्न न हो ऐसा स्थान ढूंढना उचित है। मुख्य व उत्तम स्थान नीचे प्रकार हो सकते हैं—(१)सिद्धक्षत्र, (२)तीर्थंकरोंके पंचकल्याणकके स्थान, (३) समुद्र का तट, (४) वन, (५) पर्वत का शिखर, (६) नदी तट, (७) नगर के बाहर कोट पर, (८) नदियों के संगम पर, (९) जलके मध्य द्वीप या भूमि पर, (१०) पुराना वन, (११) स्मशान के निकट, (१२) पर्वत की गुफा, (१३) जिन मन्दिर, (१४) शून्य घर, (१५) पृथ्वी की तलहटी, (१६) वृक्षों का समूह इत्यादि। जैसा कहा है—

यत्र रागादयो दोषा अजस्रं यान्ति लाघवम्।
तत्रैव वसतिः साध्वी ध्यानकाले विशेषतः ॥८॥

भावार्थ—जिस स्थान में रागादि दोष शीघ्र ही दूर हो जावें वहीं बैठना उचित है—ध्यान के समय में तो विशेष करके वहीं बैठें।

(३) **संथारे का विचार**—निराकुल स्थान पर चटाई का आसन पाटा, पाषाण की शिला आदि पर या मात्र भूमि पर ही ध्यान करे। जैसा कहा हैं—

दारुपट्टे शिलापट्टे भूमौ वा सिकतास्थले।
समाधिसिद्धये धीरो विदध्यात्सुस्थिरासनम् ॥९॥

भावार्थ—धीरवीर समाधि की सिद्धि के लिए काष्ठ का तखता, शिला, बालुरेतका स्थान या भूमि इनमेंसे किसी में भले प्रकार स्थिर आसन जमावे।

(४) आसन का विचार—

आसन शरीर को जमाकर रखता है इसलिए किसी न किसी आसन से बैठकर या खड़े होकर ध्यान करना चाहिए। कहा है—

पर्यंकमर्द्धपर्यंकवज्रं वीरासनं तथा।
सुखारविन्दपूर्वं च कायोत्सर्गश्च सम्मतः ॥१०॥
येन येन सुखासीना विदध्युर्निश्चलं मनः।
तत्तदेव विधेयं स्यान्मुनिभिर्बन्धुरासनम् ॥११॥
कायोत्सर्गश्च पर्यंङ्कः प्रशस्तं कैश्चिदीरितम्।
देहिनां वीर्यवैकल्यात्कालदोषेण संप्रति ॥१२॥

भावार्थ—पर्यंक आसन, अर्द्धपर्यंक आसन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, कमलासन और कायोत्सर्ग ध्यानके योग्य आसन माने हैं। जिस किसी आसन से ध्यानी अपने मनको स्थिर कर सके उसी सुन्दर आसनको ले लेना चाहिए। इस समय काल दोष से शक्ति कम होने से कायोत्सर्ग और पर्यंक इन-२ आसनों को ठीक कहा है—

आसन जमाने से मन स्थिर हो जाता है। कहा है—

अथासनजयं योगी करोतु विजितेन्द्रियः।
मनागपि न खिद्यन्ते समाधौ सुस्थिरासनाः ॥३०॥
वातातपतुषाराद्यैर्जन्तुजातैरनेकशः।
कृतासनजयो योगी खेदितोऽपि न खिद्यते ॥३२॥

भावार्थ—इन्द्रियों को जीतने वाला योगी आसन को जीते। जिनका आसन स्थिर होता है उनको ध्यान करते हुए खेद नहीं

होता है। आसन को जीतने वाला योगी पवन धूप, पाला आदि से तथा पशुओं से अनेक तरह पीड़ित किये जाने पर भी खेद नहीं मानता है।

जो पवन पर्वतों को उड़ा दे ऐसे पवन के चलने पर आसनसे बैठा हुआ कभी नहीं डिगता है। शरीरको स्थिर रखने का बड़ा सुन्दर उपाय आसन का जीतना है।

सीधे बैठना, अपने दोनों चरणों को एक दूसरे की जांघ के ऊपर रखना, दोनों हाथ गोद में रखना, बाएं हाथ के ऊपर दाहना रखना, आंखें निश्चल रहें, उनकी सोध नाशिका के अग्र भाग पर हो। इसका मतलब यह नहीं है कि नाककी नोक को देखे परन्तु यदि कोई देखे तो मालूम पड़े कि दृष्टि नाककी सीध पर है, दोनों होठ न बहुत खुले हों न मिले हों मन बड़ा प्रसन्न हो, इस आसन को लौकिक में पद्मासन कहते हैं। जैसे उत्तर हिन्दुस्तान में दि० जैन मन्दिरों में प्रतिमा का आसन होता है। जहाँ एक पग जांघके नीचे व दाहना पग जांघके ऊपर रहे, शेष सब बातें पद्मासन के समान हों उसको अर्द्ध पद्मासन कहते हैं। दक्षिण में इस आसन में मूर्तियां मिलती हैं। वहां इस ही को पल्यंकासन कहते हैं। जैनबद्री के दौर्बलि जिनदास शास्त्री ने पद्मासन, पल्यंकासन व कायोत्सर्ग के श्लोक इस प्रकार लिखाए थे—

समपादौ क्षितौ स्थित्वा चोर्ध्वजानुगतौ करौ।
प्रसार्य ऋजुमूर्तिः स्यात् दण्डासनमितीरितं ॥

भावार्थ—जहां पैरों को बराबर जमीन पर जमाया जावे, आगेके (एक दूसरेसे चार अंगुल की दूरी रहे) अपने दोनों हाथ

लटके हुए जंघा तक चले आवें व सीधी मूर्तिरूप खड़ा रहे उसको दण्डासन व कायोत्सर्ग आसन कहा गया है

उत्तानवामचरणं दक्षिणोर्वि विन्यसेत् ।
उत्तानयाम्यचरणं वामोर्वि निवेसयेत् ॥
तन्मध्याधोर्ध्वगोत्तानवामवामेतरौ करौ ।
स्थित्वा निश्चलयोगेन नासाग्रमवलोकयेत् ॥
इदं पद्मासनं प्राहुः मुख्यं पूजादिकर्मसु ।

भावार्थ—बाएँ चरण को उठाकर दाहिनी जांघ पर रक्खे व दाहने चरण को उठाकर बाईं जांघ पर धरे, उनके मध्य में नीचे बायाँ हाथ रखके ऊपर दाहना हाथ रक्खे तथा निश्चल बैठे और नासाग्र दृष्टि हो सो पद्मासन कहा गया है। पूजा आदि कार्यों में यह मुख्य है।

वामपादस्य गुल्फेन याम्यपदगुल्फकं न्यसेत्,
तस्योर्ध्वाधः स्थितोत्तानवामोत्तरकरोपरे ।
वामोत्तरं करं स्थित्वा नासाग्रमवलोकयेत्,
पल्यंकासनमित्याहुः सर्वपापनिवारणं ॥

भावार्थ—बाएँ पैर की गुल्फ या टोहनी के साथ मिलाकर दाहने पैर की टोहनी को बाएँ पगकी जांघ पर रक्खे फिर गोदमें बाएँ हाथके ऊपर दाहना हाथ रक्खे। नासाग्र देखे सो पल्यंकासन सर्व पाप दूर करने वाला है।

मल्लिषेण कृत विद्यानुवाद मंत्र शास्त्र में लेख है कि २४ तीर्थंकर पल्यंकासन तथा कायोत्सर्गासनसे मोक्ष गए। जैसे—

ऋषभस्य वासपूज्यस्य नेमेः पल्यंकबन्धता ।
कायोत्सर्गस्थितानां तु सिद्धिः शेषजिनेशिनां ॥

अर्थात् ऋषभदेव, वासपूज्य तथा नेमिनाथ तो पल्यंकासनसे मोक्ष गए शेष २१ जिन कायोत्सर्ग से मोक्ष गए।

इस काल में ध्यान करने वालेको पद्मासन, पल्यंकासन तथा कायोत्सर्ग इन तीन आसनोंको काम में लेना चाहिए तथा किसी एक आसन का खूब अभ्यास कर लेना चाहिए। आसन ऐसा जमावे कि देखने वाले को चित्राम सा मालूम हो।

पंडित जयचन्दजी कहते हैं—

आसन विदृढ़तें ध्यान में, मन लागे इकतान।
तातें आसन योगकूं, मुनि कर धारें ध्यान॥

ध्यान समायिक के साथ करना उचित है।

सामायिक की विधि

यह विधि सामान्य व सुगम लिखी जाती है जिसको हर-एक समझकर अभ्यासमें ला सकती है।

पहले ही मनको और कामोंमें हटाकर स्वस्थ करले, वचन के बोलने की व कायसे अन्य काम करने की इच्छा को रोकले व शरीर को अशुचि व गंदगीसे साफ करले। पवित्र वस्त्र जितने कम पहने उतना ठीक है। जिसमें शरदी गर्मी की बाधा न हो ऐसा होकर मन वचन काय शुद्धकर ठीक समय पर अर्थात् प्रातः काल, मध्यान्ह या सायंकाल एकान्त निराकुल स्थान में जाकर किसी आसनको बिछाकर या भूमिमें ही पूर्व या उत्तरकी ओर मुख करके खड़ा हो क्योंकि अभ्यासी के लिए पूर्व या उत्तर दिशा की तरफ होकर ध्यान करना शास्त्र में कहा है। यद्यपि अन्य दिशा में भी ध्यान का सर्वथा निषेध नहीं है। जैसा ज्ञानार्णव के इन श्लोकों से सिद्ध होता है—

पूर्वाशाभिमुखः साक्षादुत्तराभिमुखोऽपि वा।
प्रसन्नवदनो ध्याता ध्यानकाले प्रशस्यते॥

चरणज्ञानसम्पन्ना जिताशा वीतमत्सराः।
प्रागनेकास्ववस्थासु संप्राप्ता यमिनः शिवम् ॥

भावार्थ—ध्यानके समय ध्याता को प्रसन्नमुख रखकर पूर्व या उत्तरको मुख करना चाहिए, यह प्रशंसनीय है तथापि ज्ञान और चारित्रके धारी, जितेन्द्रिय, मानादि रहित ऐसे साधु पूर्वकालमें अनेक अवस्थाओं से मोक्ष गए हैं, उनके दिशा का नियम नहीं था। पहले हाथ लटकाए हुए नौ दफे णमोकार मंत्र अपने मनमें पढ़े, फिर मस्तक भूमिमें लगाकर नमस्कार करे। तब मन में यह प्रतिज्ञा करले कि जबतक इस आसनसे नहीं हटूंगा तबतक या इतने समय तक सर्व अन्य परिग्रहका त्याग है, जो कुछ मेरे पास है उसके सिवाय तथा चारों तरफ एक-२ गज भूमिको रखकर सब भूमिको भी त्यागता हूँ। फिर कायोत्सर्ग खड़ा होकर तीन दफे या नौ दफे णमोकार मंत्र पढ़कर तीन आवर्त और एक शिरोनति करे। दोनों हाथ जोड़कर अपने बाएँसे दाहनी तरफ तीन दफे घुमावे। फिर उन जोड़े हुए हाथों पर अपना मस्तक झुकावे। इसका प्रयोजन यह है कि इस तरफ जितने वंदनीय तीर्थ व धर्मस्थान व अरहन्त व साधु आदि हैं उनको मन, वचन, काय तीनों से नमस्कार करता हूँ। फिर अपने दाहने खड़ा-खड़ा हाथ लटकाए हुए मुड़ जावे। इधर भी नौ या तीन दफे णमोकार मंत्र पढ़कर तीन आवर्त और एक शिरोनति करे, फिर पीछे, फिर चौथी तरफ, इसी तरह करे। पश्चात् जिधर पहले मुख करके खड़ा हुआ था उधर ही आकर बैठ जावे। पद्मासन, पल्यंकासन जमाले या कायोत्सर्ग ही रहे। सबसे पहले सामायिक पाठ मनमें अर्थ विचार करता हुआ

मंदस्वरसे पढ़ जावे । पाठ पढ़नेसे मन सब तरफसे खिंच आवेगा व तत्वकी भावना हो जावेगी । इस पुस्तक में १२० श्लोकों का बड़ा सामायिक पाठ है, जो थिरता हो तो इसीको पढ़ जावे । अर्थ समझ सके तो संस्कृत मात्र पढ़े नहीं तो हरएक श्लोक में भाषा छन्द दिए हुए हैं उन १२० भाषा छन्दोंको पढ़ जावे । यदि थिरता न हो तो छोटा सामायिक पाठ बत्तीस श्लोकों का पढ़े जो इस पुस्तकके अन्तमें संस्कृत और उनके भाषा छन्द सहित दिया हुआ है । फिर णमोकार मन्त्र को या अन्य किसी मंत्रकी जाप १०८ बार एक दफे या कई दफे जपे । जाप जपनै को माला भी दाहने हाथमें ले सकता है जिसको अंगूठेके पासकी उंगली पर लटकावे व मंत्र एक-एक दाने पर पढ़ता हुआ अंगूठे से सरकाता जावे या हाथकी अंगुलियों से ही जप सकता है । एक हाथमें १२ खाने हैं उनको पूर्णकर दूसरे हाथ के एक खाने पर अंगूठा रखता रहे, इस तरह जब बाएँ हाथके नौ खाने पूरे हो जावें तब एक जाप हो जावे । जप करते हुए हाथों को फैलाकर काममें ले सकता है । तीसरी रीति जप करने की यह भी है कि एक कमल आठ पत्तेका हृदयस्थान में बनाले, हरएक पत्ते पर बारह बिन्दु रखले, बीचमें भी घेरे में बारह बिन्दु रखले तब १०८ बिन्दुओं का कमल हो गया । अब एक-एक पत्ते को लेता हुआ बाईं तरफसे दाहिनी तरफ जपता हुआ आवे या पहले पूर्व दिशा के पत्तेके १२ बिन्दु पर १२ दफे मंत्र जप जावे फिर पश्चिमके पत्ते पर, फिर दक्षिणके, फिर उत्तरके पत्ते पर जपकर पूर्व दक्षिण के कोनेके पत्तेको जपे, फिर दक्षिण पश्चिम के, फिर पश्चिम उत्तरके, फिर उत्तर पूर्वके पत्ते पर, फिर बीचके बारह

बिन्दुओं पर जप जावे । यह मनको जाप चित्तको अधिक एकाग्र रखने वाली है ।

कमल की जाप का चित्र

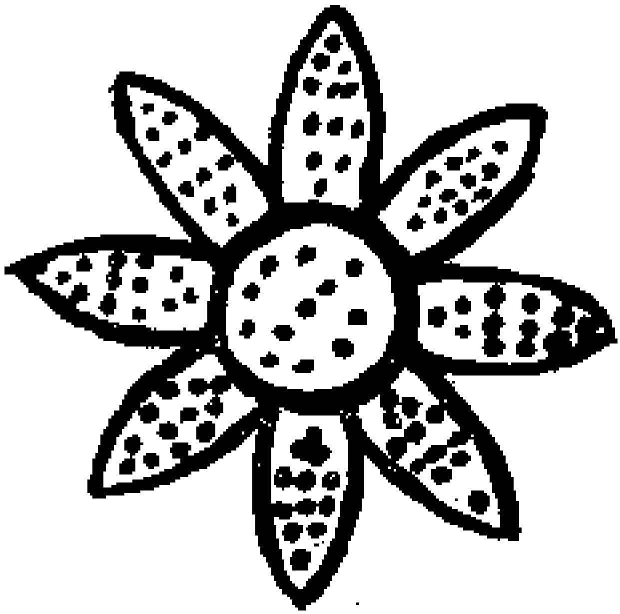

जापके पीछे ध्यानका अभ्यास करे, सुगम रीति यह है कि अपने शरीर को एक घड़ा माने और अपने आत्मा को निर्मल गंगाजल माने और उसमें मनको बार-बार डुबाने का अभ्यास करे। जब मन हटे तब ॐ या सोहं या अर्हं या सिद्ध ऐसा कोई मन्त्र जपले या आत्मा के शुद्ध गुणों का चिन्तवन करले, ऐसे बारबार मनको डुबानेका अभ्यास करे । दूसरी रीति अनेक हैं। श्री ज्ञानार्णवजी में चार प्रकार ध्यान बताया है इनमें से किसी एक रीतिको लेकर ध्यान करें। वे चार प्रकार ध्यान हैं—(१) पिंडस्थ ध्यान, (२) पदस्थ ध्यान, (३) रूपस्थ ध्यान, (४) रूपातीत ध्यान।

इसका वर्णन आगे देते हैं। जब ध्यान कर चुके तब फिर कायोत्सर्ग खड़ा हो जावे या खड़ा हो तो वैसे ही नौ दफे णमोकार मंत्र पढ़े और अंतिम दंडवत करके सामायिक विधिको पूर्ण करे।

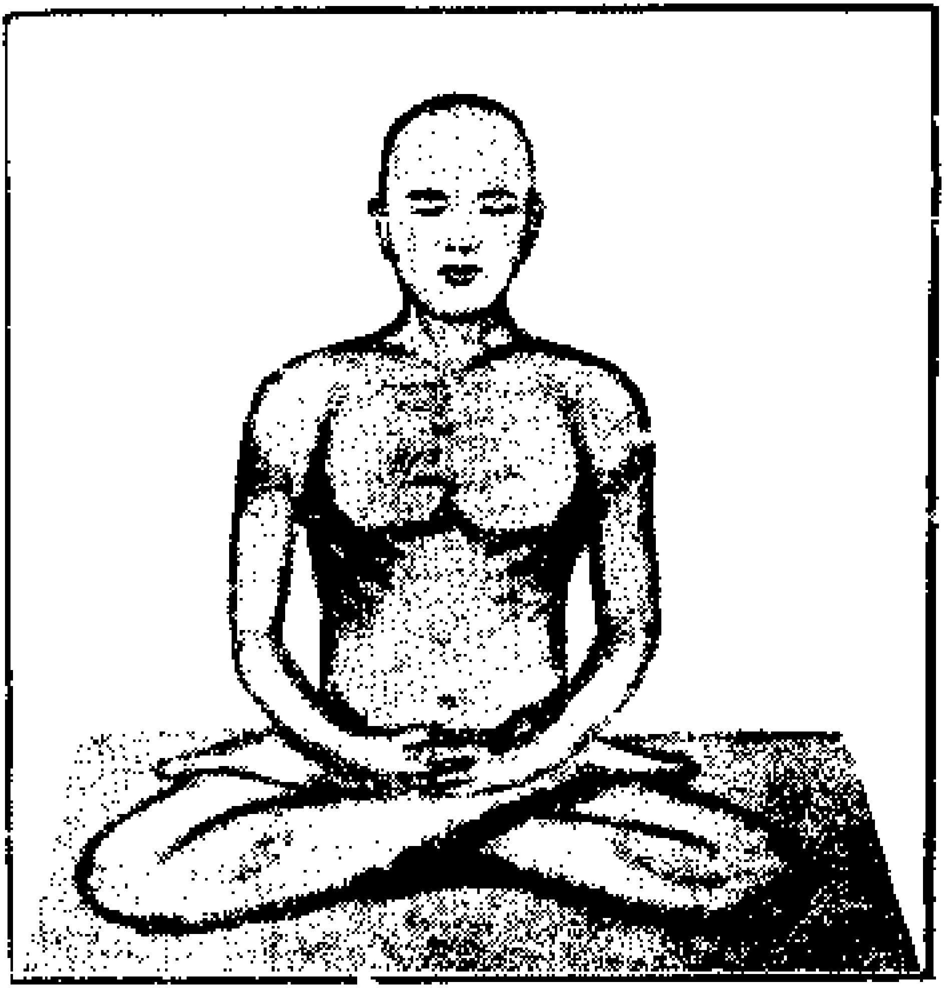

एकांत-सेवन विचार

एक ज्ञानी आत्मा विचारता है कि वस्तु का जो स्वभाव है वही मेरा धर्म है। इस आत्मा का स्वभाव चैतन्यमयी दर्शन ज्ञान का धारक अमूर्तिक है। लेकिन वह अनादि कर्म बन्धन के कारण से चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण करता हुआ अनंत काल अनेक पर्यायें धारण करता फिरा है इसलिए इसको परपदार्थों से भिन्न अनंत दर्शन ज्ञानमयी सच्चिदानंदरूप सम्यग्दर्शन है, और जो न्यूनाधिकता रहित सूक्ष्म भेदों सहित जाना जाता है वह सम्यग्ज्ञान है, और जो स्वरूप में लीन हो जाना सो सम्यक्चारित्र है इसलिए निश्चय से मेरा धर्म आत्म-स्वरूप है। इसको बिना पहिचाने मेरा निस्तारा नहीं होगा।

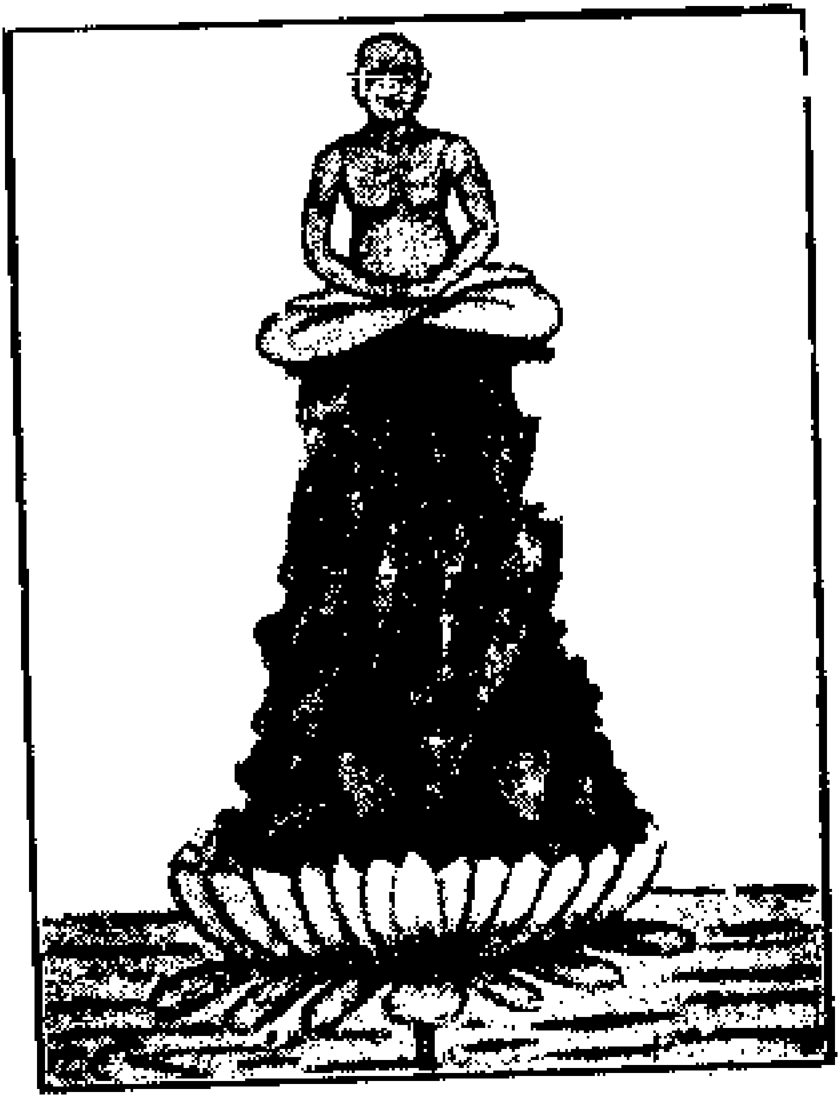

पृथ्वी धारणा।

मैं एकांत में बैठ कर विचारता हूं कि यह संसार समुद्र के समान जीवों से भरा है। समुद्र जल से भरा है। उसमें १००० पत्तों का कमल है। बीच में सुमेरु पर्वत समान मेरु है। उसके ऊपर एक चौकी विराजमान है। उस पर बैठा हूं और विचारता हूं कि सब सांसारिक झगड़ों से बच कर इस शरीर पुद्गल से शुद्ध होने का उपाय करूं ताकि भव-भ्रमण से छूट जाऊं।

अग्नि धारणा।

जो नाभि-कमल है इसके बीच में अग्नि विराजमान है। इसको रेफ से ज्ञानमई अग्नि निकलकर कर्मरूपी कमल को जलाने लगी है। इस समय शांत भाव से मन को इसी में जोड़े रहना चाहिए, और स्वाहा स्वाहा बोलते रहना चाहिए।

अग्नि विस्तार ।

कर्मरूपी कमल को जलाती हुई अग्नि मस्तक पर आकर तीन भाग होकर शरीर के चारों तरफ जलने लगी है। मस्तक पर और जंघाओं पर ॐ विराजमान का विचार करें तीनों जगह से अग्नि प्रज्वलित हो रही है।

पूर्ण अग्नि

अन्दर की अग्नि ने कर्मरूपी कमल को भस्म कर दिया। जो शरीररूपी पुद्गल है उसको बाहर की अग्नि भस्म कर रही है। आत्मा शांत भाव में ध्यान में लीन है।

शरीर रूपी राख की ढेरी ।

कर्मरूपी कमल को और शरीररूपी पुद्‌गल को ज्ञानमई अग्नि ने भस्म कर दिया है । आत्मा शरीर रूपी भस्म में छिपी है, ऐसा विचार करना चाहिए ।

वायु धारणा।

ज्ञानमई आत्मा विचारती है कि वायु वेग से चल रही है। शरीर रूपी भस्म को उड़ा रही है, और शरीर-प्रमाण आत्मा शांत बैठा है।

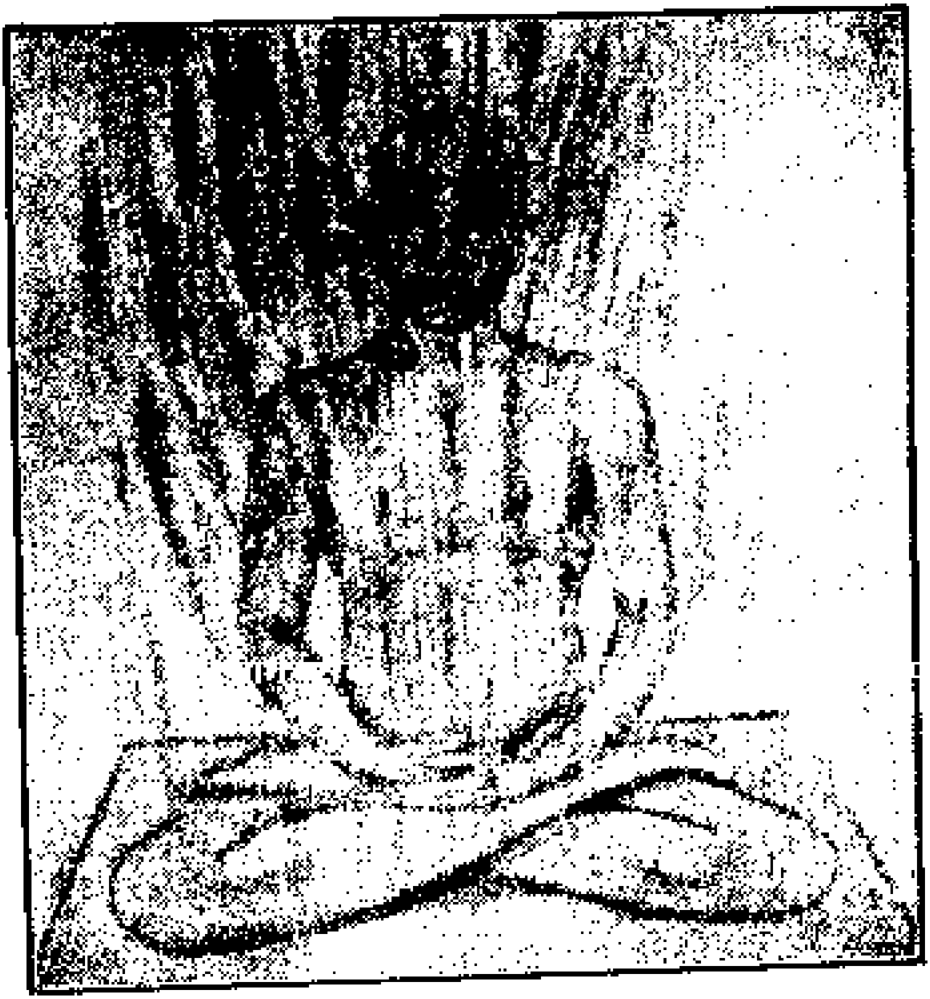

जल धारणा।

ज्ञानी आत्मा विचारता है कि चारों तरफ बादल घिर आये हैं। पानी वेग से गिर रहा है। जो कुछ कर्म रूपी और शरीर रूपी रज आत्मा में है इसको धोकर साफ कर रहा है। आत्मा शांत ध्यान में मग्न है।

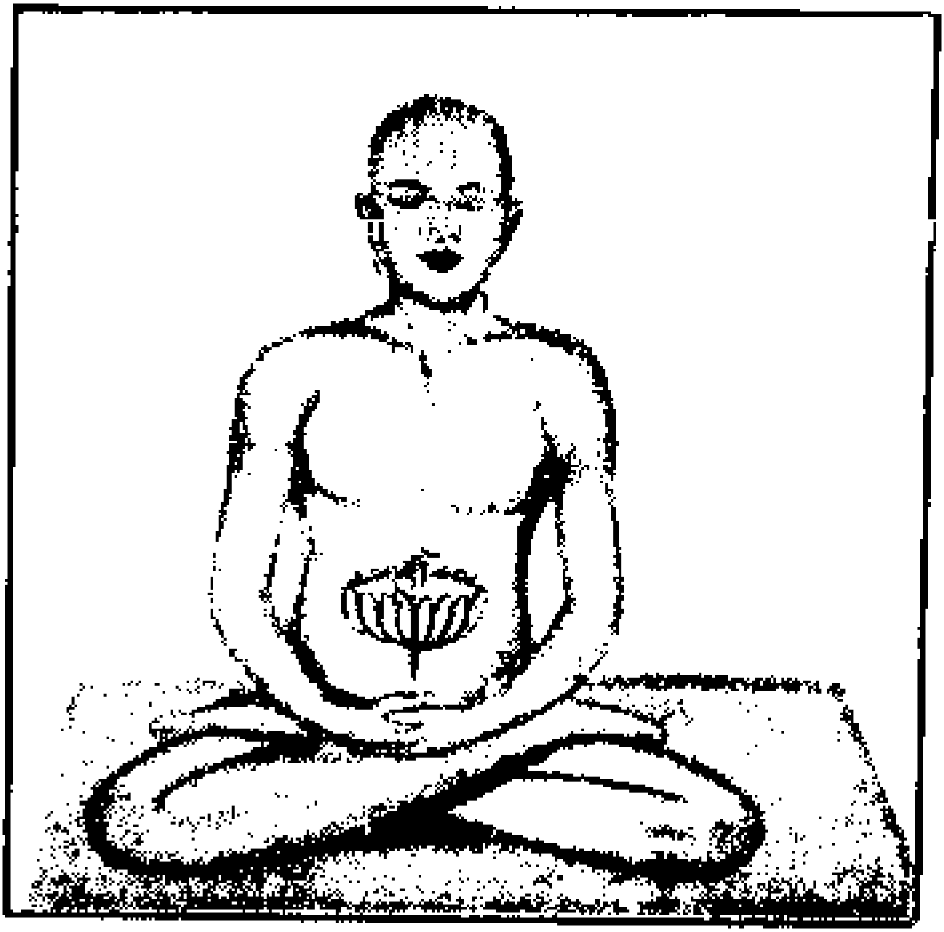

कमल धारणा ।

मैं उस चौकी पर बैठा विचारता हूं कि मेरे नाभि-स्थान पर सोलह पत्तों का श्वेत रंग का कमल खिला हुआ है, जो बहुत विस्तार में फैला है, तथा जो शुद्ध और साफ है। मैं अपनी ज्ञान दृष्टि उस पर जमा कर देखता हूं।

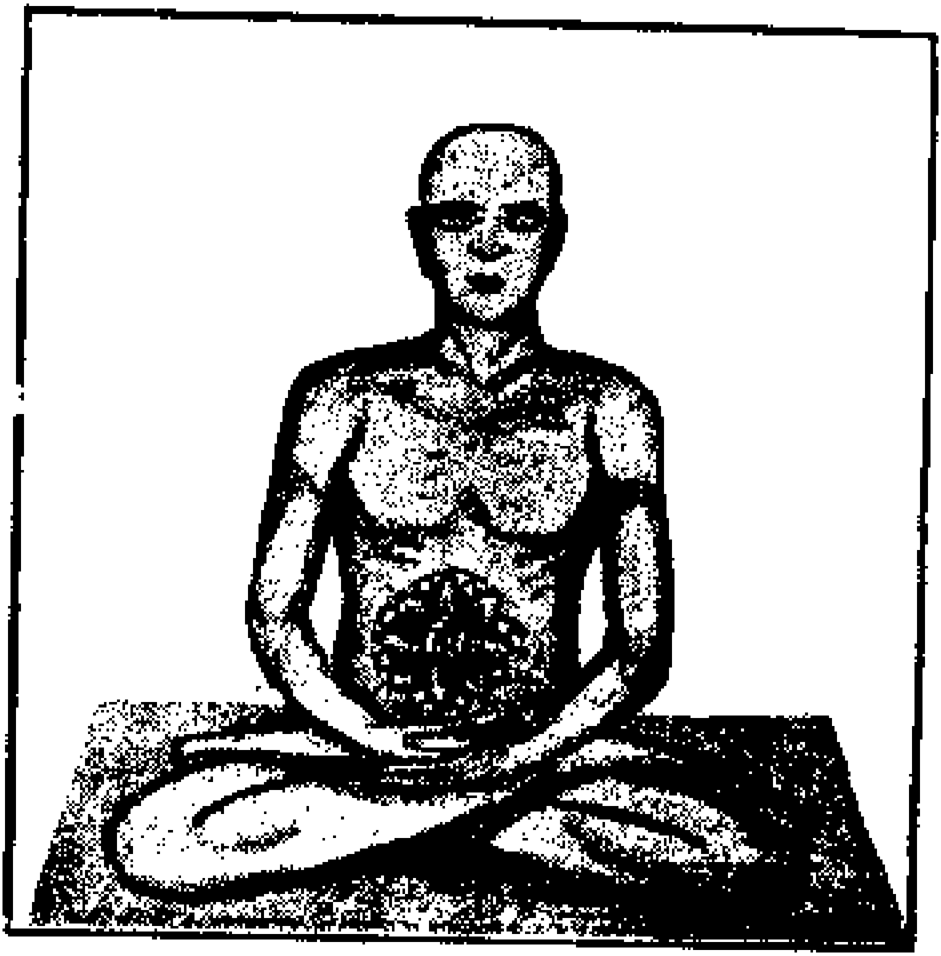

बिन्दु धारणा ।

मेरे नाभि-कमल में जो खिले हुए पत्ते हैं उनमें हर एक पत्ते पर पील रंग के बिन्दु हैं, जो हर एक पत्ते पर बारह-२ हैं। बीच के भाग में भी १२ हैं, और बीच में ह्रीं अक्षर है। वही मूल मैं हूं। मैं बिन्दु के ऊपर दृष्टि रख कर जप करता हूं। मेरा मन्त्र है स्वाहा-२।

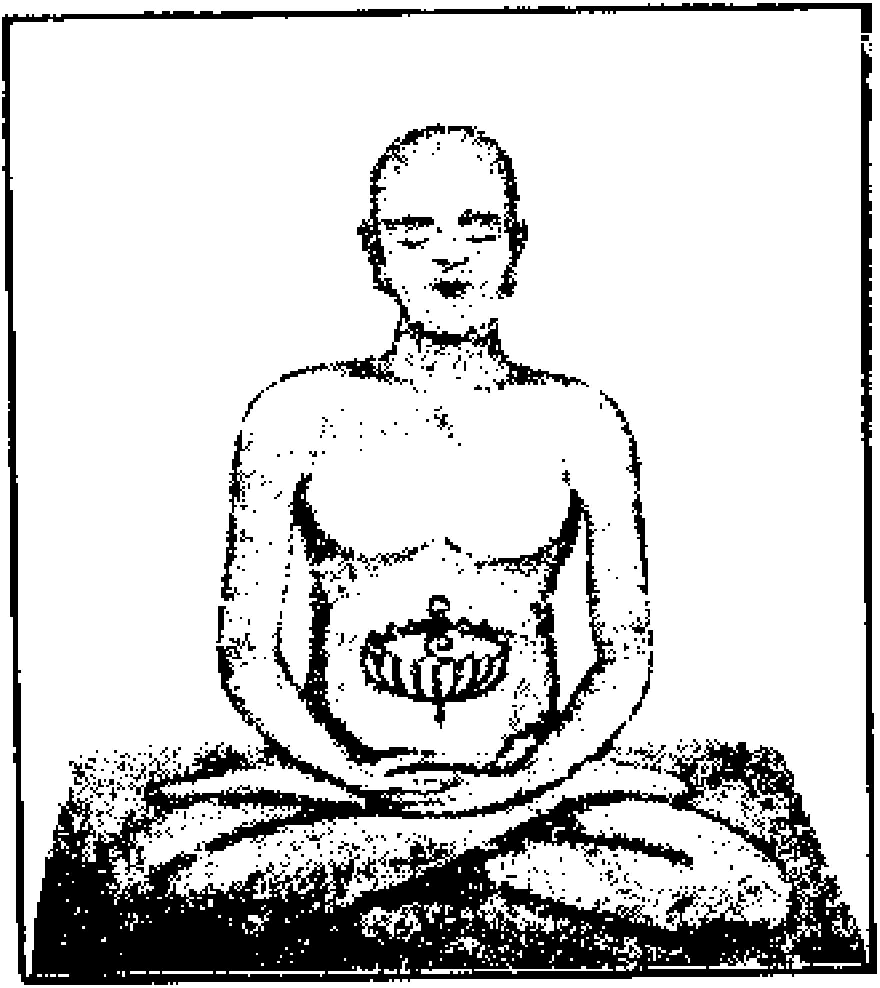

हूँ ।

जो नाभि-कमल में विराजमान है, जो प्रकाशमान चमक रहा है। मैं उसी में अपने मन को रोकता हूं। और विचारता हूं कि शरीर भर में प्रकाश हो रहा है।

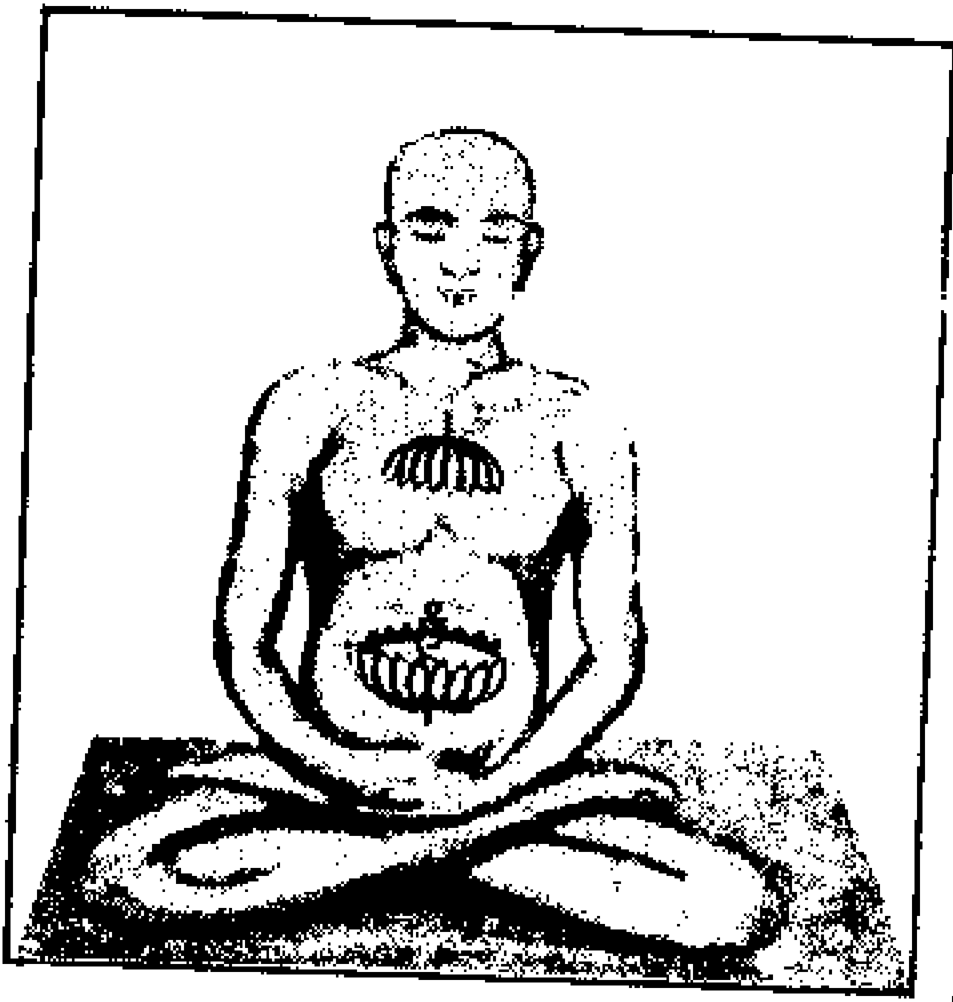

कर्मरूपी कमल ।

मेरी आत्मा के संग आठ कर्म अनंत काल से लगे हैं। ये ही मेरे ज्ञान को ढांकते हैं। मैं उनको कमल के रूप में एकत्र कर हृदय-स्थान में स्थापन कर भावना रूपी ध्यान की अग्नि में उन्हें जलाना चाहता हूँ।

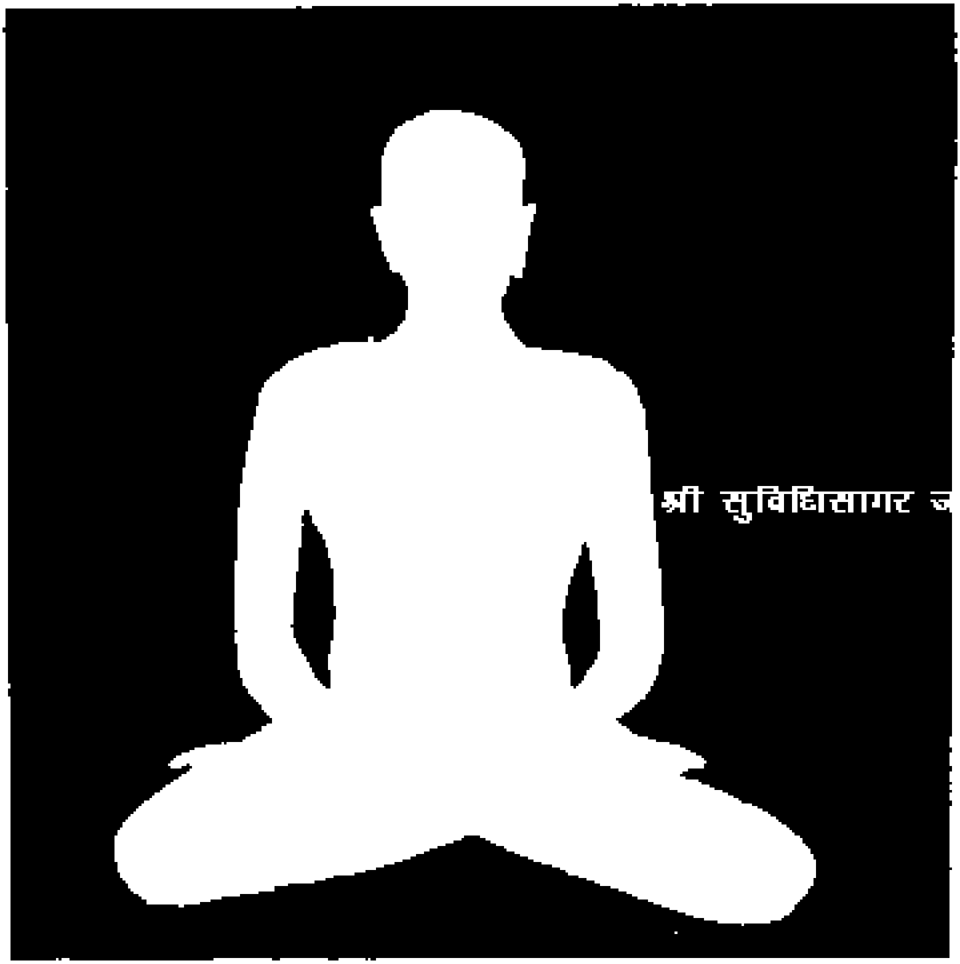

शुद्ध भावना

ज्ञानी आत्मा विचारता है। कि आत्मा के जो अनादि काल से आठ कर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि लगे हैं, और इन्हीं के कारण अनेक शरीर धारण कर भटक रहा था, वे सब जल कर भस्म हो गए हैं। और शुद्ध जल से धोकर आत्मा साफ हो गया है। अब मैं शुद्ध निर्विकार आत्मा स्फटिक के समान हूँ। मैं उसी में मग्न हूँ।

''श्री १००८ भगवान आदि नाथ चौबीसी'' गनौला

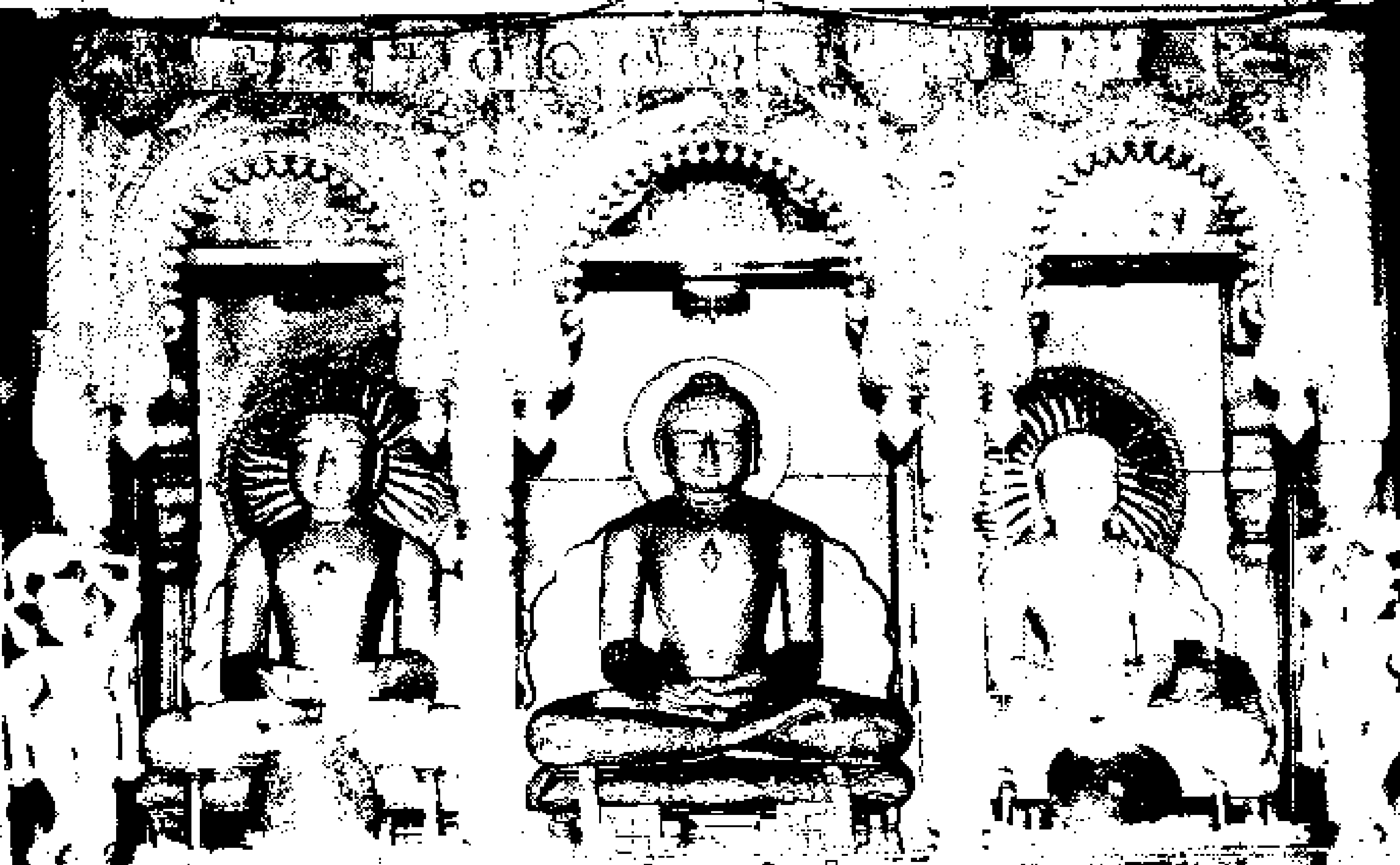

श्री महावीर जी

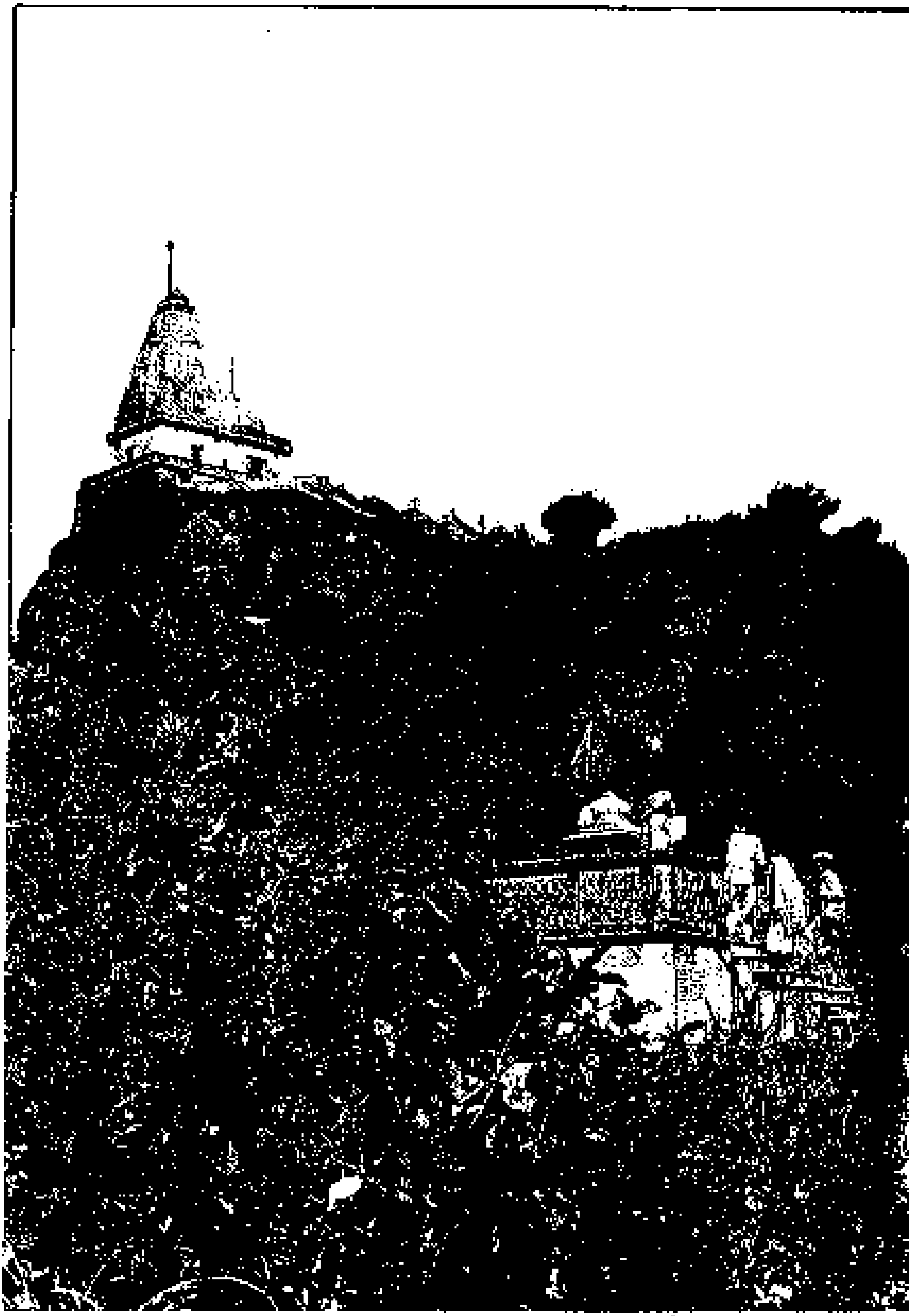

श्री पारस नाथ टोंक शिखर जी

(१) पिंडस्थ ध्यान का स्वरूप

पिंड शरीर को कहते हैं इसमें स्थित जो आत्मा उसको पिंडस्थ कहते है, उस आत्मा का ध्यान करना सो पिंडस्थ ध्यान है। इसके लिए पाँच धारणायें बताई गई हैं—(१) पार्थिवी, (२) आग्नेयी, (३) श्वसना या वायु, (४) वारुणी या जल, (५) तत्त्वरूपवती। इनको क्रम-२ से अभ्यास में लावें।

(१) पार्थिवी धारणा का स्वरूप।

इस मध्य लोक को क्षीर समुद्र समान निर्मल जल से भरा हुआ चिन्तवन करे, उसके बीच में जम्बूद्वीपके समान एक लाख योजन चौड़ा एक हजार पत्तों को रखने वाला ताए हुए सुवर्णके समान चमकता हुआ एक कमल विचारे। कमल के बीच में कर्णिका के समान सुवर्ण के पीले रंग का सुमेरु पर्वत चिन्तवन करे, उसके ऊपर पाण्डुक वन में पाण्डुक शिला पर स्फटिकका सफेद सिंहासन विचारे। फिर यह सोचे कि उस सिंहासन पर मैं आसन लगाकर इसलिए बैठा हूं कि मैं अपने कर्मों को जला डालूं और आत्मा को पवित्र कर डालूं। इतना चितवन बार-२ करना पार्थिवी धारणा है।

(२) आग्नेयी धारणा।

फिर वहीं सुमेरु पर्वत के ऊपर बैठा हुआ वह ध्यानी अपने नाभिके भीतरके स्थान में ऊपर हृदय की तरफको उठा हुआ व फैला हुआ सोलह पत्तों का कमल सफेद वर्ण का विचार करे और उसके हर एक पत्ते पर पीत रंग के सोलह स्वर लिखे हुए सोचे। अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः। इस

कमलके मध्य में जो कर्णिका सफेद रंग की है उसपर पीले रंग का ह्रँ अक्षर लिखा हुआ सोचे। दूसरा कमल ठीक इस कमल के ऊपर औंधा नीचे की तरफ मुख किए हुए आठ पत्तोंका फैला हुआ विचार करे। इसको कुछ मटीले रंग का सोचे, इसके हर एक पत्ते पर काले रंग के लिखे हुए आठ कर्म सोचे—ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, वेदनीय कर्म, मोहनीय कर्म, आयु कर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म और अन्तरायकर्म।

फिर नाभिके कमल के बीच में जो ह्रँ लिखा है उसके रेफसे धुआं निकलता विचारे, फिर अग्निकी शिखा होती हुई सोचे। यह अग्नि की लौ बढ़ती हुई ऊपरको आवे और आठ कर्मोंके कमल को जलाने लगे ऐसे सोचे। फिर यह अग्निकी लौ कमलके मध्य में छेदकर ऊपर मस्तक पर आ जावे और उसकी एक लकीर बाईं तरफ एक दाहिनी तरफ आ जावे फिर नीचे की तरफ आकर दोनों कोनों को मिलाकर एक अग्निमई लकीर बन जावे अर्थात् अपने शरीर के बाहर तीन कोनका अग्निमंडल हो गया ऐसा सोचे। आगकी लकीरों का त्रिकोण (triangle) बन गया ऐसा विचारे।

इसकी तीनों लकीरों में र र र र अग्निमय लिखा हुआ विचारे अर्थात तीनों तरफ र र अक्षरों से ही यह अग्नि मंडल बना है ऐसा सोचे। फिर इस त्रिकोण के बाहर तीनों कोनों पर स्वस्तिक (साथिया) अग्निमय लिखा हुआ व भीतर तीन कोनों में हर एक पर ॐ र्रं ऐसा अग्निमय लिखा हुआ विचारे। फिर सोचे कि भीतर तो आठ कर्मोंको और बाहर इस शरीर को यह अग्निमंडल जला रहा है। जलते-२ राख हो जाकर सर्व शरीर व कर्म राख हो गए तब अग्नि धीरे-२ शांत हो गई, इतना विचारना आग्नेयी धारणा है।

(३) श्वसना या वायुधारणा

फिर वही ध्यानी ऐसा चितवन करे कि चारों तरफ बड़े जोर से निर्मल पवन बह रही है व मेरे चारों तरफ वायु ने एक मंडल गोल बना लिया है, उस मंडलमें आठ जगह घेरेमें 'स्वाय स्वाय' सफेद रंग का लिखा हुआ है। फिर ऐसा सोचे कि यह वायु उस कर्म व शरीर की राख को उड़ा रही है व आत्मा को साफ कर रही है ऐसा ध्यान करे।

(४) वारुणी या जल धारणा

फिर वही ध्यानी विचार करे कि आकाश में मेघों के समूह आगए, बिजली चमकने लगी, बादल गरजनें लगे और खूब जोर से पानी बरसने लगा। अपने को बीच में बैठा विचारे, अपने ऊपर अर्ध चन्द्राकार पानी का मण्डल विचारे तथा प प प प जल के बीजाक्षर से लिखा हुआ चिन्तवन करे और यह सोचे कि यह जल मेरे आत्मापर लगे हुए धूलको साफ कर रहा है—आत्मा बिलकुल पवित्र हो रहा है।

(५) तत्त्वरूपवती धारणा

फिर वही ध्यानी चिंतवन करे कि अब मैं सिद्धसम सर्वज्ञ वीतराग परम निर्मल कर्म व शरीररहित मात्र चैतन्यात्मा हूं, पुरस्कार चैतन्य धातुकी बनी शुद्ध मूर्ति के समान हूं, पूर्ण चन्द्रमाके समान ज्योतिरूप दैदीप्यमान हूं।

यह पिंडस्थ ध्यान का स्वरूप है। इनमेंसे हरएक धारणाका क्रमसे अभ्यास करे। जब पाँचों का अभ्यास हो जावे तब हर दफे जब ध्यान करे तब इन पाँचों धारणाओं के द्वारा पिंडस्थ ध्यान को करे। अन्त में देर तक शुद्ध आत्मा का अनुभव करे। यह ध्यान वास्तव में कर्मों को जलाता है और आत्मीक आनन्द का

देने वाला है। पंडित जयचन्दजी ने कहा है--

चौ०—या पिंडस्थ ध्यान के माँहि, देह विषें चित आतम ताँहि।
चितवें पंच धारणा धारि, निज आधीन चित्तको पारि॥

(२) पदस्थ ध्यान का स्वरूप

पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते।
तत्पदस्थं मतं ध्यानं विचित्रनयपारगैः॥

भावार्थ—पवित्र पदों के सहारेसे जो ध्यान योगियोंके द्वारा किया जाता है वह पदस्थ ध्यान है ऐसा ज्ञानियों ने कहा है। पदों के सहारे शुद्ध आत्मा अरहंत या सिद्ध आदि या उनके गुणों का ध्यान करना सो पदस्थ ध्यान है। किसी नियत स्थान पर पदों को विराजमान करके उनको देखते हुए चित्त को जमाना तथा उनका स्वरूप बीच बीच में विचारते रहना। श्रद्धान यह रखना कि हम शुद्ध होने के लिए शुद्धात्माओं का ध्यान कर रहे हैं। इसके लिए अनेक पदों का ध्यान श्री ज्ञानार्णव जी में कहा है। यहाँ कुछ मंत्र बताए जाते हैं—

(१) वर्णमातृ का मंत्र।

ध्यान करने वाला अपनी नाभिमें जमे हुए एक सोलह पत्तों के कमलको सफेद रंगका चितवन करे इन पर अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ लॄ ए ऐ ओ औ अं अः इन सोलह स्वरोंको पीले रंगका लिखा हुआ व क्रम से पत्तों पर घूमता हुआ विचारे, फिर हृदय-स्थानमें चौबीस पत्तोंके कमलको सफेद रंगका विचारे। उसकी मध्य की कर्णिकाको लेकर पच्चीस स्थानोंपर पच्चीस व्यंजन पीले रंग के लिखे—

क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म। फिर मुखमें स्थित आठ पत्रोंके सफेद कमल पर पीले रंगोंके आठ अक्षरोंको लिखे व भ्रमण करता हुआ विचारे। वे हैं—य र ल व श ष स ह।

इस तरह तीनों कमलोंको देखता रहे व मन में श्रद्धा रक्खे कि ये सर्व श्रुतज्ञानके मूल अक्षर हैं, मैं जिनवाणी का ही ध्यान कर रहा हूँ।

(२) मन्त्रराज—ह्रीं

यह साक्षात् परमात्मा को व चौबीस तीर्थंकरों को याद दिलाने वाला है। पहले इसके दोनों भौंहोंके बीच चमकता हुआ जमाकर देखें फिर वह मुखमें प्रवेश करके अमृतको झरता हुआ, फिर नेत्रोंकी पलकों को छूता हुआ, मस्तकके केशों पर चमकता हुआ फिर चन्द्रमा व सूर्य के विमानों को छूता हुआ तथा ऊपर स्वर्गादिको लांघ कर जाता है और मोक्ष स्थान में पहुंच जाता है। इस तरह भ्रमण करता हुआ ध्यावे।

(३) प्रणव मन्त्र ॐ या ओम्

हृदय में सफेद रंगका कमल विचार करे, उसके मध्यमें ॐ को चंद्रमाके समान चमकता हुआ ध्यावे। इस कमलके आठ पत्रों पर तीन पर १६ स्वर या पांच पर २५ व्यंजन लिखकर चमकता हुआ ध्यावे। इस तरह ३३ अक्षरसे वेष्टित ॐ का ध्यान करे। इस चमकते हुए ॐ को नीचेके स्थानों पर भी विराजमान करके ध्यान करे। श्रद्धान रक्खे कि यह मंत्र अरहंतसिद्ध आदि पांच परमेष्ठीका वाचक मंत्र है, ध्यान करता हुआ मध्यमें इनके गुणों का भी चिंतवन कर सकता है।

दश स्थान—(१) मस्तक, (२) ललाट या माथा, (३) कान, (४) नेत्र, (५) नाककी नोक, (६) दोनों भौहोंका मध्य भाग, (७) मुख, (८) तालु, (९) हृदय, (१०) नाभि।

(४) णमोकार मन्त्र

हृदयस्थान में चंद्रमाके समान चमकता हुआ आठ पत्रों का कमल विचारे। उसके मध्यके कणिका के स्थान में "णमो अरहंताणं" को चमकता हुआ ध्यावे। फिर चार दिशाओंके चार पत्रों पर पूर्व पर "णमो सिद्धाणं" पश्चिम पर "णमो आइरियाणं" उत्तर की तरफ "णमो उवज्झायाणं" और दक्षिण की तरफ "णमो लोए सव्वसाहूणं" विराजमान करके क्रमसे ध्यावे। फिर चार कोनोंके पत्तों पर क्रमसे "सम्यग्दर्शनाय नमः" "सम्यग्ज्ञानाय नमः" "सम्यक्चारित्राय नमः" "सम्यगतपसे नमः" इन चार पदोंको ध्यावे। नौ पत्तों को क्रमवार बदलता हुआ ध्यान करता रहे। बीच-२ में स्वरूप चिन्तवन करता रहे।

(५) पंच परमेष्ठी ध्यान

अ, सि, आ उ, सा, ये पाँच अक्षर पांच परमेष्ठियोंके प्रथम अक्षर हैं, इनको चंद्रमाके समान चमकता हुआ पांच स्थानों पर पाँच कमलों के मध्य में स्थित ध्यावे।

(१) नाभिकमल के मध्य में अ।
(२) मस्तक के कमल में सि।
(३) कण्ठ के कमल पर आ।
(४) हृदय के कमल पर उ।
(५) मुख के कमल पर सा।

इस पदस्थ ध्यानके अभ्याससे भी चित्त अन्य विचारोंसे रुक कर धर्म ध्यानमें तल्लीन होता है। इसका अभ्यास करना परम हितकारी है। और भी बहुत से मंत्र हैं जिनका वर्णन श्री ज्ञाना-र्णवसे मालुम हो सकता है। पं [illegible] कहते हैं—

अक्षर पद को अर्थ रूप लै ध्यान में।
जो ध्यावें इम मंत्र रूप इकतानमें॥
ध्यान पदस्थ सु नाम कह्यो मुनिराजने।
जे यामें ह्वै लीन लहैं निज काजने॥

(३) रूपस्थ ध्यान

अरहंत भगवानके स्वरूपमें तन्मय होकर उनका ध्यान करना सो स्वरूपस्थ ध्यान है। किसी एक तीर्थंकरको—ऋषभ, पार्श्व, नेमि, या महावीर को विचारे। उनको नीचे प्रमाण ध्यावे।

(१) समवशरण के श्री मंडप में १२ सभायें हैं, उनमें चार प्रकार के देव, देवियाँ, मुनि आर्यिका, मानव व पशु सब बैठे हैं, तीन कटनी पर गंधकुटी है उसमें अंतरीक्ष चार अंगुल ऊंचे श्री अर्हंत प्रभु पद्मासन विराजमान हैं।

(२) जिसका परमौदारिक शरीर कोटि सूर्यकी ज्योति को मन्द करनेवाला है, जिसमें मांस आदि सात धातुएँ नहीं हैं। परम शुद्ध रत्नवत् चमक रहा है।

(३) प्रभु परम शांत, स्वरूप मग्न विराजमान हैं, जिनके सर्व शरीर में वीतरागता झलक रही है।

(४) श्री अरहंत भगवानके क्षुधा, तृषा, रोग, शोक, चिंता रागद्वेष, जन्म, मरण आदि अठारह दोष नहीं हैं।

(५) जिनके ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से अनंतज्ञान प्रगट हो गया है, जिससे सर्वलोक अलोकको एक समयमें जान रहे हैं। दर्शनावरणीय कर्मके क्षय से अनंतदर्शन प्रगट हो गया है जिससे लोकालोक को एक समय में देख रहे हैं। मोहनीय कर्मके क्षयसे क्षायिक सम्यग्दर्शन व यथाख्यात चारित्र या वीतरागत्व प्रगट हो रहा है। अन्तरायकर्मके क्षयसे अनंतवीर्य, अनंतदान, अनंतलाभ, अनंतभोग, अनंतउपभोग, प्रगट होरहे हैं अर्थात् नव केवल लब्धियोंसे विभूषित हैं। अनंतलाभ शक्तिके प्रगट होनेसे प्रभुके परमौदारिक शरीरको पुष्ट करने वाली आहारक वर्गणाएँ स्वयं शरीर में मिलती रहती हैं जिससे साधारण मानवों की तरह उनको ग्रास लेकर भोजन करने की जरूरत नहीं पड़ती है।

(६) जिस प्रभु के आठ प्रतिहार्य शोभायमान हैं–(१) अति मनोहर रत्नमय सिंहासन पर अन्तरीक्ष विराजमान हैं, (२) करोड़ों चंद्रमा की ज्योतिको मंद करने वाला उनके शरीर की प्रभा का मण्डल उनके चारों तरफ प्रकाशमान हो रहा है, (३) तीन चंद्रमा के समान तीन छत्र ऊपर शोभित होते हुए प्रभु तीन लोक के स्वामी हैं, ऐसा झलका रहे हैं। (४) हंस के समान अति श्वेत चमरों को दोनों तरफ देवगण ढार रहे हैं, (५) देवों के द्वारा कल्पवृक्षों के मनोहर पुष्पों की वर्षा हो रही है, (६) परम रमणीक अशोक वृक्ष शोभायमान है उसके नीचे प्रभु का सिंहासन है, (७) दुंदुभि बाजों की परम मिष्ट व गंभीर ध्वनि हो रही है, (८) भगवान की दिव्य ध्वनि मेघ गर्जना के समान हो रही है जिसको सर्व ही देव, मनुष्य, पशु, अपनी-२ भाषा में समझ रहे हैं।

(७) भगवान निश्चय सम्यक्त, निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यक्चारित्ररूप होते हुए परम अद्वैत आत्मस्वभावमें तल्लीन हैं उसको इन नामोंसे स्मरण करें–(१) कामनाशक (२) अजन्मा, (३) अव्यक्त, (४) अतीन्द्रिय, (५) अगतबंद, (६) योगिगम्य, (७) महेश्वर, (८) ज्योतिर्मय, (९) अनाद्यनंत, (१०) सर्वरक्षक, (११) योगीश्वर, (१२) जगद्गुरु, (१३) अनन्त, (१४) अच्युत, (१५) शांत, (१६) तेजस्वी, (१७) सन्मति, (१८) सुगत, (१९) सिद्ध, (२०) जगतश्रेष्ठ, (२१) पितामह, (२२) महावीर, (२३) मुनिश्रेष्ठ, (२४) पवित्र, (२५) परमाक्षर, (२६) सर्वज्ञ, (२७) परमदाता, (२८) सर्वहितैषी, (२९) वर्धमान, (३०) निरामय, (३१) नित्य, (४२) अव्यय, (३३) परिपूर्ण, (३४) पुरातन, (३५) स्वयम्भू, (३६) हितोपदेशी, (३७) वीतराग, (३८) निरंजन, (३९) निर्मल, (४०) परम गम्भीर, (४१) परमेश्वर, (४२) परमतृप्त, (४३) परमामृतपानकर्त्ता, (४४) अव्याबाध, (४५) निष्कलंक, (४६) निजानन्दी, (४७) निराकुल, (४८) निस्पृह, (४९) देवाधिदेव, (५०) महाशंकर, (५१) परमब्रह्म, (५२) परमात्मा, (५३) पुरुषोत्तम, (५४) परम बुद्ध, (५५) अमर, (५६) अशरण शरण, (५७) गुणसमुद्र, (५८) शिवनारिसम्मोही, (५९) सकल तत्त्वज्ञानी, (६०) आत्मज्ञ, (६१) शुक्लध्यानी, (६२) परमसम्यग्दृष्टी, (६३) तीर्थङ्कर, (६४) अनुपम, (६५) अनन्तलोकावलोकन शक्तिधारी, (६६) परमपुरुषार्थी, (६७) कर्मपर्वतचूरकवज्र, (६८) विश्वज्ञाता, (६९) निरावरण, (७०) स्वरूपाशक्त, (७१) सकलागमउपदेशकर्ता, (७२) परमकृतकृत्य, (८३) परम संयमी, (७४) परमआप्त,

(७५) स्नातक निर्ग्रन्थ, (७६) सयोगिजिन, (७७) परम-निर्जरारूढ़, (७८) परमसंवरपति, (७९) आस्रवनिवारक, (८०) शुद्ध जैन, (८१) गणधरनायक, (८२) मुनिगणश्रेष्ठ, (८३) तत्त्ववेत्ता, (८४) आत्मरमी, (८५) मुक्तिनारिभर्ता, (८६) परम वैरागी, (८७) परमानन्दी, (८८) परमतपस्वी, (८९) परक्षमावान, (९०) परमसत्यधर्मारूढ़, (९१) परम-शुचि, (९२) परमत्यागी, (९३) अद्भुत ब्रह्मचारी, (९४) शुद्धोपयोगी, (९५) निरालम्ब, (९६) परमस्वतन्त्र, (९७) निर्वैर, (९८) निर्विकार, (९९) आत्मदर्शी, (१००) महाऋषि इत्यादि ।

इस तरह विचार करके उनके परमवीतराग स्वरूप में ही अपने मनको जोड़ देवे । बार बार देखकर उनमें प्रेमालु हो जावे । ऐसा विचारते-विचारते वह द्वैतभाव से अद्वैत में आजावे अर्थात् अपने आत्मा को ही सर्वज्ञ व अरहंत मानने लग जावे जैसा कहा है—

> एष देवः स सर्वज्ञः सोऽहं तद्रूपतां गतः ।
> तस्मात्स एव नान्योऽहं विश्वदर्शीति मन्यते ॥४३॥

भावार्थ—जिस समय सर्वज्ञ स्वरूप अपनेको देखता है उस समय ऐसा मानता है कि जो देव है वही मैं हूं, जो सर्वज्ञ है वही मैं हूं, जो आत्मस्वरूपमें लगा है वही मैं हूं, सर्वज्ञ देखने वाला जो कोई है वह मैं ही हूं, मैं और कोई नहीं हूं इस तरह मैं ही साक्षात् अरहन्त स्वरूप वीतराग परमात्मा हूं ऐसी भावना करके उसीमें स्थिर हो जावे । यह अरहंतके स्वरूपके द्वारा निज आत्मा का ध्यान है जिसको रूपस्थ ध्यान कहते हैं । पण्डित जयचंदजी कहते हैं—

सोरठा—सर्व चिन्तन तज जान, जो ध्यावो अरहंतकूं।
मन वश करि सत मान, ते पावैं तिस भावकूं ॥

(४) रूपातीत ध्यान

इस ध्यान में सिद्धोंके गुणोंको विचारता हुआ अपने आपको ही सिद्ध माने, पहले सिद्धके स्वरूपको विचारे कि वह अमूर्तीक चैतन्य, पुरुषाकार, परम कृतकृत्य परमशांत, निष्कल, परम शुद्ध, आठ कर्म रहित, परम वीतराग, चिदानन्दरूप सम्यक्त्वादि आठ गुण सहित, परम निर्लेप, परम संतोषी, स्वरूपमग्न, स्फटिकमणिमयी निर्मल निरंजन, निर्विकार व लोकाग्र विराजमान हैं। फिर विचारते-२ अपने आत्माको ही सिद्धरूप मानकर ध्यावे कि मैं ही परमात्मा हूँ, सर्वज्ञ हूं, सिद्ध हूं, कृतकृत्य हूं, विश्वलोकी हूं, निरंजन हूं, स्वभावस्थिर हूं, परमानन्दभोगी हूं, कर्मरहित हूं, परमवीतरागी हूं, परम शिव हूँ तथा परमब्रह्म हूं। इस तरह अपने स्वरूप में गुप्त हो जावें।

जहां एकदम सिद्ध परमात्माका ध्यान करते-२ द्वैत से अद्वैत में रम जावे, आपको ही सिद्ध सम शुद्ध भावे व उसी में तन्मय हो जावे सो रूपातीत ध्यान है। जैसा पंडित जयचंदजी ने कहा है—

दोहा—सिद्ध निरंजन कर्म बिन, मूरति रहित अनन्त।
जो ध्यावै परमात्मा, सो पावै शिव सन्त ॥

इस तरह जो ध्यानका अभ्यास करना चाहे उसको निश्चल आसनसे होकरके पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ या रूपातीत इनमें से चाहे जिस ध्यानको ध्यानेका अभ्यास करे। परन्तु एक ध्यान

जब अभ्याससे पूर्ण हो जावे तब दूसरे प्रकारके ध्यानका अभ्यास करे। ध्यानका प्रयोजन आत्मस्थ होना है। जिस तरह यह प्रयोजन सिद्ध हो उसी तरह ध्यानी को अभ्यास करना चाहिए। ध्यान ही से परमानन्द का लाभ होता है व कर्मों की निर्जरा होती है।

प्राणायाम की विधि

शरीरकी शुद्धि तथा मनको एकाग्र करने के लिए प्राणायाम का अभ्यास सहायक है। यद्यपि वह ऐसा जरूरी नहीं है कि इसके बिना आत्मध्यान न हो सके इसलिए जिसने किसी प्राणायामके ज्ञाता विद्वानसे प्राणायाम नहीं सीखा है वह भी ज्ञान व आत्म बलसे आत्मध्यान कर सकता है। उसका मन स्वयं ही ही बिना किसी आकुलता के रुक जाता है।

जैसा ज्ञानार्णव में कहा है—

संविग्नस्य प्रशांतस्य वीतरागस्य योगिनः।
वशीकृताक्षवर्गस्य प्राणायामो न शस्यते ॥८॥

भावार्थ—विरक्त, शांत, वीतरागी व जितेन्द्रिय योगी के लिए प्राणायाम की आवश्यकता नहीं है। कभी-कभी इससे कष्ट भी होता है। जैसा कहा है—

प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्यादार्तसंभवः।
तेन प्रच्याव्यते नूनं ज्ञाततत्त्वोपि लक्षितः ॥९॥

भावार्थ—प्राणायाम में प्राण या श्वासको रोकने से पीड़ा होती है, पीड़ासे आर्तध्यान होना सम्भव है इससे तत्वज्ञानी भी अपने शुद्ध भावोंके लक्ष्यसे छूट जाता है।

तथापि सहकारी कारण किसीके होसकता है ऐसा जानकर यहाँ कुछ वर्णन ज्ञानार्णवजी के अनुसार किया जाता है।

तीन प्रकार के प्राणयाम है। (१) पूरक (२) कुंभक, (३) रेचक।

(१) तालु के छेदसे या बारह अंगुल पर्यंत से पवनको खींच कर अपने शरीरमें भरना सो पूरक है।

(२) उस खींचे हुए पवन को नाभिके स्थानपर रोके, नाभि से अन्य जगह न चलने दे। जैसे घड़े को भरते हैं वैसे भरे सो कुम्भक है।

(३) उसी पवन को अपने कोठेसे धीरे-२ बाहर निकाले सो रेचक है।

अभ्यास करनेवालेको पवनको भीतर लेकर थामनेका फिर धीरे-२ बाहर तालु के द्वारा ही निकालने का अभ्यास करना चाहिए जो अधिक देर तक थाम सकेगा वह मनको अधिक रोक सकेगा। नाक से काम लेकर तालु से ही खींचना व तालु से ही बाहर निकालना चाहिए। इसका अभ्यास खुली हुई स्वच्छ हवामें करना उचित है, तब शरीरको बहुत लाभ होता है। जैसे नाभि के कमल में पवनको रोका जावे वैसा हृदयकमल के वहां भी रोका जा सकता है।

प्राणयाम में चार मंडल पहचानने चाहिए—(१) पृथ्वी-मंडल, (२) जलमंडल, (३) पवन मंडल, (४) अग्निमंडल।

(१) पीले रंगका चौकोर पृथ्वीमंडल है। जब नाक के छेद को पवनसे भरके आठअंगुल बाहर तक पवन मंद-मंद निकलता रहे तब पृथ्वीमंडलको पहचानना चाहिए। यह पवन कुछ ऊष्ण होती है।

(२) आधे चन्द्रमा के समान सफेद वर्ण जलमंडल है। इस मंडल में पवन शीघ्र नीचे को तरफ ठंडकको लिये हो १२ अंगुल बाहर तक बहता है।

(३) नीले रंग का गोल पवनमंडल है। इसमें पवन सब तरफ बहती हुई ६ अंगुल तक बाहर आवे। यह उष्ण व शीत दोनों तरह की होती है।

(४) अग्निके फुलिंग के रंग समान तीन कौन के आकार अग्निमंडल है। इसमें पवन ऊपर को जाता हुआ चार अंगुल तक बाहर आवे। यह उष्ण होती है।

नाक के स्वर दो हैं, बाईं तरफके श्वास को चंद्र व दाहिनी तरफ के श्वांसको सूर्य कहते हैं। एकमास के शुक्लपक्ष की पड़वा (प्रतिपदा), दूज व तीज इन तीन दिन प्रातःकाल वामस्वर या चंद्रस्वर चलना शुभ है फिर तीन दिन प्रातःकाल दाहिना फिर तीन दिन प्रातः काल बायां इस तरह १५ दिन तक बदलता रहता है।

कृष्णपक्षकी प्रतिपदा, दूज या तीजको प्रातःकाल दाहिना या सूर्य स्वर चलना शुभ है। फिर तीन तीन दिन प्रातः काल स्वर बदलता रहे। यदि इससे विरुद्ध स्वर चलें तो अशुभ जानने चाहिए। तो भी एक स्वर नाककी बाईं तरफका या दाहिनी तरफका बराबर २॥ घड़ी या एक घंटे तक चलता रहता है फिर वह दूसरे दाहिनी या बाईं तरफ का हो जाता है। किसी आचार्य ने २४ घंटे में १६ बार पवन का पलटना लिखा है।

ऊपर कहे हुए पृथ्वी आदि चार मंडलोंके पवनको पहचानने के लिए दूसरी रीति यह है कि अपने कानों को दोनों हाथ

अंगूठों से बन्द करे, तब ही आंखोंको अंगूठे के पासकी अंगुलियों से और नाकको मध्यमा अंगुलियोंसे व मुखको शेष दो अंगुलियों से बन्द कर मनके द्वारा देखे तो बिन्दु दिखलाई पड़ेंगे, वे यदि पीले दीखें तो पृथ्वीमण्डल समझना, यदि सफेद दीखें तो जल मण्डल समझना, यदि लाल दीखें तो अग्निमण्डल और जो काले दीखें तो पवनमण्डल समझना चाहिए। इन चार मण्डलों में से जब पृथ्वीमण्डल व जलमण्डल हो तब शुभकार्योंको अर्थात् ध्यान स्वाध्याय स्वरसे निकलते हों तो कार्यकी सिद्धि बताने वाले होते हैं। अग्नि व पवनमंडल दाहिनी तरफ से बहें तो अशुभ सूचक हैं अग्नि व वायुमंडल यदि बाईं तरफ से बहें अथवा पृथ्वी व जल मंडल यदि दाहने तरफसे बहें तो मध्यम फल के सूचक हैं।

बाएं स्वरको हितकर व दाहने स्वरको अहितकर बताया है। जैसे—

अमृतमिव सर्वगात्रं प्रीणयति शरीरिणां ध्रुवं वामा।
क्षपयति तदेव शश्वद्वहमाना दक्षिणा नाड़ी ॥४४॥
वामा सुधामयी ज्ञेयाहिता शश्वच्छरीरिणाम्।
संहर्त्री दक्षिणा नाड़ी समस्तानिष्टसूचिका ॥४३॥

भावार्थ—प्राणियोंके बांया स्वर चलताहुआ अमृतके समान सर्व शरीर को तृप्त करता है तथा दक्षिण स्वर चलता हुआ शरीरको क्षीण करनेवाला है, प्राणियों को बांया स्वर हितकारी है अमृतके समान है जब कि दाहिना स्वर अनिष्टका सूचक है। यदि किसी को स्वर बदलना हो तो जो स्वर चलता हो उधरके अंगको व स्वर को दाबे तो दूसरी तरफका स्वर चलने लगेगा।

स्वरों के द्वारा ह्रूं मंत्रके ध्यानकी विधि नीचे प्रकार है इससे स्वर शुद्ध होता है। पहले नाभिके कमलके मध्य में ह्रूंको चंद्रमा के समान चमकता हुआ विचारे। फिर उसीको विचारे कि दाहने स्वरसे बाहर निकाला और चमकता हुआ आकाश में ऊपर को चला गया फिर लौटा और बाएं स्वर से भीतर प्रवेश करके नाभिकमलमें ठहर गया। इस तरह बराबर अभ्यास करके ह्रूंको घुमाकर नाभि कमल में ठहरना चाहिए।

विशेष कथन श्री ज्ञानार्णवमें ग्रन्थ देखकर जानना चाहिए। पूरक, कुम्भक, रेचक का अभ्यास खुली हवा में करने से शरीर की शुद्धि व मनको रोकने का साधन मिलता है। इसका ही उपयोग समझकर किसी जानकार विद्वानकी मदद से प्राणयाम का अभ्यास करना चाहिए।

इस तरह ध्यान का कुछ स्वरूप मोक्षार्थी व आत्मानन्द के ध्यानसे जीवोंके हितार्थ लिखा गया है। इसे पढ़कर भव्यजीव अवश्य निरंतर ध्यान का अभ्यास करो। अभ्यास से अवश्य ध्यान की सिद्धि हो जाती है। यह तत्त्वभावना ग्रन्थ परम हित-कारी है जो मनन करेंगे परम लाभ पावेंगे। इति।

मिती आसोज बदी ५ गुरुवार वीर सं० २४५४ विक्रम सं० १९८५ ता० ४ अक्टूबर १९२८। ब्र० सीतल।

॥ ॐ ॥

श्री अमितगतिसूरिविरचित—

सामायिक पाठ

(हिन्दी छंदानुवाद सहित)

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ
सदा ममात्मा विदधातु देव ॥१॥

हे जिनेन्द्र ! सब जीवनसे हो मैत्री भाव हमारे ।
दुःख दर्द पीड़ित प्राणिन पर करूँ दया हर बारे ॥
गुणधारी सत्पुरुषन पर हो हर्षित मन अधिकारे ।
नहीं प्रेम नहिं द्वेष वहाँ विपरीत भाव जो धारे ॥१॥

शरीरतः कर्तुमनन्तशक्तिं
विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम् ।
जिनेन्द्र कोषादिव खड्गयष्टिं,
तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः ॥२५॥

हे जिनेन्द्र ! अब भिन्न करनको इस शरीर से आतम ।
जो अनन्त शक्तीधर सुखमय दोषरहित ज्ञानातम ॥
शक्ति प्रगट हो मेरेमें अब तब प्रसाद परमातम ।
जैसे खड्ग म्यानसे काढ़त अलग होत तिमि आतम ॥२॥

दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे
योगे वियोगे भवने वने वा ।

निराकृताशेषममत्वबुद्धेः
समं मनो मेऽस्तु सदापि नाथ ॥३॥

दुःख सुखोंमें, शत्रु मित्रमें, हो समान मन मेरा ।
वन मंदिरमें लाभ हानिमें हो समता का डेरा ॥
सर्व जगतके थावर जंगम चेतन जड़ उलझेरा ।
तिनमें ममत करूँ नहि कबहूँ छोडूँ मेरा तेरा ॥३॥

मुनीश ! लीनाविव कीलिताविव
स्थिरौ निखाताविव बिम्बिताविव ।
पादौ त्वदीयौ मम तिष्ठतां सदा
तमोधुनानौ हृदि दीपकाविव ॥४॥

हे मुनीश ! तव ज्ञानमयी चरणोंको हियमें ध्याऊँ ।
लीन रहें वे कीलित होवें, थिर उनको बिठलाऊँ ॥
छाया उनकी रहे सदा सब औगुण नष्ट कराऊँ ।
मोह अँधेरा दूर करनको रत्नदीप सम भाऊँ ॥४॥

एकेन्द्रियाद्या यदि देव देहिनः,
प्रमादतः संचरता इतस्ततः ।
क्षता विभिन्ना मिलिता निपीडिता,
तदस्तु मिथ्या दुरनुष्ठितं तदा ॥५॥

एकेन्द्री दोइन्द्री आदिक, पंचेन्द्री पर्यंता ।
प्राणिनको प्रमादवश होके इत उत मैं विचरंता ॥
नाना छिन्न दुःखित कीने हों भेले कर कर अन्ता ।
सो सब दुराचार कृत कल्मष दूर होहु भगवन्ता ॥५॥

विमुक्तिमार्गप्रतिकूलवर्तिना
मया कषायाक्षवशेन दुर्धिया ।
चारित्रशुद्धेर्यदकारि लोपनं
तदस्तु मिथ्या मम दुष्कृतं प्रभो ॥६॥

रत्नत्रय मय मोक्षमार्ग से उलटा चलकर मैंने ।
तज विवेक इन्द्रियवश होके अर कषाय आधीने ॥
सम्यक् व्रत चारित्र शुद्धि का किया लोप हो मैंने ।
सो सब दुष्कृत पाप दूर हो शुद्ध किया मन मैंने ॥६॥

विनिन्दनालोचनगर्हणैरहं,
मनोवचः कायकषायनिर्मितम् ।
निहन्मि पापं भवदुःखकारणं
भिषग्विषं मन्त्रगुणैरिवाखिलम् ॥७॥

मन वच काय कषायनके वश जो कुछ पाप किया है ।
है संसार दुःख का कारण ऐसा जान लिया है ॥
निन्दा गर्हा आलोचन से ताको दूर किया है ।
चतुर वैद्य जिम मंत्र गुणों से विष संहार किया है ॥७॥

अतिक्रमं यद्विमतेर्व्यतिक्रमं
जिनातिचारं सुचरित्रकर्मणः ।
व्यधादनाचारमपि प्रमादतः
प्रतिक्रमं तस्य करोमि शुद्धये ॥८॥

मतिभृष्ट हो हे जिन ! मैंने जो अतिक्रम करडाला ।
शुभाचार कर्मों में व्यतिक्रम अतीचार भी डाला ॥

हो प्रमाद आधीन कदाचित् अनाचार कर डाला ।
शुद्ध करणको इन दोषोंके प्रतिक्रम कर्म सम्हाला ॥८॥

क्षतिं मनःशुद्धिविधेरतिक्रमं
व्यतिक्रमं शीलवृतेर्विलंघनम् ।
प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं
वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम् ॥९॥

मन विशुद्धिमें हानि करे जो यह विकार अतिक्रम है ।
शील स्वभाव उलंघनकी मति सो जाना व्यतिक्रम है ॥
विषयों में वर्तन हो जाना अतीचार नहिं कम है ।
स्वच्छंदी बनकर प्रवृत्ति सब अनाचार इकदम है ॥९॥

यदर्थमात्रापदवाक्यहीनं
मया प्रमादाद्यदि किंचनोक्तम् ।
तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवी
सरस्वती केवलबोधलब्धिम् ॥१०॥

मात्रा पद अरु वाक्यहीन या अर्थहीन वचनोंको ।
कर प्रमाद बोला हो मैंने दोष सहित वचनोंको ॥
क्षम्य ! क्षम्य ! जिनवाणि सरस्वति ! शोधो मम वचनोंको ।
कृपा करो हे मात ! दीजिए पूर्ण ज्ञान रतनों को ॥१०॥

बोधिः समाधिः परिणामशुद्धिः,
स्वात्मोपलब्धिः शिवसौख्यसिद्धिः ।
चिन्तामणिं चिन्तितवस्तुदाने
त्वां वंद्यमानस्य ममास्तु देवि ॥११॥

बार बार वन्दूं जिन माता ! तू जीवन सुखदाई।
मन चिन्तित वस्तूको देवे चिन्तामणि सम भाई ॥
रत्नत्रय अर ज्ञान समाधी शुद्धभाव इकताई।
स्वात्मलाभ अर मोक्ष सुखोंकी सिद्धी दे जिनमाई ॥११॥

यः स्मर्यते सर्वमुनीन्द्रवृन्दै—
र्यः स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रैः।
यो गीयते वेदपुराणशास्त्रैः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१२॥

सर्व साधु यति ऋषि और अनगार जिन्हें सुमरे हैं।
चक्राधर अर इन्द्र देवगण जिनकी थुती करे हैं ॥
वेद पुराण शास्त्र पाठों में जिनका गान करे हैं।
परमदेव मम हृदय विराजो तुम में भाव भरे हैं ॥१२॥

यो दर्शनज्ञानसुखस्वभावः,
समस्तसंसारविकारबाह्यः।
समाधिगम्यः परमात्मसंज्ञः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१३॥

सबको देखन जानन वाला सुख स्वभाव सुखकारी।
सब विकारि भावों से बाहर जिनमें हैं संसारी ॥
ध्यान-द्वार अनुभव में आवे परमातम शुचिकारी।
परमदेव मम हृदय विराजो भाव तुझीमें भारी ॥१३॥

निषूदते यो भवदुःखजालं,
निरीक्षते यो जगदन्तरालं।

योऽन्तर्गतो योगिनिरीक्षणीयः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१४॥

सकल दुःख संसारजाल के जिसने दूर किये हैं।
लोकालोक पदारथ सारे युगपत् देख लिए हैं॥
जो मम भीतर राजत है मुनियों ने जान लिए हैं।
परमदेव मम हृदय-विराजो सम रस पान किये हैं॥१४॥

विमुक्तिमार्गप्रतिपादको यो,
यो जन्ममृत्युव्यसनाद्व्यतीतः।
त्रिलोकलोकी विकलोऽकलङ्कः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१५॥

मोक्ष मार्ग त्रयरत्नमयी जिसका प्रगटावनहारा।
जनम मरण आदि दुःखोंसे सब दोषोंसे न्यारा॥
नहिं शरीर नहिं कलङ्क कोई लोकालोक निहारा।
परमदेव मम हृदय विराजो तुम बिन नहिं निस्तारा॥१५

क्रोडीकृताशेषशरीरिवर्गाः,
रागादयो यस्य न सन्ति दोषाः।
निरिन्द्रियो ज्ञानमयोऽनपायः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१६॥

जिनको संसारी जीवोंने अपना कर माना है।
राग द्वेष मोहादिक जिसके दोष नहीं जाना है॥
इन्द्रिय रहित सदा अविनाशी ज्ञानमयी बाना है।
परमदेव मम हियमें तिष्ठो करता कल्याना है॥१६॥

यो व्यापको विश्वजनीनवृत्तेः
सिद्धो विबुद्धो धुतकर्मबन्धः।
ध्यातो धुनीते सकलं विकारं,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ।।१७।।

जिसका निर्मल ज्ञान जगत में है व्यापक सुखदाई।
सिद्ध बुद्ध सब कर्म बंध से रहित परम जिनराई ।।
जिसका ध्यान किये क्षण क्षण में सब विकार मिट जाई।
परमदेव मम हियमें तिष्ठो यही भावना भाई ।।१७।।

न स्पृश्यते कर्मकलङ्कदोषै—
र्यो ध्वान्तसंघैरिव तिग्मरश्मिः।
निरञ्जनं नित्यमनेकमेकं,
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ।।१८।।

कर्म मैलके दोष सकल नहिं जिसे पर्श पाते हैं।
जैसे सूरज की किरणों से तम समूह जाते हैं।।
नित्य निरंजन एक अनेकी इम मुनि गण ध्याते हैं।
उसी देव को अपना लखकर हम शरणा आते हैं ।।१८।

विभासते यत्र मरीचिमालि,
न विद्यमाने भुवनावभासि।
स्वात्मस्थितं बोधमयप्रकाशं
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ।।१९।।

जिसमें तापकरण सूरज नहिं ज्ञानमयी जगभासी।
बोध भानु सुख शांति सुकारक शोभ रहा सुविकासी ।।

अपने आतम में तिष्ठे है रहित सकल मल पासी।
उसी देवको अपना लखकर शरणा लो भवत्रासी ॥१९

विलोक्यमाने सति यत्र विश्वं,
विलोक्यते स्पष्टमिदं विविक्तम्।
शुद्धं शिवं शान्तमनाद्यनन्तं,
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥२०॥

जिसमें देखत ज्ञान दर्श से सकल जगत प्रतिभासे।
भिन्न भिन्न षटद्रव्यमयी गुण पर्ययमय समता से॥
शुद्ध शांत शिवरूप अनादी जिन अनंत फटिकासे।
उसी देवको अपना लखकर शरणा लो सुख भासे ॥२०॥

येन क्षता मन्मथमानमूर्च्छा,
विषादनिद्राभयशोकचिन्ता।
क्षयोऽनलेनेव तरुप्रपञ्च—
स्तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥२१॥

जिसने नाश किये मन्मथ अभिमान परिग्रह भारी।
मन विषाद निद्रा भय चिंता रती शोक दुःखकारी॥
जैसे वृक्ष समूह जलावत वन अग्नी भयकारी।
उसी देव को अपना लखकर शरणा लो सुखकारी ॥२१॥

न संस्तरोऽश्मा न तृणं न मेदिनी
विधानतो नो फलको विनिर्मितः
यतो निरस्ताक्षकषायविद्विषः
सुधीभिरात्मैव सुनिर्मलो मतः ॥२२॥

है व्यवहार विधान शिला पृथ्वी तृण का संथारा ।
निश्चयसे नहिं आसन हैं ये इनमें नहिं कुछ सारा ॥
इन्द्रिय विषय द्वेषसे विरहित आतम प्यारा ।
ज्ञानी जीवों ने गुण लखकर आसन उसे विचारा ॥२२

न संस्तरो भद्रसमाधिसाधनं,
न लोकपूजा न च संघमेलनम् ।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिशं,
विमुच्य सर्वामपि बाह्यवासनाम् ॥२३॥

नहिं संथारा कारण हैगा निज समाधि का भाई ।
नहिं लोगों से पूजा पाना संघ मेल सुखदाई ॥
रात दिवस निज आतम में तू लीन रहो गुणगाई ।
छोड़ सकल भव रूप वासना निज में कर इकताई ॥२३॥

न सन्ति बाह्या मम केचनार्था,
भवामि तेषां न कदाचनाहम् ।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं,
स्वस्थः सदा त्वं भव भद्र मुक्त्यै ॥२४॥

मम आतम बिन सकल पदारथ नहिं मेरे होते हैं ।
मैं भी उनका नहिं होता हूं नहिं वे सुख बोते हैं ॥
ऐसा निश्चल जान छोड़ के बाहर निज टोते हैं ।
उन सम हम नित स्वस्थ रहें लें मुक्ति कर्म खोते हैं ॥२४॥

आत्मानमात्मान्यवलोक्यमान-
स्त्वं दर्शनज्ञानमयो विशुद्धः ।

एकाग्रचित्तः खलु यत्र तत्र,
स्थितोपि साधुर्लभते समाधिम् ॥२५॥

निज आतममें आतम देखो है मन परम सुहाई।
दर्शन ज्ञानमयी अविनाशी परम शुद्ध सुखदाई ॥
चाहे जिस ठिकाने पर हो हो एकाग्र सुहाई।
जो साधू आपे में रहते सच समाधि उन पाई ॥२५॥

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा
विनिर्मलः साधिगमस्वभावः।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ता
न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः ॥२६॥

मेरा आतम एक सदा अविनाशी गुण सागर है।
निर्मल केवल ज्ञान मयी सुख पूरण अमृतधर है ॥
और सकल जो मुझसे बाहर देहादिक सब पर है।
नहीं नित्य निज कर्म उदयसे बना यह नाटक घर है ॥२६॥

यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्द्धं
तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः।
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः
कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ॥२७॥

जिसका कुछ भी ऐक्य नहीं है इस शरीर से भाई।
तब फिर उसके कैसे होंगे नारी बेटा भाई ॥
मित्र शत्रु नहिं कोई उसका नहिं संग साथी दाई।
तनसे चमड़ा दूर करे नहिं रोम छिद्र दिखपाई ॥२७॥

संयोगतो दुःखमनेकभेदं,
यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी।
ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो,
यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम् ॥२८॥

परके संयोगोंमें पड़ तनधारी बहु दुख पाया।
इस संसार महावन भीतर कष्ट भोग अकुलाया।
मन वच काया से निश्चयकर सबसे मोह छुड़ाया।
अपने आतमकी मुक्ती ने मन में चाव बढ़ाया ॥२८॥

सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं
संसारकान्तारनिपातहेतुम्।
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो
निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वे ॥२९॥

इस संसार महावन भीतर पटकन के जो कारण।
सर्व विकल्प जाल रागादिक छोड़ो शर्म निवारण॥
रे मन! मेरे देख आतमको भिन्न परम सुखकारण।
लीन होहु परमातम माहीं जो भव ताप निवारण ॥२९॥

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥३०॥

पूर्व कालमें कर्मबन्ध जैसा आतमनें कीना।
तैसा ही सुख दुख फल पावे होवे मरना जीना॥
परका दिया अगर सुख दुख पावे यह बात सही ना।
अपना किया निरर्थक होवे सो होवे कबहूं ना ॥३०॥

निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो,
न कोपि कस्यापि ददाति किंचन ।
विचारयन्नेवमनन्यमानसः
परो ददातीति विमुच्य शेमुषीम् ॥३१॥

अपने ही बांधे कर्मोंके फलको जिव पाते हैं।
कोई किसीको देता नाहीं ऋषिगण इम गाते हैं ॥
कर विचार ऐसा दृढ़ मनसे जो आतम ध्याते हैं।
पर देता सुख दुख यह बुद्धी नहिं चित में लाते हैं ॥३१॥

यः परमात्माऽमितगतिवन्द्यः
सर्वविविक्तो भृशमनवद्यः ।
शश्वदधीतो मनसि लभन्ते
मुक्तिनिकेतं विभववरं ते ॥३२॥

जो परमातम सर्व दोषसे रहित भिन्न सबसे है।
अमितगती आचारज वंदे मनमें ध्यान करे है ॥
जो कोई नित ध्यावे मनमें अनुभव सार करे है।
श्रेष्ठ मोक्षलक्ष्मी को पाता आनन्द ज्ञान भरे है ॥३२॥

इति द्वात्रिंशतिवृत्तैः, परमात्मानमीक्षते ।
योऽनन्यगतचेतस्को, यात्यसौ पदमव्ययम् ॥३३॥

इन बत्तीस पदसे भविजन परमातम ध्याते हैं।
मनको कर एकाग्र स्वात्ममें अव्यय पद पाते हैं ॥
सुखसागर वर्द्धनके कारण सत अनुभव लाते हैं।
"सीतल" सामायिकको पाकर भवदधि तर जाते हैं ॥३३॥

(समाप्तोऽयं सामायिक पाठः)

श्री अमितगति सूरि विरचित

सामायिक पाठ

परमात्म द्वात्रिंशतिका

(हिन्दी पद्यानुवाद—श्री रामचरित उपाध्याय)

चित देव, मेरी आत्मा धारण करे इस नेम को,
मैत्री करे सब प्राणियों से, गुणी जनों से प्रेम को।
उन पर दया करती रहे, जो दुख ग्राह-ग्रहीत हैं,
उनसे उदासी सी रहे जो धर्म से विपरीत हैं ॥१॥
करके कृपा कुछ शक्ति ऐसी दीजिए मुझ में प्रभो !
तलवार को ज्यों म्यान से करते विलग हैं हे विभो !!
गतदोष आत्मा शक्तिशाली है मिली मम अंग से,
उसको विलग उस भाँति करनेके लिए ऋजु ढंग से ॥२॥
हे नाथ ! मेरे चित्त में समता सदा भरपूर हो,
सम्पूर्ण ममता की कुमति मेरे हृदय से दूर हो।
वनमें, भवनमें, दुख में, सुख में नहीं कुछ भेद हो,
अरि-मित्रमें, मिलने-बिछुड़ने में न हर्ष न खेद हो ॥३॥
अतिशय घनी तम-राशिको दीपक हटाते हैं यथा,
दोनों कमल-पद आपके अज्ञान-तम हरते तथा।
प्रतिबिम्ब सम स्थिर रूप वे मेरे हृदय में लीन हों,
मुनिनाथ ! कीलित-तुल्य वे उरपर सदा आसीन हों ॥४॥

यदि एक-इन्द्रिय आदि देही घूमते फिरते मही,
जिनदेव ! मेरी भूल से पीड़ित हुए होवें कहीं।
टुकड़े हुए हों, मल गये हों, चोट खाये हों कभी,
तो नाथ ! वे दुष्टाचरण मेरे बनें झूठे सभी ॥५॥
सन्मुक्ति के सन्मार्ग से प्रतिकूल पथ मैंने लिया,
पञ्चेन्द्रियों चारों कषायों में स्वमन मैंने किया।
इस हेतु शुद्ध चरित्र का जो लोप मुझसे हो गया,
दुष्कर्म वह मिथ्यात्वको हो प्राप्त प्रभु ! करिए दया ॥६॥
चारों कषायों से, वचन, मन, काय से जो पाप है—
मुझसे हुआ, हे नाथ ! वह कारण हुआ भव ताप है।
अब मारता हूं मैं उसे आलोचना-निन्दादि से,
ज्यों सकल विष को वैद्यवर है मारता मन्त्रादि से ॥७॥
जिनदेव ! शुद्ध चारित्र का मुझसे अतिक्रम जो हुआ,
अज्ञान और प्रमाद से व्रत का व्यतिक्रम जो हुआ।
अतिचार और अनाचरण जो जो हुए मुझसे प्रभो !
सबकी मलिनता मेटने को प्रतिक्रम करता विभो ! ॥८॥
मन की विमलता नष्ट होने को अतिक्रम है कहा,
औ शीलचर्या के विलंघन को व्यतिक्रम है कहा।
हे नाथ ! विषयों में लपटने को कहा अतिचार है,
आसक्त अतिशय विषय में रहना महाऽनाचार है ॥९॥
यदि अर्थ, मात्रा वाक्यमें पदमें पड़ी त्रुटि हो कहीं,

तो भूलसे ही वह हुई, मैंने उसे जाना नहीं।
जिनदेव वाणी ! तो क्षमा उसको तुरत कर दीजिए,
मेरे हृदय में देवि ! केवलज्ञान को भर दीजिए ॥१०॥
हे देवि ! तेरी वन्दना मैं कर रहा हूं इसलिए,
चिन्तामणि-प्रभु है सभी वरदान देने के लिए।
परिणाम-शुद्धि समाधि मुझमें बोधिका संचार हो,
हो प्राप्ति स्वात्माकी तथा शिवसौख्यकी, भवपार हो।११
मुनिनायकों के वृन्द जिसको स्मरण करते हैं सदा,
जिसका सभी नर अमरपति भी स्तवन करते हैं सदा।
सच्छास्त्र वेद-पुराण जिसको सर्वदा हैं गा रहे,
वह देव का भी देव बस मेरे हृदय में आ रहे ॥१२॥
जो अन्तरहित सुबोध-दर्शन और सौख्य स्वरूप है,
जो सब विकारों से रहित, जिससे अलग भवकूप है।
मिलता बिना न समाधि जो, परमात्म जिसका नामहै,
देवेश वह उर आ बसे मेरा खुला हृद्धाम है ॥१३॥
जो काट देता है जगत के दुःख निर्मित जाल को,
जो देख लेता है जगत की भीतरी भी चाल को,
योगी जिसे हैं देख सकते, अन्तरात्मा जो स्वयम्,
देवेश ! वह मेरे हृदय-पुर का निवासी हो स्वयम् ॥१४॥
कैवल्य के सन्मार्ग को दिखला रहा है जो हमें,
जो जन्म के या मरण के पड़ता न दुख-सन्दोह में।

अशरीर हो सर्वोपदर्शी दूर है कुकलंक से,
देवेश वह आकर लगे मेरे हृदय के अङ्क से ॥१५॥
अपना लिया है निखिल तनुधारी-निवहने ही जिसे,
रागादि दोष-व्यूह भी छू तक नहीं सकता जिसे।
जो ज्ञानमय है, नित्य है, सर्वेन्द्रियों से हीन है,
जिनदेव देवेश्वर वही मेरे हृदय में लीन है ॥१६॥
संसार की सब वस्तुओं में ज्ञान जिसका व्याप्त है,
जो कर्म-बन्धन हीन, बुद्ध विशुद्ध सिद्धी प्राप्त है।
जो ध्यान करने से मिटा देता सकल कुविकार को,
देवेश वह शोभित करे मेरे हृदय-आगार को ॥१७॥
तम-संघ जैसे सूर्य-किरणों को न छू सकता कहीं,
उस भांति कर्म-कलंक दोषाकर जिसे छूता नहीं।
जो है निरंजन वस्त्वपेक्षा, नित्य भी है, एक है,
उस आप्त प्रभु की शरणमें हूं प्राप्त जोकि अनेक है ॥१८
यह दिवसनायक लोक का जिसमें कभी रहता नहीं,
त्रैलोक्य-भाषक-ज्ञान-रवि पर है वहां रहता सही।
जो देव स्वात्मा में सदा स्थिर-रूपता को प्राप्त है
मैं हूं उसी की शरण में, जो देववर है, आप्त है ॥१९॥
अवलोकने पर ज्ञान में जिसके सकल संसार ही—
है स्पष्ट दिखता, एक से है दूसरा मिलकर नहीं।
जो शुद्ध शिव है, शांत भी है, नित्यता को प्राप्त है

उसकी शरण को प्राप्त हूं, जो देववर है आप्त है ॥२०॥
वृक्षावली जैसे अनल की लपट से रहती नहीं,
त्यों शोक मन्मथ, मानको रहने दिया जिसने नहीं।
भय, मोह, नींद, विषाद, चिन्ता भी न जिसको व्याप्तहै
उसकी शरण में हूं गिरा, जो देववर है आप्त है ॥२१॥
विधिवत शुभासन घासका या भूमिका बनता नहीं,
चौकी, शिला को ही सुभासन मानती बुधता नहीं।
जिससे कषायें-इन्द्रियां खटपट मचाती हैं नहीं,
आसन सुधी जन के लिए है आतमा निर्मल वही ॥२२॥
हे भद्र ! आसन, लोक पूजा, संघकी संगति तथा,
ये सब समाधी के न साधन, वास्तविक में है प्रथा।
सम्पूर्ण बाहर-वासना को इसलिए तू छोड़ दे,
अध्यात्म में तू हर घड़ी होकर निरत रति जोड़ दे ॥२३
जो बाहरी हैं वस्तुएं, ये हैं नहीं मेरी कहीं,
उस भांति हो सकता कहीं उनका कभी मैं भी नहीं।
यों समझ बाह्याडम्बरों को छोड़ निश्चित रूप से,
हे भद्र ! हो जा स्वस्थ तू बच जायगा भवकूप से ॥२४॥
निज को निजात्मा-मध्य में ही सम्यगवलोकन करे,
तू दर्शन-प्रज्ञानमय है, शुद्ध से भी है परे।
एकाग्र जिसका चित्त है, तू सत्य इसको मानना,
चाहे कहीं भी हों, समाधी-प्राप्त उसको जानना ॥२५॥

मेरी अकेली आत्मा परिवर्तनों से हीन है,
अतिशय विनिर्मल है सदा सद्ज्ञान में ही लीन है।
जो अन्य सब हैं वस्तुएं वे ऊपरी ही हैं सभी,
निज कर्म से उत्पन्न हैं अविनाशिता क्यों हो कभी ॥२६॥
है एकता जब देह के भी साथ में जिसकी नहीं,
पुत्रादिकों के साथ उसका ऐक्य फिर क्यों हो कहीं।
जब अंग-भर से मनुज के चमड़ा अलग हो जाएगा,
तो रोंगटों का छिद्रगण कैसे नहीं खो जायगा ॥२७॥
संसाररूपी गहन में है जीव बहु दुख भोगता,
वह बाहरी सब वस्तुओं के साथ कर संयोगता।
यदि मुक्तिको है चाह तो फिर जीवगण! सुन लीजिए,
मनसे, वचनसे-कायसे उसको अलग कर दीजिए ॥२८॥
देही! विकल्पित जाल को तू दूर कर दे शीघ्र ही,
संसार-वन में डालने का मुख्य कारण है यही।
तू सर्वदा सबसे अलग निज आत्मा को देखना,
परमात्मा के तत्व में तू लीन निज को लेखना ॥२९॥
पहले समय में आत्मा ने कर्म हैं जैसे किए,
वैसे शुभाशुभ फल यहां पर इस समय उसने लिए।
यदि दूसरे के कर्मका फल जीव को हो जाय तो,
हे जीवगण! फिर सफलता निज कर्मकी खोजाय तो ॥३०॥
अपने उपार्जित कर्म-फलको जीव पाते हैं सभी,

उसके सिवा कोई किसी को कुछ नहीं देता कभी।
ऐसा समझना चाहिये एकाग्र मन होकर सदा,
'दाता अपर है भोगका' इस बुद्धिको खोकर सदा ॥३१॥
सबसे अलग परमात्मा है, अमितगति से वन्द्य है,
हे जीवगण! वह सर्वदा सब भाँति ही अनवद्य है।
मनसे उसी परमात्मा को ध्यान में जो लायेगा,
वह श्रेष्ठ लक्ष्मी के निकेतन मुक्ति पद को पायेगा ॥३२

पढ़कर इन द्वात्रिंश पद्य को,
लखता जो परमात्मवन्द्य को।
वह अनन्यमन हो जाता है,
मोक्ष-निकेतन को पाता है ॥३३॥

आलोचना पाठ

दोहा

वंदों पाँचो परम-गुरु, चौबीसों जिनराज।
करूं शुद्ध आलोचना, शुद्धि-करन के काज ॥१॥

सखी छन्द

सुनिये जिन अरज हमारी, हम दोष किये अति भारी।
तिनकी अब निवृत्ति काजा, तुम सरन लही जिनराज ॥२
इक वे ते चउ इंद्री वा, मन रहित सहित जे जीवा।
तिनकी नहिं करुणा धारी, निरदइ ह्वै घात विचारी॥३

समरंभ समारंभ आरंभ, मन वच तन कीने प्रारंभ ।
कृतकारित मोदन करिकें, क्रोधादि चतुष्टय धरिकें ॥४॥
शत आठ जु इमि भेदन तें, अघ कीने परिछेदन तें ।
तिनको कहुं कोलों कहानी, तुम जानत केवलज्ञानी ॥५॥
विपरीत एकांत विनय के के, संशय अज्ञान कुनय के ।
वश होय घोर अघ कीने, वचतें नहिं जाय कहीने ॥६॥
कुगुरुनकी सेवा कीनी, केवल अदया करि भीनी ।
या विधि मिथ्यात भ्रमायो, चहुंगति मधि दोष उपायो ॥७
हिंसा पुनि झूठ जु चोरी, पर वनिता सों दृग जोरी ।
आरंभ परिग्रह भीनो, पन पाप जु या विधि कीनो ॥८॥
सपरस रसना घ्रानन को, चखे कान विषय सेवनको ।
बहु करम किये मनमाने, कछु न्याय अन्याय नजाने ॥९॥
फल पंच उदंबर खाये, मधु मांस मद्य चित चाये ।
नहिं अष्ट मूलगुण धारे, सेये कुविसन दुखकारे ॥१०॥
दुइवीस अभख जिन गाये, सो भी निश-दिन भुंजाये ।
कछु भेदाभेद न पायो, ज्यों त्यों करिउदर भरायो ॥११
अनंतानु जु बंधी जानो, प्रत्याख्यान अप्रत्याख्यानो ।
संज्वलन चौकड़ी गुनिये, सब भेद जु षोडश मुनिये ॥१२
परिहास अरति रति शोग, भय ग्लानि तिवेद संयोग ।
पनबीस जु भेद भये इम, इनके वश पाप किये हम ॥१३
निद्रावश शयन कराई, सुपने मधि दोष लगाई ।

फिरआगि विषय वनधायो, नानाविध विषफलखायो।१४
आहार विहार नीहारा, इनमें नहिं जतन विचारा।
बिन देखी धरी उठाई, बिन शोधी वस्तु जु खाई ॥१५
तब ही परमाद सतायो, बहुविधि विकलप उपजायो।
कछु सुधि बुधि नांहि रही है, मिथ्यामति छायगई है ॥१६
मरजादा तुम ढिग लीनी, ताहू में दोष जु कीनी।
भिन्न-२ अब कैसे कहिए, तुम ज्ञान विषैं सब पइये ॥१७
हा हा! मैं दुठ अपराधी, त्रस-जीवन-राशि विराधी।
थावरकीजतन न कीनी, उर में करुणा नहिं लीनी ॥१८
पृथिवी बहु खोद कराई, महलादिक जागां चिनाई।
पुनि बिन गाल्यो जलढोल्यो, पंखातैंपवन बिलोल्यो ॥१९
हा हा! मैं अदयाचारी, बहु हरितकाय जु विदारी।
तामधि जीवन के खंदा, हम खाये धरि आनंदा ॥२०॥
हा हा! परमाद बसाई, बिन देखे अगनि जलाई।
तामध्य जीव जे आये, ते हू परलोक सिधाये ॥२१॥
बींध्यो अन राति पिसायो, ईंधन बिन सोधि जलायो।
झाडू ले जागां बुहारी, चींटीआदिक जीव बिदारी ॥२२
जल छानि जिवानी कीनी, सो हू पुनि डारि जु दीनी।
नहिं जल-थानक पहुंचाई, किरिया बिन पाप उपाई ॥२३
जल मल मोरिन गिरवायो, कृमि-कुल बहुघात करायो।
नदियन बिच चीर धुवाये, कोसन के जीव मराये ॥२४

अन्नादिक शोध कराई, तातैं जु जीव निसराई।
तिनका नहिं जतन कराया, गरियालैं धूप डराया ॥२५
पुनि द्रव्य कमावन काजैं, बहु आरंभ हिंसा साजैं।
किये तिसनावश अघभारी, करुणा नहिं रंच विचारी ।२६
इत्यादिक पाप अनंता, हम कीने श्री भगवंता।
संतति चिरकाल उपाई, वाणी तैं कहिय न जाई ॥२७
ताको जु उदय अब आयो, नाना विध मोहिं सतायो।
फल भुंजत जिय दुख पावै, वचतैं कैसैं करि गावै ॥२८
तुम जानत केवल ज्ञानी, दुख दूर करो शिवथानी।
हम तो तुमशरण लही है, जिन तारन बिरदसही है ।२९
इक गांवपती जो होवे, सो भी दुखिया दुख खोवै।
तुम तीन भुवन के स्वामी, दुख मेटहु अंतरजामी ॥३०
द्रोपदि को चीर बढ़ायो, सीता-प्रति कमल रचायो।
अंजन से किये अकामी दुख मेटो अंतरजामी ॥३१॥
मेरे अवगुन न चितारो, प्रभु अपना बिरद सम्हारो।
सब दोष-रहित कर स्वामी, दुख मेटहु अन्तरजामी ॥३२
इंद्रादिक पदवी नहिं चाहूं, विषयनि में नाहिं लुभाऊं।
रागादिक दोष हरीजे, परमातम निज पद दीजे ॥३३॥
दोहा—दोष-रहित जिनदेवजी, निज-पद दीज्यो मोय।
सब जीवन के सुख बढ़ें आनंद मंगल होय॥

अनुभव माणिक पारखी, जौहरि आप जिनन्द।
येही वर मोहि दीजिए, चरण शरण आनन्द॥ ❀

सामायिक पाठ भाषा

१. प्रतिक्रमण कर्म[1]

काल अनंत भ्रम्यो जग में सहिये दुख भारी।
जन्म मरण नित किये पाप को ह्वै अधिकारी॥
कोटि भवांतर माहि मिलन दुर्लभ सामायिक[2]।
धन्य आज मैं भयो योग मिलियो सुख दायक॥१॥
हे सर्वज्ञ जिनेश! किये जे पाप जु मैं अब।
ते सब मन-वच-काय-योग की गुप्ति बिना लभ॥
आप समीप हजूर माहि मैं खड़ो खड़ो सब।
दोष कहूं सो सुनो करो नठ दुःख देहि अब॥२॥
क्रोधमानमदलोभ मोह मायावशि प्रानी।
दुःख सहित जे किये दया तिनकी नहि आनी॥
बिना प्रयोजन एकेंद्रिय बि ति चउ पंचेंद्रिय।
आप प्रसादहि मिटै दोष जो लग्यो मोहि जिय॥३॥
आपस में इकठौर थापिकरि जे दुख दीने।
पेलि दिये पगतलें दाबिकरि प्रान हरीने॥
आप जगत के जीव जिते तिन सब के नायक।
अरज करू मैं सुनो दोष मेटो दुखदायक॥४॥

---

१. पहले लगे हुए दोषों से निवृत्त होना—पीछे हटना।
२. रागद्वेष रहित होकर समभाव रूप आत्मस्वभाव में रहना।

अंजन आदिक चोर महा घनघोर पापमय।
तिनके जे अपराध भये ते क्षमा क्षमा किय॥
मेरे जे अब दोष भये ते क्षमहु दयानिधि।
यह पड़िकोणो कियो आदि षट्कर्म माहिं विधि॥५॥

२. द्वितीय प्रत्याख्यान कर्म

इसके आदि व अन्त में आलोचना पाठ बोलकर फिर तीसरे सामायिक कर्म का पाठ चाहिए।

जो प्रमादवशि होय विराधे जीव घनेरे।
तिन को जो अपराध भयो मेरे अघ ढेरे॥
सो सब झूठो होउ जगतपति के परसादे।
जा प्रसादतैं मिलै सुख दुःख न लाधै॥६॥
मैं पापी निर्लज्ज दया करि हीन महाशठ।
किए पाप अघ ढेर पापमति होय चित्त दुठ॥
निंदूं हूं मैं बार बार निज जिय को गरहूं।
सबविधि धर्म उपाय पाय फिर पापहि करहूं॥७॥
दुर्लभ है नर जन्म तथा श्रावक कुल भारी।
सत संगति संयोग धर्म जिन श्रद्धाधारी॥
जिन वचनामृत धार समावर्तें जिन वानी।
तोहू जीव संघारे धिक धिक धिक हम जानी॥८॥
इन्द्रिय लंपट होय खोय निज ज्ञान जमा सब।
अज्ञानी जिमि करै तिसि विधि हिंसक ह्वै अब॥
गमनागमन करंतो जीव विराधे भोले।

ते सब दोष किये निंदूं अब मन वच तोले ॥९॥
आलोचन विधि थकी दोष लागे जु घनेरे।
ते सब दोष विनाश होउ तुम तें जिन मेरे ॥
बार बार इस भांति मोह मद दोष कुटिलता।
ईर्षादिक तें भये निंदि ये जे भयभीता ॥१०॥

३. तृतीय सामायिक भाव कर्म

सब जीवन में मेरे समता भाव जग्यो है।
सब जिय मो सम समता राखो भाव लग्यो है ॥
आर्त्त रौद्र द्वय ध्यान छांड़ि करिहूं सामायिक।
संजम मो कब शुद्ध होय यह भाव बधायक ॥११॥
पृथ्वी जल अरु अग्नि वायु चउ काय वनस्पति।
पंचहि थावर माहिं तथा त्रस जीव बसैं जित ॥
बेइन्द्रिय तिय चउ पंचेंद्रियमांहि जीव सब।
तिन तें क्षमा कराऊं मुझ पर क्षमा करो अब।
इस अवसर में मेरे सब सम कंचन अरु तृण ॥१२॥
महल मसान समान शत्रु अरु मित्रहि समगण ॥
जामन मरण समान जानि हम समता कीनी।
सामायिक का काल जितै यह भाव नवीनी ॥१३॥
मेरो है इक आतम तामें ममत जु कीनो।
और सबै मम भिन्न जानि समता रसभीनो ॥
मात पिता सुत बंधु मित्र तिय आदि सबै यह।
मोतें न्यारे जानि जथारथ रूप करयो गह ॥१४॥

मैं अनादि जग जाल माँहि फँसि रूप न जाण्यो।
एकेंद्रिय दे आदि जंतु को प्राण हराण्यो॥
ते सब जीव समूह सुनो मेरी यह अरजी।
भव-भव कोअपराध छिमा कीज्योकर मरजी॥१५

४. चतुर्थ स्तवन कर्म

नमौं ऋषभ जिनदेव अजित जिन जीति कर्म को।
सम्भव भव दुख हरण करण अभिनन्द शर्म को॥
सुमति सुमति दातार तार भव सिंधु पार कर।
पद्म प्रभ पद्माभ भानि भवभीति प्रीति धर॥१६॥
श्रीसुपार्श्व कृत पाश नाश भव जास शुद्ध कर।
श्री चन्द्र प्रभ चन्द्रकान्तिसम देह कांतिधर॥
पुष्पदन्त दमि दोष कोष भविपोष रोषहर।
शीतल शीतल करण हरण भवताप दोष कर॥१७॥
श्रेयरूप जिनश्रेय ध्येय नित सेय भव्य जन।
वासुपूज्य शत पूज्य वासवादिक भव भय हन॥
विमल विमलमति देन अन्तगत है अनन्त जिन।
धर्मशर्मशिवकरण शान्ति जिन शान्ति विधायिन॥१८
कुंथु कुंथुमुख जीवपाल अरनाथ जाल हर।
मल्लिमल्लसम मोहमल्लमारन प्रचारधर।
मुनिसुव्रत व्रतकरण नमत सुरसंघहि नमिजिन।
नेमिनाथ जिन नेमि धर्मरथ माँहि ज्ञानधन॥१६॥
पार्श्वनाथ जिनपार्श्व उपलसम मोक्ष रमापति।
वर्द्धमान जिन नमूं वमूं भवदुःख कर्मकृत॥

या विधि मैं जिन संघरूप चउबीस संख्यधर।
स्तवूं नमूं हूं बारबार बन्दूं शिव सुखकर ॥२०॥

५. पंचम बंदना कर्म

बन्दूं मैं जिनवीर धीर महावीर सु सनमति।
वर्द्धमान अतिवीर बन्दि हूं मनवचतनकृत ॥
त्रिशलातनुज महेश धीश विद्यापति बन्दूं।
बंदो नित प्रति कनक रूप तनु पापनिकंदूं ॥२१॥
सिद्धारथ नृपनंद द्वंद दुख दोष मिटावन।
दुरित दवानल ज्वलित ज्वाल जगजीव उधारन ॥
कुण्डलपुर करि जन्म जगत जिय आनन्द कारन।
वर्ष बहत्तर आयु पाय सब ही दुख टारन ॥२२॥
सप्तहस्त तनु तुङ्गभंगकृत जन्ममरण भय।
बाल ब्रह्म मय ज्ञेय हेय आदेय ज्ञानमय।
दे उपदेश उधारि तारि भवसिंधु जीवजन।
आप बसे शिवमांहि ताहि बंदौं मन वच तन ॥२३॥
जाके वंदन थकी दोष दुख दूरहि जावें।
जाके वंदन थकी मुक्तितिय सन्मुख आवें।
जाके वंदन थकी वंद्य होवें सुरगन के।
ऐसे वीर जिनेश बन्दि हूं क्रम युग तिनके ॥२४॥
सामायिक षट्कर्ममांहि वंदन यह पंचम।
वंदों वीर जिनेंद्र इंद्रशतवंद्य वंद्य मम ॥
जन्म मरण भय हरो करो अघ शांति शान्तिमय।
मैं अघ कोष सुपोष दोष को दोष विनाशय ॥२५॥

६. छठा कायोत्सर्ग कर्म

कायोत्सर्ग विधान करूं अन्तिम सुखदाई।
कायत्यजनमय होय काय सबको दुखदाई॥
पूरब दक्षिण नमूं दिशा पश्चिम उत्तर मैं।
जिनगृह वंदन करूं हरूं भवपापतिमिर मैं ॥२६॥
शिरोनति मैं करूं नमूं मस्तक पर धरिकैं।
आवर्तादिक क्रिया करूं मन वच मद हरिकैं॥
तीनलोक जिन भवनमांहि जिन हैं जु अकृत्रिम।
कृत्रिम हैं द्वय अर्द्धद्वीप माहीं वंदौं जिम ॥२७॥
आठ कोड़ि परि छप्पन लाख जु सहस सत्याणूं।
च्यारि शतक-पर असी एक जिनमंदिर जाणूं॥
व्यंतर ज्योतिष मांहि संख्य रहिते जिन मंदिर।
ते सब वंदन करूं हरहु मम मम पाप संघकर ॥२८॥
सामायिकसम नाहिं और कोउ वैर मिटायक।
सामायिकसम नाहिं और कोउ मैत्री दायक॥
श्रावक अणुव्रत आदि अन्त सप्तम गुणथानक।
यह आवश्यक किये होय निश्चय दुखहानक ॥२९॥
जे भवि आतम-काज-करण उद्यम के धारी।
ते सब काज विहाय करो सामायिक सारी॥
राग रोष मदमोह क्रोध लोभादिक जे सब।
बुध 'महाचन्द्र' विलाय जाय तातैं कीज्यो अब ॥३०॥

卐卐

सामायिक पाठ

(अमितगति आचार्य कृत)

(अनुवादक—श्री युगल जी)

प्रेम भाव हो सब जीवों से, गुणी जनों में हर्ष प्रभो।
करुणा स्रोत बहे दुखियों पर, दुर्जन में मध्यस्थ विभो ॥१॥

यह अनन्त बल-शील आत्मा हो, शरीर से भिन्न प्रभो।
ज्यों होती तलवार म्यान से वह अनन्त बल दो मुझको ॥२॥

सुख-दुःख बैरी बन्धु वर्ग में, कांच कनक में समता हो।
वन उपवन, प्रासादकुटी में नहीं खेद नहिं ममता हो ॥३॥

जिस सुन्दर-तम पथ पर चलकर जीते मोहमान मन्मथ।
वह सुन्दर पथ ही प्रभु ! मेरा, बना रहे अनुशीलन पथ ॥४॥

एकेन्द्रिय आदिक प्राणी की, यदि मैंने हिंसा की हो।
शुद्ध हृदय से कहता हूं वह, निष्फल हो दुष्कृत्य प्रभो ॥५॥

मोक्ष मार्ग प्रतिकूल प्रवर्त्तन, जो कुछ किया कषायों से।
विपथ-गमन सब कालुष मेरे, मिट जावें सद्भावों से ॥६॥

चतुर वैद्य विष विक्षत करता, त्यों प्रभु ! मैं भी आदि उपांत।
अपनी निन्दा आलोचन से, करता हूं पापों को शांत ॥७॥

सत्य अहिंसादिक व्रत में भी, मैंने हृदय मलीन किया।
व्रत-विपरीत-प्रवर्तन करके, शीलाचरण विलीन किया ॥८॥

कभी वासना की सरिता का, गहन सलिल मुझ पर छाया।
पी पीकर विषयों की मदिरा, मुझमें पागलपन आया ॥९॥

मैंने छली और मायावी, हो असत्य-आचरण किया।
पर निन्दागाली, चुगली जो, मुंह पर आया वमन किया ॥१०॥
निरभिमान उज्ज्वल मानस हो, सदा सत्य का ध्यान रहे।
निर्मल-जल की सरिता सदृश, हिय में निर्मल ज्ञान बहे ॥११॥
मुनि, चक्री शक्री के हिय में, जिस अनन्त का ध्यान रहे।
गाते वेद पुराण जिसे वह परम देव मम हृदय रहे ॥१२॥
दर्शन-ज्ञान स्वभावी जिसने, सब विकार हों वमन किये।
परम ध्यान गोचर परमातम, परमदेव मम हृदय रहे ॥१३॥
जो भव दुख का विध्वंसक है, विश्व-विलोकी जिसका ज्ञान।
योगी-जन के ध्यान गम्य वह बसे हृदय में देव महान ॥१४॥
मुक्ति-मार्ग का दिग्दर्शक है, जन्म मरण से परम अतीत।
निष्कलंक त्रैलोक्य-दर्शि, वे देव रहें मम हृदय समीप ॥१५॥
निखिल विश्व के वशीकरण वे, राग रहे ना द्वेष रहे।
शुद्ध अतीन्द्रिय ज्ञान स्वरूपी, परम देव मम हृदय रहे ॥१६॥
देख रहा जो निखिल विश्व को, कर्म कलंक विहीन विचित्र।
स्वच्छ विनिर्मल निर्विकार वह, देव करे मम हृदय पवित्र ॥१७॥
कर्म-कलंक अछूत न जिसको, कभी छू सके दिव्य प्रकाश।
मोह तिमिर को भेद चला जो, परमशरण मुझको वह आप्त ।१८
जिसकी दिव्य ज्योति के आगे, फीका पड़ता सूर्य प्रकाश।
स्वयं ज्ञान मय स्वपर प्रकाशी, परमशरण मुझको वह आप्त ।१९
जिसके ज्ञान रूप दर्पण में, स्पष्ट झलकते सभी पदार्थ।
आदिअन्त से रहित, शांत, शिव, परमशरण मुझको वह आप्त ।२०
जैसे अग्नि जलाती तरु को, तैसे नष्ट हुए स्वयंमेव।
भय-विषाद चिन्ता सब जिसके, परमशरण मुझको वह देव ।२१

तृण, चौकी, शिल शैलशिखरनहिं, आत्म समाधी के आसन।
संस्तर, पूजा संघ सम्मिलन, नहीं समाधि के साधन ॥२२॥
इष्ट वियोग अनिष्ट-योग में, विश्व मनाता है मातम।
हेय सभी है विश्व वासना, उपादेय निर्मल आतम ॥२३॥
बाह्य जगत कुछ भी नहिं मेरा और न बाह्य जगत का मैं।
यह निश्चय कर छोड़ बाह्य को, मुक्ति हेतु नितस्वस्थ रमें ॥२४
अपनी निधि तो अपने में है, बाह्य वस्तु में व्यर्थ प्रयास।
जग का सुख तो मृग तृष्णा है, झूठे हैं उसके पुरुषार्थ ॥२५॥
अक्षय है शाश्वत है आत्मा, निर्मल ज्ञान स्वभावी है।
जो कुछ बाहर है सब पर है, कर्माधीन विनाशी है ॥२६॥
तन से जिसका ऐक्य नहीं हो, सुत, तिय, मित्रों से कैसे ?
चर्म दूर होने पर तन से, रोम-समूह रहे कैसे ? ॥२७॥
महा कष्ट पाता जो करता, पर पदार्थ जड़-देह संयोग।
मोक्ष महल का पथ है सीधा, जड़ चेतन का पूर्ण वियोग ॥२८॥
जो संसार पतन के कारण, उन विकल्प जालों को छोड़।
निर्विकल्प निर्द्वन्द्व आतमा, फिर फिर लीन उसी में हो ॥२९॥
स्वयं किये जो कर्म शुभाशुभ, फल निश्चय ही वे देते।
करे आप फल देय अन्य तो, स्वयं किये निष्फल होते ॥३०॥
अपने कर्म सिवाय जीव को, कोई न फल देता कुछ भी।
'पर देता है' यह विचार तज, स्थिर हो छोड़ प्रमादी बुद्धि ॥३१
निर्मल, सत्य, शिवं, सुन्दर है, 'अमित गति' वह देव महान।
शाश्वत निज में अनुभव करते, पाते निर्मल पद निर्वाण ॥३२॥

आत्म सम्बोधन

समझ उर धर कहत गुरुवर, आत्मचिंतन की घड़ी है।
भव उदधि तन अथिर नौका, बीच मंझधारा पड़ी है ॥टेक॥
आत्म से है पृथक तन-धन, सोचरे मन कर रहा क्या?
लखि अवस्था कर्मजड़ की, बोल उनसे डर रहा क्या?
ज्ञान-दर्शन चेतना सम, और जग में कौन है रे?
दे सके दुख जो मुझे वह, शक्ति ऐसी कौन है रे?
कर्म सुख-दुख दे रहे हैं, मान्यता ऐसी करी है।
चेत-चेतन प्राप्त अवसर, आत्मचिन्तन की घड़ी है ॥१॥
जिस समय हो आत्मदृष्टि, कर्म थर-थर कांपते हैं।
भाव की एकाग्रता लखि, छोड़ खुद ही भागते हैं॥
ले समझ में काम या फिर, चतुर्गति ही में विचर ले।
मोक्ष अरु संसार क्या है, फैसला खुद हो समझ ले॥
दूर कर दुविधा हृदय से, फिर कहाँ धोखा धड़ी है।
समझ उर धर कहत गुरुवर, आत्मचिन्तन की घड़ी है ॥२॥
कुन्दकुन्दाचार्य गुरुवर, यह सदा ही कहि रहे हैं।
समझना खुद ही पड़ेगा, भाव तेरे बहि रहे हैं॥
शुभ क्रिया को धर्म माना, भव इसी से धर रहा है।
है न पर से भाव तेरा, भाव खुद ही कर रहा है॥
है निमित्त पर दृष्टि तेरी, बान ही ऐसी पड़ी है।
चेत-चतन प्राप्त अवसर, आत्म चिन्तन की घड़ी है ॥३॥
भाव की एकाग्रता रुचि, लीनता पुरुषार्थ कर ले।
मुक्ति बन्धन रूप क्या है, बस इसी का अर्थ कर ले॥
भिन्न हूं पर से सदा मैं, इस मान्यता में लीन हो जा।
द्रव्य-गुण-पर्याय ध्रुवता, आत्म सुख चिर नींद सो जा।
आत्म गुण धर लाल अनुपम, शुद्ध रत्नत्रय जड़ी है।
समझ उर धर कहत गुरुवर, आत्मचिन्तन की घड़ी है ॥४॥

बड़ा अचंभा लगता जो तू......

बड़ा अचम्भा लगता जो तू अपने से अनजान है।
पर्यायों के पार देख ले आप स्वयं भगवान है ॥टेक॥

मन्दिर तीरथ जिनेन्द्र जिनागम उसकी खोज बताते हैं।
जप तप संयमशील साधना में उसको ही तो ध्याते हैं।
अब तक उसका पता न पाया दुनिया में भरमाते हैं।
चारों गतियों के दुख पाकर फिर निगोद में जाते हैं।
पर्यायों को अपना माना यह तेरा अज्ञान है ॥1

तू अनन्त गुण का धारी है अजर अमर सत अविनाशी।
शुद्ध बुद्ध तू नित्य निरंजन मुक्ति सदन का है वासी।
तुझमें सुख साम्राज्य भरा क्यों मौन रहे जलमें प्यासी।
अपने को पहचान न पाया ये है भूल तेरी खासी।
तू अचिन्त्य शक्ति का धारी तू मथ की खान है ॥२

तीनों कर्म नहीं तेरे में यह तो जड़ की माया है।
तू चेतन है ज्ञानस्वरूपी क्यों इनमें भरमाया है।
सुख की सरिता है स्वभावमें जिनवर ने बतलाया है।
जिसने अन्तर में खोजा है उसने प्रभु को पाया है।
जिनवाणी माँ जगा रही है क्यों स्वयं बना नादान है ॥३

नव तत्वों में रहकर जिसने अपना रूप नहीं छोड़ा।
आतम एक रूप रहता है नहीं अधिक ना ही थोड़ा।
ये पर्यायें क्षणभंगुर हैं इनका तेरा क्या जोड़ा।
शुद्ध बुद्ध बन जाता जिसने पर्यायों से मुख मोड़ा।
द्रव्यदृष्टि अपना कर प्राणी बन जाता भगवान है ॥४

प्रशस्ति

दोहा—अवध लखनऊ नग्रमें, अग्रवाल शुभ वंश।
मंगलसेन सु शास्त्रवित् धर्मी निर्मल हंस ॥१॥
तिन सुत मक्खनलालजी, तीजा सुत हूं जास।
सीतल बत्तिस वय थकी, करत त्याग अभ्यास ॥२॥
उन्निस पैंतीस विक्रमा, जन्म कार्तिक मास।
उन्निस पञ्चासी विषैं, रुहतक बस चौमास ॥३॥
मन्दिर तीन दिगम्बरी, बालक शाला एक।
कन्याशाला भी लसै, धर्मशाल पुनि एक ॥४॥
औषधिशाला दो लसैं, एक संघ समुदाय।
जोरावरसिंह से चले, द्वितीय स्थान सुखदाय ॥५॥
अग्रवाल जैनी बसैं दो शत घर समुदाय।
निज-२ मति अनुसार सब, सेवत धर्म स्वभाय ॥६॥
कपूरचन्द्र अरु दीपचन्द्र, तथा जयन्तिप्रसाद।
नानकचन्द सु लालचन्द, श्यामलाल दुखवाद ॥७॥
रतनलाल उग्रसेनजी, और जिनेश्वर दास।
आदि वकील प्रवीण हैं, सिंह दीवान उदास ॥८॥
मास्टर हैं शिवराम बुध, रामलाल विद्वान।
इत्यादि साधर्मिमें, किया सु निज कल्याण ॥९॥
अमितिगती आचार्यकृत, तत्त्वभावना ग्रन्थ।
संस्कृत से भाषा लिखी, चलै ध्यान का पंथ ॥१०॥
नरनारी चित्त से पढ़ो, समझो अर्थ विचार।
मनन करो आतम लखो, पावो ज्ञान उदार ॥११॥
श्री जिनेन्द्र के ध्यान से, होवे आतम ज्ञान।
आतम सुख नितप्रति रहे, होवे सब कल्याण ॥१२॥
मंगल श्री अरहंत हैं, मंगल सिद्ध महान।
मंगल श्री जिनधर्म है, "सीतल" को सुखदान ॥१३॥

ब्र० सीतल। ता० ४-१०-२८।